जपसूत्रम्
स्वामी श्रीप्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

सम्मति

संस्कृत और बंगभाषा में लिखित स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती के जपसूत्र के ६ खण्ड अनेक दिन पूर्व प्रकाशित हुए हैं। आनन्द का विषय है कि सम्प्रति हिन्दी भाषा-प्रेमिक अध्यात्म-ज्ञान-पिपासु पाठकगण के निकट इस अपूर्व ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। अनुवादिका हैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अन्यतम अध्यापिका डॉ० प्रेमलता शर्मा। जप-साधना अध्यात्म-मार्ग की सरल और श्रेष्ठ साधना होने पर भी उसका रहस्य गम्भीर होने से, शास्त्रीय सिद्धान्तज्ञान पूर्ण भाव से आयत्त रहने पर भी, व्यक्तिगत अपरोक्ष अनुभव के विना हृदयङ्गम नहीं होता। उसके बाद हृदयङ्गम होने पर भी वर्तमान जगत् में लोक-शिक्षा के लिए वह तब तक प्रकाशार्थ उपयोगी नहीं होता, जब तक विज्ञान-विद् की मार्जित भाषा व परिभाषा से संवलित न हो। स्वामीजी स्वनामधन्य पुरुष हैं। वे शास्त्रज्ञान-सम्पन्न, तपोबलविशिष्ट और पाश्चात्य विज्ञान के रहस्यविद् हैं—अथच लिपि-कुशल हैं। विदुषी अनुवादिका ने मूल ग्रन्थ के तात्पर्य और गुरुत्व की ओर लक्ष्य रख कर सावधानता के साथ अनुवाद-कार्य सम्पन्न किया है। यह अनुवाद-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि का साधन करते हुए ज्ञानलिप्सु पाठकगण का परम कल्याण-विधान करेगा। आशा है, परवर्ती खण्डों का अनुवाद भी इसी प्रकार क्रमशः प्रकाशित होगा।

१६–८–६६

श्री गोपीनाथ कविराज

१५–००

जपसूत्रम्

प्रथमखण्डः

(तान्त्रिक अध्यात्मविज्ञान के श्रेष्ठ अङ्ग ज्ञान और योगरहस्य की व्याख्या-सहित जपविद्या का अनुपम समीक्षण, अनादिपरम्परागत आगमज्ञान और प्रातिभ-स्वरूप साक्षात् अनुभवात्मक विवेकज ज्ञान के परस्पर समन्वय के प्रभाव से)

प्रणेता

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

(पूर्वाश्रम के प्रोफेसर श्रीप्रमथनाथ मुखोपाध्याय)

म० म० श्रीगोपीनाथ कविराज की विस्तृत भूमिका से समृद्ध

अनुवादिका एवं संपादिका :

(पादटिप्पणी, अन्वय, शब्दानुक्रमणी, विशिष्ट टिप्पणी आदि के अभिनव संयोजन-सहित)

(कु०) प्रेमलता शर्मा

स्था० अध्यक्षा, संगीतशास्त्र-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक :
किशोरचन्द जैन
©) भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बा० १०८, कचौड़ीगली
वाराणसी

प्रथम संस्करण
सितम्बर, १९६६

मूल्य १५.००

मुद्रक : एस० पी० त्रिपाठी
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, वाराणस -५

अनुक्रमणिका

१. पूर्वपीठिका (पृ०९--८६)

२. भूमिका (पृ० १—१२८)

(मूल प्रणेता की लेखनी से)

३. विषयावतरणिका (पृ० १३१--२६३)

(मूल ग्रन्थ)

11/45

जपसूत्रम् (पूर्वपीठिका)

निवेदन

१. निपातनिका

'जपसूत्रम्' के हिन्दी अनुवाद का प्रथम खण्ड हिन्दी जगत् को अर्पित करते हुए मुझे तुलसीदास की निम्न पंक्तियों का वार-बार स्मरण हो रहा है ·

तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलइ सहाइ।
आपुन आवै ताहि पै, कै ताहि तहां लै जाइ॥

इस अभिनव और विलक्षण ग्रन्थ-राज का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने का माध्यम बनने की कल्पना कभी स्वप्न में भी नहीं हुई थी। सन् १९६५ के आरम्भ में काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय से परमधामगत जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी भारतीकृष्ण तीर्थ महाराज (गोवर्धन पीठ) के वैदिक गणित-सम्बन्धी ग्रन्थ का प्रकाशन होने वाला था। घटना-क्रम से उसका मुद्रण-सम्बन्धी सब कार्य मान्यवर स्वर्गीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुरोध से मुझे करना पड़ा था। श्री शङ्कराचार्यजी की प्रिय शिष्या श्रीमती मञ्जुला त्रिवेदी ने, जिनके माध्यम से उक्त ग्रन्थ हमारे विश्वविद्यालय को प्रकाशनार्थ मिला था, एसी इच्छा प्रकट की थी कि भूमिका लिखने का अनुरोध श्रद्धेय म० म० श्री गोपीनाथ कविराज से किया जाय। तदनुसार मैंने उनसे प्रार्थना की और उन्होंने ही इस प्रसंग में मुझे पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती (पूर्वाश्रम के प्रोफ़ेसर प्रमथनाथ मुखोपाध्याय) के नाम और संक्षिप्त परिचय से अवगत कराया और यह कहा कि उक्त ग्रन्थ की भूमिका लिखने के उपयुक्त अधिकारी स्वामीजी ही हैं। अतएव ऐसा विचार किया गया कि श्रीमती मञ्जुलाजी और मैं पुस्तक के मुद्रित फ़र्मे लेकर पूज्यपाद स्वामीजी के पास कलकत्ता जाएं और उन से भूमिका लिखने का अनुरोध करें। डॉ० श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय (अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, वर्धमान विश्वविद्यालय) से पूज्य स्वामीजी का पता मँगा कर मैंने इस सम्बन्ध में उन्हें एक पत्र लिखा। उत्तर मिला कि स्वामीजी शीघ्र ही स्वयं काशी पधारने वाले हैं। दैवयोग से कलकत्ता का चक्कर बच जाने का बड़ा हर्ष हुआ। श्रीमती मञ्जुलाजी नागपुर से काशी आईं और हम दोनों फरवरी १९६५ के अन्तिम सप्ताह में (सम्भवतः २३ फरवरी को) पूज्यपाद स्वामीजी के दर्शनार्थ उनके काशी के निवासस्थान 'मधुवन'

(महमूरगंज) में उपस्थित हुईं। यह प्रथम दर्शन बड़े विनोद के वातावरण में हुआ। पूज्य स्वामीजी मेरे पत्र से मेरा नाम 'प्रेमनाथ' समझे थे और इसी नाम से उन्होंने पत्रोत्तर भी भेजा था। उनके सम्मुख उपस्थित होकर जब मैंने श्रीमती मञ्जुलाजी का परिचय दिया और ग्रन्थ के फ़र्मे दिखाकर भूमिका के लिए पुनः प्रार्थना की तो वे बोले कि उनके यजमान श्री कन्हैया-लालजी से उन्हें पता चला था कि डॉ० प्रेमनाथ भी उनसे मिलने आने वाले थे। जब श्रीमती मञ्जुलाजी ने मेरा पूरा परिचय दिया तब उनका रसिक रूप उन्मुक्त भाव से अभिव्यक्त हो उठा। हास के प्रथम उद्रेक के बाद उनके मुखमण्डल पर कुछ-कुछ क्षणों में पुनः-पुनः मधुर हास की रेखाएं उभर आती थीं। इस सहज विनोद से प्रथम मिलन की वह घटना मेरे लिए चिरस्मरणीय बन गई। इस प्रथम दर्शन में ही उन्होंने 'कुरुष्व मदर्पणम्' (Unto Me Ded-icate) नामक अपना एक लघु काव्य-संग्रह और 'The Metaphysics of Physics' नामक एक लघु अंग्रेज़ी ग्रन्थ आशीर्वाद-स्वरूप दिए थे।

उक्त भूमिका के प्रसंग में चार-पाँच बार पूज्य स्वामीजी के पास जाने का सौभाग्य हुआ। बीच में, ८ मार्च को वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में तन्त्र सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर अध्यक्ष के रूप में भी उनका दर्शन मिला। कुछ दिन में (२२ मार्च को) उन्होंने भूमिका लिख कर मेरे पास कृपा-पूर्वक भेज दी। उसी शाम को मैंने उसे डॉ० अग्रवाल को पढ़ कर सुनाया। सुन कर वे इतने प्रभावित और प्रसन्न हुए कि उन्होंने पूज्य स्वामीजी के दर्शनार्थ जाने की इच्छा व्यक्त की। तदनुसार, २४ मार्च को अपराह्ण वेला में हम लोग 'मधुवन' में उपस्थित हुए। उस दिन स्वामीजी रक्तचाप के बढ़ जाने से कुछ अस्वस्थ थे और अधिक वार्तालाप करने में असमर्थ-से थे। इसलिए अपने संन्यासी परिचायक से उन्होंने 'जप-सूत्रम्' के दो खण्ड मँगा कर डॉ० अग्रवाल जी के हाथ में अवलोकनार्थ दिए। डॉ० साहब न एक खण्ड मेरे हाथ में दे कर कुछ पढ़ कर सुनाने को कहा। यह पञ्चम खण्ड था और पुस्तक खोलते ही 'कूर्म' और 'मीन' की व्याख्या निकली, जिसमें से प्रायः दो पृष्ठ मैंने पढ़ कर सुनाए। सुन कर डॉ० अग्रवाल मुग्ध हो गए। उनके प्रशंसात्मक उद्गार सुन कर स्वामीजी सहज भाव से बोले कि कविराजजी की बड़ी इच्छा थी कि इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद हो जाता। उनका यह वाक्य सुनते ही डॉ० अग्रवाल बोल उठे—'इसमें कौन सी कठिन बात है, प्रेमलताजी तो अच्छी बंगला जानती हैं। ये अनुवाद कर सकेंगी'। मैं इस प्रस्ताव को सुन

कर स्तब्ध रह गई। ग्रन्थ के गौरव से यद्यपि पूर्ण परिचय नहीं था, किन्तु उसके आकार की कल्पना ही अनुवाद-कार्य को असाध्य मान लेने के लिए काफ़ी थी। मेरे स्तब्धता-जनित मौन के कारण बात वहीं समाप्त हो गई। प्रथम दर्शन में जो दो पुस्तकें पूज्य स्वामीजी ने दी थीं उनमें 'जपसूत्रम्' का नामोल्लेख पढ़कर इस ग्रन्थ-राज के दर्शन के लिए मन में कौतूहल अवश्य जागा था, अतः मैंने स्वामीजी से ग्रन्थ के छहों खण्डों का प्राप्ति-स्थान पूछा। उन्होंने 'गरिया' (२४ परगना) स्थित अपने आश्रम का ही पता बताया और कुछ देर बाद हम लोग वहाँ से लौट आए। उसी रात को मैं अस्वस्थ हो गई और पुनः स्वामीजी के दर्शनार्थ नहीं जा सकी।

पता नहीं किस प्रेरणा से, पाँच दिन बाद २९ मार्च को स्वामीजी ने मेरे पास 'जपसूत्रम्' के चार खण्ड अपने आदमी द्वारा भिजवाए और शेष दो खण्ड कलकत्ता से भिजवा देने की बात लिखी। पत्र में उन्होंने ऐसी इच्छा भी व्यक्त की कि मैं इस ग्रन्थ का अध्ययन और सम्भव हो तो हिन्दी अनुवाद करूँ। अनुवाद के गुरुतम कार्य-भार को ग्रहण करने की तब भी मेरी कोई प्रवृत्ति नहीं हुई। पूर्व-गृहीत कार्यों का बाहुल्य ही इसका कारण था। ३० मार्च को स्वामीजी काशी से कलकत्ता के लिए प्रस्थान कर गए और उसके प्रायः १० दिन बाद ही उन्होंने डाक द्वारा 'जपसूत्रम्' के शेष दो खण्ड मेरे लिए और छहों खण्डों का एक पूरा सेट डॉ० अग्रवाल के लिए मेरे पास भिजवा दिया। अनुवाद की बात उन्होंने पुनः पत्र में लिखी। डॉ० अग्रवाल के पास उनका सेट पहुँचा कर मैंने उनसे स्वामीजी की अनुवाद-सम्बन्धी इच्छा की बात जब कही तो उन्होंने इस कार्य के लिए मुझे अदम्य उत्साह से प्रेरित किया। अन्यान्य कार्यों की बात कह कर जब मैंने असमर्थता प्रकट की तब उन्होंने यही कहा कि कार्य आरम्भ कर देना चाहिए, कभी न कभी पूरा हो ही जायगा। उनकी इस प्रबल प्रेरणा से मेरा जाड्य कुछ कम हुआ, किन्तु कार्य तत्काल आरम्भ नहीं हो सका।

उन्हीं दिनों एक बार परम श्रद्धेय आचार्यचरण श्रीगोपीनाथ कविराज महोदय से भी स्वामीजी की इस इच्छा के सम्बन्ध में चर्चा करने का अवसर मिला। मुझे स्मरण है कि उस दिन वे तीव्र ज्वर के कारण शय्यागत थे। 'जपसूत्रम्' के अनुवाद का प्रस्ताव सुनते ही उत्साह से तत्क्षण उठ बैठे और बोले—"यदि तुम यह कार्य कर सको तो मेरे जीवन का एक बड़ा भार उतर जायगा। मैंने स्वामीजी को वचन दिया था कि हिन्दी अनुवाद की व्यवस्था

करा दूँगा। श्रीहनुमान् प्रसाद पोद्दार (गीता प्रेस वाले) से इस कार्य की चर्चा हुई थी और उन्होंने अपनी सहमति भी प्रकट की थी। किन्तु उन्हें समय नहीं मिल पाया। तुम यदि इस कार्य को करोगी तो आज तक जो कुछ तुमने किया है, उससे किसी प्रकार भी यह कम महत्त्वपूर्ण न होगा, अधिक ही होगा।" एप्रिल ६५ में रामनवमी का वह दिन था। उनकी प्रेरणा का यह अप्रत्याशित बल पा कर धन्यता का अनुभव किया, किन्तु फिर भी कार्य प्रारम्भ करने का योग तत्काल नहीं आया। मई ६५ के आरम्भ में एक सप्ताह के लिए परम आत्मीया सुश्री विमल बहन ठकार के पास माउण्ट आबू जाना हुआ। वहाँ 'जपसूत्रम्' के कुछ अंश (विशेषतः पञ्चम खण्ड में से) उन्हें पढ़ कर सुनाये। अनुवाद-सम्बन्धी स्वामीजी की इच्छा की बात भी उनसे हुई। कार्य के विस्तार और गाम्भीर्य के प्रति अपने भय और आशङ्का की भी मैंने उनसे चर्चा की। वे बहुत अल्प अंश सुन कर ही इतनी प्रभावित हुई थीं कि ग्रन्थ को किसी भी प्रकार हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत होते देखने के लिए बहुत ही उत्सुक बन गई थीं। उन्होंने यह सुझाव दिया कि हिन्दी अनुवाद तो बहुत अधिक परिश्रम और समय की अपेक्षा रखता है, किन्तु यदि संस्कृत मूल मात्र को देवनागरी अक्षरों में एक जिल्द में प्रकाशित करें दिया जाय तो कम से कम मूल तो सुलभ हो जायगा।

आबू से पूर्वापेक्षा कुछ भिन्न भाव से अनुप्राणित होकर लौटी। लौटते ही पूज्य स्वामीजी का पत्र मिला, जिसमें बड़े आश्चर्य-जनक रूप से सुश्री विमल ताई के सुझाव का प्रतिघोष था। उन्होंने लिखा था कि यदि मूल-मात्र देवनागरी अक्षरों में सस्कृत टिप्पणी-सहित पहले प्रकाशित कर दिया जाय तो अच्छा रहेगा। उनके पत्र के अनुसार उसी ग्रीष्मावकाश में मैंने अपनी अनुजा कुमारी ऊर्मिला शर्मा के सहयोग से पूरे मूल (५२२ सूत्र और २०५९ कारिका या श्लोक) की देवनागरी में प्रतिलिपि कर ली, किन्तु संस्कृत टिप्पणियाँ लिखने के लिए विस्तृत बंगला भाष्य का गहन अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ जो कि अक्लान्त श्रम और विपुल समय से ही साध्य था। इसलिए ऐसी प्रतीति हुई कि हिन्दी अनुवाद का कार्य कुछ अग्रसर हो जाने पर ही संस्कृत टिप्पणियाँ लिखना सम्भव और वाञ्छनीय होगा। इसी प्रतीति ने हिन्दी अनुवाद की ओर तत्काल प्रेरित किया और संस्कृत टिप्पणियों का कार्य भविष्य पर छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार प्रथम प्रस्ताव के प्रायः चार मास बाद जुलाई, ६५ में अनुवाद-कार्य आरम्भ हुआ। उसी ग्रीष्मावकाश में मान्यवर आचार्य

श्रीहजारी प्रसाद द्विवेदी से भी काशी में ही 'जपसूत्रम्' की चर्चा करने का अवसर मिला। यह जान कर आश्चर्यमय हर्ष हुआ कि श्रीद्विवेदीजी पूरे ग्रन्थ को पढ़ चुके थे और इतने प्रभावित हुए थे कि अपना परिचय दिए बिना अलक्ष्यभाव से स्वामीजी के दर्शन भी कर आए थे। उनसे भी अनुवाद-कार्य की प्रेरणा को बल मिला।

इस प्रथम खण्ड का प्रकाशन प्रायः तीन मास पूर्व ही हो सकता था, किन्तु प्रेस अन्यान्य अनिवार्य कार्यों में व्यस्त था; इसलिए निर्धारित समय की अपेक्षा कुछ विलम्ब से यह प्रकाशन हो रहा है।

२. ग्रन्थ का बहिरंग परिचय

इस अपूर्व ग्रन्थ का परिचय देना मेरे लिए बड़ा कठिन होता, किन्तु उसके लिए स्वयं पूज्यपाद स्वामीजी, म० म० श्रीगोपीनाथ कविराज महोदय एवं डॉ० श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय की भूमिकाएँ सुलभ होने से मैं अपने आपको इस दुस्तर कार्य से मुक्त रख सकी हूँ। ग्रंथ का अन्तरंग परिचय स्वयं ग्रंथकार से एवं प्रतिपाद्य विषय के मर्मज्ञ, भारतीय अध्यात्म-साधना की विभिन्न धाराओं के तत्त्वज्ञ, मनीषि-प्रवर श्रीकविराज महोदय की लेखनी से पाठकों को प्राप्त हो सकेगा। साथ ही, श्रीगोविन्द गोपालजी की भूमिकाएँ मूल ग्रंथ की रचना और प्रकाशन के क्रम से एवं ग्रंथ के वैशिष्ट्य से पाठकों का सुष्ठु परिचय कराएँगी। अतः केवल बहिरंग परिचय देने का कर्तव्य-निर्वाह करके क्षान्त हो जाना ही मैं उचित समझती हूँ।

प्रस्तुत प्रथम खण्ड वास्तव में भूमिका-खण्ड ही है। मूल ग्रन्थ के सूत्र और कारिका का इसमें समावेश नहीं है। 'पूर्वपीठिका' के अन्तर्गत ग्रन्थकार की दो संक्षिप्त भूमिकाएँ, म० म० श्रीकविराजजी की विस्तृत भूमिका, श्री कल्याणमल जी लोढ़ा (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय) द्वारा लिखित स्वामीजी का परिचय और डॉ० श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय की मूल छहों खण्डों की प्रस्तावनाएँ हैं। श्रीगोविन्द गोपालजी का पूज्य स्वामीजी से सुदीर्घकाल-व्यापी प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है, मूलग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन से भी उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है; अतः उनकी समर्थ लेखनी के प्रसाद से पाठकों को आप्यायित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकी। ग्रन्थ की विषय-प्रतिपादन-शैली प्राचीन परम्परा से अविच्छिन्न होते हुए भी

अभिनव हैं, इसलिए 'पूर्वपीठिका' के रूप में इस विपुल सामग्री का छहों खण्डों से संकलन करके इस प्रथम खण्ड में समावेश करना उचित प्रतीत हुआ है। इससे हिन्दी जगत् मूलग्रन्थ को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो सकेगा, इस विश्वास से ही उक्त औचित्य-विचार को वल मिला है। समग्र ग्रन्थ की विषय-वस्तु का विहङ्गम-दर्शन भी इससे पाठकों को सुलभ होगा।

'पूर्वपीठिका' के बाद 'भूमिका' के रूप में ग्रन्थकार के छह लेख दिए गए हैं जो मूल के प्रथम खण्ड में भी उसी रूप में हैं।

उक्त 'भूमिका' के वाद मूलग्रन्थ के अन्तर्गत विषयावतरणिका के रूप में जो सामग्री है उसे रखा गया है। यह भी मूल के प्रथम खण्ड का अङ्ग है। मूल में उसके वाद प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के १५ सूत्र कारिका-भाष्य सहित दिए गए हैं, किन्तु मूल ग्रन्थ के प्रथम अध्याय को एक साथ एक जिल्द में देने के विचार से इन सूत्रों को प्रस्तुत खण्ड में छोड़ दिया गया है। इसी प्रकार आगामी खण्डों में भी सामग्री के सन्निवेश में यत्किञ्चित् परिवर्तन करने की योजना है, जिसका पूरा निर्देश यथास्थान दिया जायगा। इस परिवर्तन के लिए पूज्य स्वामीजी का पूर्ण अनुमोदन प्राप्त हुआ है।

मूलग्रन्थ के श्लोकों का अन्वय अनुवादिका की ओर से जोड़ा गया है। यद्यपि यह अन्वय पूर्णरूप से भाष्य के आधार पर ही वनाया गया है, तथापि भ्रम-प्रमाद की सम्भावना नगण्य नहीं कही जा सकती। यदि कहीं मूल के तात्पर्य को अन्वय में प्रस्तुत करने में अशुद्धि हो गई हो तो सुज्ञ पाठकों से उसके लिए क्षमा चाहती हूँ। वैसे तो श्लोकों का तात्पर्य भाष्य में ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया ही है, किंतु शब्दशः अर्थ समझने में अन्वय से सुविधा होगी ऐसा सुझाव कुछ मित्रों ने दिया था, और पूज्य स्वामीजी से उसका अनुमोदन मिलने पर इस कार्य में प्रवृत्त हुई हूँ। यदि कुछ पाठकों को अन्वय से लाभ हो सकेगा तो यह श्रम सफल होगा। मूल ग्रन्थ में 'उपोद्घात' और 'उपक्रमणी' के श्लोकों के प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करते हुए अनुवादिका की ओर से [ ] कोष्ठक में शीर्षक दिए गए हैं।

ग्रन्थकार की अपनी भूमिका में एवं मूलग्रन्थ में उपनिषत्, पुराण आदि के वाक्य अथवा वाक्यांश यत्र-तत्र विपुल मात्रा में उद्धृत हुए हैं। पाद-टिप्पणियों में उनके मूल सन्दर्भ का निर्देश प्रायः सर्वत्र देने का यत्न किया गया है। टिप्पणियों का उत्तरदायित्व निर्दिष्ट करने के लिए 'अनुवादिका'

का उल्लेख कर दिया गया है। कहीं-कहीं यह उल्लेख छूट भी गया है, किन्तु 'पूर्वपीठिका' के अन्तर्गत दो तीन स्थलों को छोड़ कर (जहाँ मूल का स्पष्ट संकेत दे दिया गया है) सभी पाद-टिप्पणियाँ अनुवादिका की ओर से ही हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जहाँ एक ओर परम्परागत वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक शब्दावली का विपुल प्रयोग है, वहाँ नवीन पारिभाषिक शब्द भी बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। पूज्य स्वामीजी जैसे विलक्षण मनीषी को अपनी अभिनव-शैली के लिए नवीन पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ना स्वाभाविक ही था। यह शब्दावली 'स्वयम्भू' रूप से पूज्य स्वामीजी की वाणी में प्रकट होती चली गई है, ऐसा अनुभव पाठक को होता है। कहीं आयास या कष्ट-कल्पना का लेश भी दिखाई नहीं देता। प्राचीन और नवीन सञ्ज्ञाओं के इस सागर में यथेच्छ और यथाशक्ति अवगाहन करने में अनुवादिका द्वारा प्रस्तुत शब्दानुक्रमणी सहायक होगी ऐसी आशा है।

ग्रन्थकार की भूमिका में अनेक वैज्ञानिकों, साहित्यिकों, विचारकों आदि का उल्लेख हुआ है। इनका संक्षिप्त परिचय देने के लिए परिशिष्ट में टिप्पणियां दी गई हैं। कुछ साहित्यिक कृतियों के विशिष्ट स्थलों का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। इन पर भी संक्षिप्त टिप्पणियां परिशिष्ट में दी गई हैं। विद्वानों के लिए ये सम्भवतः अनावश्यक होंगी, किन्तु सामान्य पाठकों के लिए उपयोगी होंगी ऐसी आशा है।

अनुवाद की भाषा के सम्बन्ध में दो शब्द। सर्वत्र मूल के पारिभाषिक शब्दों को यथावत् रखना पड़ा है, क्योंकि उनके पर्याय देना अनाधिकार चेष्टा होती। वाक्य-विन्यास में भी हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप न्यूनतम परिवर्तन किया गया है, सम्भव है इससे पाठकों को कहीं-कहीं कुछ अटपटापन लगे, किन्तु विषय के पारिभाषिक प्रतिपादन की सूक्ष्मता और ग्रन्थकार की समर्थ शैली की नवीनता की हानि न हो इस भावना से यह अनुवाद-सरणि अपनाई गई है। पूज्य स्वामीजी महान् दार्शनिक, भौतिक विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान के अद्भुत समन्वय-कर्ता एवं विषय-प्रतिपादन की अनुच्छिष्ट शैली के धनी होने के साथ-साथ कवि भी हैं। उनकी वाणी में उनके कवि-हृदय का उन्मेष सर्वप्रथम पाठक को आकृष्ट करता है। मूल ग्रन्थ के काव्य-सौन्दर्य, वक्रोक्ति-चमत्कार को अक्षुण्ण रखने का यथासम्भव प्रयास किया गया है। इसीलिए कहीं-कहीं कुछ बंगला मुहावरों को प्रायः मूलरूप में ही हिन्दी में उतारने का यत्न करना पड़ा

है। मुझे लगता है कि इससे हिन्दी की श्री-मर्यादा की कोई क्षति नहीं होगी, अपितु उसमें वृद्धि ही होगी। देश भर के लिए हिन्दी के सार्वभौम रूप को विकसित करने में प्रान्तीय भाषाओं से अलगाव तो नहीं ही रखा जा सकता और फिर बंगला का तो हिन्दी से चिर-साहचर्य रहा है। फिर भी यदि भाषा के सम्बन्ध में किन्हीं त्रुटियों का संकेत विद्वानों की ओर से मिलेगा तो आगामी खण्डों में उनका मार्जन करने का प्रयत्न किया जायगा। मूल में ग्रन्थकार ने जो अंग्रेजी शब्द दिए हैं उनको यथावत् बनाए रखते हुए यथासम्भव उनके हिन्दी पर्याय भी दिए गए हैं। अपवाद-स्वरूप कुछ ठेठ वैज्ञानिक शब्दों के पर्याय देना सम्भव नहीं हुआ है।

प्रूफ़ संशोधन में पर्याप्त सावधान रहने पर भी मुद्रण की कुछ अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। छपाई में मात्राएं टूट जाने से जो अशुद्धियाँ आ गई हैं उनका संशोधन विज्ञ पाठकों पर छोड़ कर अन्य अशुद्धियों को शुद्धिपत्र में दे दिया गया है। पाठकों से निवेदन है कि शुद्धिपत्र के अनुसार संशोधन करके ही पुस्तक का अध्ययन करें।

३. 'जपसूत्रम्' और भारतीय संगीत-शास्त्र

'जपसूत्रम्' के अध्ययन के अधिकारी कौन होंगे इस सम्बन्ध में डॉ० श्री गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय की प्रस्तावनाओं में एकाधिक उल्लेख मिलेंगे। उनकी पुनरावृत्ति आवश्यक नहीं है, किन्तु प्रायः पन्द्रह वर्षों से भारतीय सङ्गीत शास्त्र के अध्ययन और अनुसन्धान का जो अवसर मुझे मिला है उसके आधार पर उक्त शास्त्र के अध्येता के लिए 'जपसूत्रम्' के उपयोग के विषय में कुछ कहना प्रसङ्गानुकूल समझती हूँ। भारतीय सङ्गीत-शास्त्र का परम वैशिष्टय यही है कि उसका विषय-प्रतिपादन जिस प्रकार संगीत के बहिरंग पक्ष को लागू होता है, उसी प्रकार संगीत को अध्यात्म-साधना का अंग मान लेने पर यह भी निर्विवाद है कि उस साधना के अन्तरङ्ग पक्ष को भी वह शास्त्र समग्र-रूप से अपने में समेटे हुए है। किन्तु इस दृष्टि से इस शास्त्र का विश्लेषण आधुनिक युग में अभी तक नहीं हुआ है। गान्धर्ववेद को सामवेद का उपवेद कहने की परम्परा सर्व-सामान्य को विदित है, किन्तु हमारे संगीत-शास्त्र में वैदिक परम्परा का कहाँ, कैसा कितना समावेश है, इसके तात्त्विक अनुसन्धान को ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। याज्ञवल्क्य का निम्न-लिखित श्लोक सभी की जिह्वा पर रहता है, किन्तु इसके प्रकृत तात्पर्य के उद्घाटन की चिन्ता कौन करता है?—

वीणा-वादन-तत्त्वज्ञः श्रुति-जाति-विशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ।। याज्ञवल्क्यस्मृति ३।४।११५

उसी प्रकार संगीत को 'नादयोग' बताने वाले श्लोक अथवा नाद के महिमा-सूचक वचन भी प्रत्येक संगीत-प्रेमी या संगीत-सेवी के मुख पर रहते हैं, किन्तु यह प्रश्न ही प्रायः नहीं उठाया जाता कि गायन-वादन की जो बहिरंग-साधना हम लोग करते हैं उसे अध्यात्म साधना में परिणित करने के लिए किसी उपाय-विशेष की आवश्यकता है या नहीं। इस घोर भ्रममय परिस्थिति के निराकरण के लिए जो गहन अनुसन्धान अपेक्षित है उसके लिए वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक विचार-धाराओं का सूक्ष्म अध्ययन अनिवार्य है। 'जपसूत्रम्' में शब्द-तत्त्व की, विशेषतः नाद की अद्वितीय रूप से प्राञ्जल और विस्तृत व्याख्या है। इसके अतिरिक्त पूज्य स्वामीजी स्वय कितने संगीत-मर्मज्ञ हैं, इसका प्रमाण उनकी वाणी में पद-पद पर पाठकों को मिलेगा। उदाहरण के लिए 'भूमिका' में पृष्ठ ७० पर निर्विशेष सत्ता की अपेक्षा लीला-विलास के वैशिष्ट्य को समझाते हुए शहनाई-वादन की उपमा और मूल ग्रन्थ में 'उपोद्घात' के अन्तर्गत ७६ सख्यक श्लोक के भाष्य में सृष्टि की अनुक्रमिक गति की व्याख्या करते समय ताल का उदाहरण -- इन दो स्थलों का निर्देश करना ही पर्याप्त समझती हूं; वैसे संवाद-विवाद, श्रवण-शक्ति की अध-ऊर्ध्व-सीमा इत्यादि अनेक संगीत-सम्बन्धी विषयों का यत्र-तत्र उल्लेख ग्रन्थकार की अप्रतिम शैली में मिलता है। शब्द-तत्त्व की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक व्याख्या के अतिरिक्त संगीत विषयों का यह उपर्युक्त उल्लेख सोने में सुहागे का काम करता है।

सृष्टि तत्त्व के साथ संगीत का सम्बन्ध सभी को मान्य है (Music is the harmonious voice of creation; an echo of the invisible)। किन्तु इस सम्बन्ध का दर्शन हमें कहाँ होता है? उसके लिए यत्न करने की प्रवृत्ति ही हम में कहाँ होती है? सङ्गीत की शब्दावली में सृष्टि-रहस्य का उद्घाटन जैसा 'जपसूत्रम्' में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। पूज्य स्वामीजी ने भारतीय सङ्गीत-शास्त्र में उपर्युक्त अनुसन्धान-सरणि का मार्ग बहुत कुछ प्रशस्त कर दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय संगीत-शास्त्र के अध्येता के लिए परम उपादेय है, इसमें सन्देह का तनिक भी अवकाश नहीं। इस अनुपम ग्रन्थ से इतना निकट का परिचय होना मैं अपने लिए बड़े सौभाग्य का विषय समझती हूं। जो समस्याएं कई वर्षों से मुझे उलझाए

हैं वे इस समग्र ग्रन्थ के अध्ययन से बहुत कुछ सुलझ सकेंगी ऐसी दृढ़ आशा है। और यह एक कल्पनातीत उपलब्धि है।

४. ग्रन्थकार का परिचय

ग्रन्थकार का परिचय उनके श्रद्धालु शिष्य श्री कल्याणमलजी लोढ़ा के शब्दों में स्वतन्त्र रूप से दिया गया है। उनसे मेरे परिचय की अवधि बहुत ही अल्प है और आत्म-परिचय के प्रचार से वे इतने विमुख हैं कि श्रद्धेय श्री कविराज जी के बार-बार अनुरोध करने पर भी आज तक कभी अपने विषय में लेखनी नहीं उठा सके हैं। पत्र द्वारा मेरे अनुरोध करने पर भी उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी विवशता ही सूचित की थी। किन्तु हाल ही में 'तपोवनेर वाणी' शीर्षक से उनके पाँच निबन्ध, जो प्रायः तीस वर्ष पूर्व बंगला की 'देश' पत्रिका में प्रकाशित हुए थे, पुस्तिका के आकार में पुनर्मुद्रित हुए हैं। उक्त पुस्तिका में स्वयं स्वामीजी की और श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय की जो भूमिकाएँ हैं उनमें से जो कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकी है उसका सारांश यहाँ देने का लोभ नहीं छोड़ सकी हूँ।

पूज्य स्वामीजी जब बी० ए० में पढ़ते थे और कलकत्ता में एमहर्स्ट स्ट्रीट स्थित एक मेस में रहते थे तब श्रीगोविन्द गोपाल के पितृव्य श्रीललित गोपाल मुखोपाध्याय उन के सहपाठी थे; दोनों में अभिन्न मैत्री थी। श्रीललित गोपाल जी आपको 'प्रेमदा' कह कर बुलाते थे, यद्यपि आपका नाम 'श्री प्रमथनाथ' था। आपकी सहृदयता, स्निग्धता आदि गुणों की झलक इस सम्बोधन में मिलती है। श्रीललित गोपाल के माध्यम से आप देवघर के श्रीश्रीबालानन्द ब्रह्मचारी महाराज के आश्रम में उपस्थित हुए थे। वहाँ जाते ही आपको ऐसी अनुभूति हुई थी, मानो वही आपका अपना स्थान है। श्रीबालानन्दजी के प्रबल प्रभाव का आपने अपनी अननुकरणीय शैली में वर्णन किया है। इस वर्णन में से कुछ पंक्तियों का रसास्वादन पाठक कर सकें इस उद्देश्य से निम्न उद्धरण प्रस्तुत है।

"इस प्रथम दर्शन के बाद मैं बीच-बीच में देवघर में श्रीश्रीमहाराज के चरण-प्रान्त में दौड़-दौड़ कर आता था—लौह जैसे अयस्कान्त मणि के आकर्षण से दौड़ा आता है। प्रत्येक बार ही आकर अनुभव करता था कि तरुण जीवन की समस्त कर्मव्यस्तता और भावचाञ्चल्य ने यहीं आकर अपने स्थिर केन्द्रबिन्दु को प्राप्त किया है। जीवन की सभी मृगैषणाएँ यहाँ

आकर अपने ध्रुवसत्य-रूप-पीठ में प्रतिष्ठित होती थीं। इसीलिए बीच-बीच में मुझे यहाँ आना ही पड़ता था।

"इस प्रकार कुछ दिन बीतने के बाद सहसा इस जीवन में मानो एक विपुल वन्या (वाढ़) उद्वेलित हो उठी थी। उसका रोध बहुत वर्ष तक नहीं कर पाया था। यह थी —इस अवनत भारत के दासत्व-शृङ्खलित देशात्मा की सर्वाङ्गीण मुक्ति के लिए जो महीयसी आकूति थी, वही। वर्तमान शतक के आरम्भ में ही मैं उस महाप्लावन में कूद पड़ने को बाध्य हुआ था। 'तपोवन' (देवघरस्थित) की उस एकान्त शान्त गुहा का निगूढ़ आकर्षण भी मुझे रोक नहीं सका था, किन्तु अन्तर के गहनतम प्रत्यय में वह तपोगुहा अपनी समाहित महिमा से विराज रही थी, इस वारे में मुझे कभी भी संशय नहीं हुआ। भीतर और वाहर, सत्ता के अन्तःप्रकोष्ठ और बहिःप्रकोष्ठ में, एक द्वन्द्व ने उपस्थित होकर मुझे बहुत दिन तक उस गुहा-केन्द्रीण स्थिर अक्ष-रेखा से च्युत कर दिया था अवश्य, किन्तु मेरे अपने लक्ष्य-विन्दु से मुझे कभी भी उसने च्युत नहीं किया था। उस लक्ष्य-पथ में सहज-सुषम गति के स्थल में मानो कुछ-कुछ विषम और व्यावृत्त गति आ गई थी, शायद इसीलिए ऐसा लगता था कि न जाने केन्द्र से कितनी दूर हटता जा रहा हूँ। जो कुछ भी हो, जातीय विप्लव का जो पन्थ था वह मुझे 'तपोवन' से क्रमशः बहुत कुछ दूर हो हटाए लिए जा रहा था, इसमें सन्देह नहीं है। इस प्रकार देश की जातीय शिक्षा, जातीय मुक्तिसंग्राम इन सब में अधिकाधिक जुट जाने के फलस्वरूप देवघर में, उस अपनी जगह में बीच-बीच में जाना और रहना नहीं हो पाता था। श्रीश्रीमहाराज के साथ बहुत वर्षों तक इस वाह्य (बहिरंग) व्यवधान में ही मेरा जीवन कटा, यद्यपि अन्तर में गहन-अन्तरंग योग कभी भी नहीं कट पाया था।"

वाह्य दृष्टि से पूज्य स्वामीजी का गुरुकरण किसी को विदित नहीं है, तथापि श्रीबालानन्दजी के अमिट प्रभाव की जो स्वीकृति उनकी अपनी वाणी में मिलती है, वह बहुमूल्य है।

५. कृतज्ञता-ज्ञापन

दुःसाध्य प्रतीत होने वाले इस कार्य का सम्पादन जिनकी प्रबल प्रेरणा से सम्भव हुआ उन स्वनामधन्य परम श्रद्धेय आचार्यचरण म० म० श्री गोपीनाथ कविराज महोदय के प्रति कृतज्ञता निवेदित करने की घृष्टता कैसे करूँ! गत

१५ वर्षों से निरन्तर उनकी अबाध स्नेह-कृपा-धारा से सिञ्चित होने का सौभाग्य मिलता रहा है। कौड़ी का धनी अमूल्य मणि-माणिक्यों के अवदान का प्रतिदान कैसे दे सकता है ? 'अमृत' का प्रतिदान 'मर्त्य' क्या देगा ? इस कार्य से उनकी इच्छा-पूर्ति हो सकी यही सबसे बडा सौभाग्य है। यह कहना भी दु.साहस होगा कि सेवा-रूप में यह कार्य किया गया है। क्योंकि शास्त्र-महाजनों के श्रीमुख से सुना है कि जो स्वयं 'अपूर्ण' है वह कभी सच्ची सेवा नहीं कर सकता। इससे उनका सन्तोष-विधान हुआ है, यही इसका चरम फल समझती हूँ। अनुवाद करते समय कई कठिन स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए उन्हें कष्ट देना पड़ा है। ग्रन्थ के नाम 'जपसूत्रम्' से सम्भवतः प्रतिपाद्य विषय के विस्तार का बोध न हो सके, इसलिए व्याख्यात्मक शीर्षक बना देने की उनसे प्रार्थना की, जिसे उन्होंने कृपापूर्वक पूरा किया। वही शीर्षक भीतरी मुख-पृष्ठ पर कोष्ठक में दिया गया है। मुख-पृष्ठ के पार्श्व में उनका जो अमूल्य आशीर्वचन मुद्रित है, उसके लिए उनके प्रति पुनः-पुनः प्रणामाञ्जलि निवेदित करती हूँ।

अनुवाद-कार्य की योजना के प्रथम स्फुरण के सक्रिय साक्षी के रूप में एवं तत्सम्बन्धी मेरी जड़ता का अपनी स्निग्ध वाणी द्वारा हरण करने वाले अनु-प्राणयिता के रूप में पुण्यश्लोक स्वर्गीय डॉ० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का स्मरण इस अवसर पर बार-बार हो रहा है। हिन्दी 'जपसूत्रम्' का मुद्रण आरम्भ होने की प्रथम सूचना जब मैंने उन्हें दी थी तब जिस गद्गद् वाणी से उन्होंने उसका स्वागत किया था वह अभी भी मेरे कानों में गूँज रही है। पुस्तक उनके हाथों में समर्पित नहीं कर सकी, इसका अपार दुःख हृदय को मथ रहा है। उनसे जो स्नेह, सद्भावना, शुभेच्छा, प्रोत्साहन, आश्वासन, मार्ग-दर्शन द्वादशाधिक वर्षों तक मिला है उसका स्मरण उनके अभाव-बोध-जनित दुःख की तीव्रता को बढ़ाता है। इस कार्य के प्रस्ताव का जिस सहज मधुर स्मित से उन्होंने समर्थन किया था, उसके तल में उनका जो विमल मनःप्रसाद था उसके प्रति अपनी अश्रुसिक्त श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके विरत होती हूँ।

मूल ग्रन्थकार पूज्यपाद स्वामीजी के प्रति कृतज्ञता-निवेदन तो क्या, उनके असीम स्नेह-लाभ के लिए अपनी धन्यता का ज्ञापन अवश्य करना चाहती हूँ। अप्रिल १९६५ से आज तक इस कार्य के व्याज से उनके साथ जो विस्तृत पत्र-व्यवहार हुआ है (प्रति सप्ताह प्रायः एक पत्र की औसत से) उसमें उनकी स्नेह

सुधा जिस प्रकार अप्रतिहत गति से इस अकिञ्चन के प्रति निरन्तर प्रवाहित हुई है, वह किसी भी जीवन को धन्य बनाने के लिए पर्याप्त है। अनुवाद के फ़र्मे देख कर जिन शब्दों में उन्होंने अपना सन्तोष, प्रसाद, आशीर्वाद व्यक्त किया है, वे अमूल्य निधिस्वरूप हैं। उनकी यह कृपा सर्वथा अहैतुकी है, उनकी अदोष-दर्शिता और गुणग्राहिता की ही वह अभिव्यक्ति है, यह प्रतीति कभी तिरोहित न हो यह प्रार्थना है। उनके अकृपण, अकुण्ठ, अविच्छिन्न स्नेह-तर्पण को जीवन की अमूल्य उपलब्धि के रूप में मस्तक पर धारण करके मौन होती हूँ।

हिन्दी के मूर्द्धन्य विद्वान् आचार्य श्रीहजारी प्रसादजी द्विवेदी ने अपनी अमूल्य सम्मति देकर इस प्रकाशन का गौरव बढ़ाया है। इस अनुग्रह के लिए उनके प्रति आन्तरिक कृतज्ञता निवेदित करती हूँ।

अनेक व्यस्तताओं के बीच जिन दो कुशल सहयोगियों के बल पर ही इस कार्य-भार का वहन कर सकी हूँ, उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के बिना यह निवेदन अधूरा ही रहेगा। वे हैं—श्रीजगन्नाथ पाठक और मेरी अनुजा कुमारी ऊर्मिला शर्मा। इन दोनों के प्रति साभार अपनी हार्दिक शुभ-कामना व्यक्त करती हूँ।

वैज्ञानिकों की परिचयात्मक टिप्पणियों के लिए सामग्री जुटा देने के हेतु डॉ० श्री कैलाशचन्द्र गंगराड़े धन्यवाद के पात्र हैं।

मूल ग्रन्थ से अनुवाद करने के लिए स्वत्व-सम्बन्धी अनुमति जिनसे अनायास प्राप्त हुई वे श्रीकालीपद मैत्र (कलकत्ता निवासी) हार्दिक धन्यवाद के भाजन हैं। पूज्यपाद स्वामीजी के अन्यान्य श्रद्धालु भक्तों (श्रीकल्याणमल लोढ़ा, श्रीमती सुधा वसु इत्यादि) से जो कुछ प्रोत्साहन मिला है उसके लिए भी सभी के प्रति आभार निवेदित करती हूँ।

'भारतीय विद्या प्रकाशन' के सञ्चालक श्रीकिशोरचन्द जैन ने प्रकाशन की व्यवस्था बड़ी सरलता से कर दी, इसके लिए वे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

मुद्रक को धन्यवाद देने के प्रसंग में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस के दिवंगत संचालक श्रीलक्ष्मीदासजी का स्मरण होता है। २० अगस्त को उनका असामयिक निधन हो गया। उनके सहयोग और सद्भावना को साभार स्मरण करते हुए उनकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करती हूँ।

६. उपसंहार

दैवी-प्रेरणा-प्रणीत इस ग्रंथ के अनुवाद का कृतित्व अपने पर लादने की दुर्बुद्धि कभी न हो यही कामना है। जिस सर्वनियन्ता ने इस कार्य के प्रस्ताव, प्रेरणा, अनुमोदन, सहयोग, व्यवस्था आदि को अकल्प्य भाव से जुटा दिया, उन्हीं को इसका कृतित्व समर्पित है। मैंने इसके लिए कभी स्वेच्छापूर्वक संकल्प तक नहीं किया, अपितु सदैव प्रतिरोध ही उपस्थित किया। फिर कृतित्व कैसा ?

अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए भी पूज्यपाद स्वामीजी ने एकाधिक वार साग्रह प्रेरणा दी है। इसके लिए कोई सुष्ठुतर माध्यम स्वतः ही जुट जायगा, ऐसा विश्वास है।

पूज्यपाद स्वामीजी इस धरा पर दीर्घकाल तक अवस्थान करें और हिंदी के शेष पाँचों खण्ड उनके समक्ष पूर्ण हो सकें यही एकमात्र प्रार्थना है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी--५
श्रीकृष्णजन्माष्टमी,
७ सितम्बर, १९६६

प्रेमलता शर्मा

———

ग्रन्थकार

स्वामी श्रीप्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

जपसूत्रम् की आत्मकथा

(मूल पञ्चम खण्ड से उद्धृत)

शेषोन्मुख होते हुए 'जपसूत्रम्' की थोड़ी सी आत्मकथा कहने का अवकाश आया है। साठ वर्ष पहले—तरुण जिज्ञासु था, वयस् और स्वभाव के धर्म से विद्यारसिक। तब चिन्तन-राज्य के गगन में एक उज्ज्वल अप्रतिद्वन्द्वी नक्षत्र था - हर्बर्ट स्पेन्सर। उनका विराट् अवदान था – प्रकाण्ड दस जिल्दों में ‡Synthetic Philosophy; उस (ग्रन्थमाला) के पाण्डित्य अथवा विशालत्व ने नहीं, किन्तु उसके निपुण बलिष्ठ विश्लेषण ने और व्यापक वैज्ञानिक समन्वय ने मानो बहुत कुछ सम्मुग्ध ही कर लिया था। अथच उसकी मूल तत्त्व-दृष्टि के साथ दृष्टि मिलाने में जिज्ञासु अक्षम था। उस मूल विषय में इस देश के आचार्यवर्ग के दिये हुए दिव्य ज्ञानाञ्जन ने एवं उस देश के भी अन्य मतों के आचार्यों की दी हुई नेत्र-वर्त्तिका ने जिज्ञासु की अध्यात्म दृष्टि को बहुत कुछ प्रकृतिस्थ बनाये रखा था। फिर भी आचार्य हर्बर्ट स्पेन्सर से, ऐकान्तिक आकाङ्क्षा के बीच, मिला एक विराट् समन्वयी परिकल्पन एवं जीवन में उसके साधन की प्रेरणा। दीक्षा नहीं, प्रेरणा, क्योंकि ऐसी परिकल्पना का बीज, सम्भवतः अङ्कुरायित रूप में ही, गहन संस्कार-क्षेत्र में था। उस देश की विज्ञान-विद्या और इस देश की अध्यात्म-विद्या—इन दोनों की निकट सङ्गति और समन्वय तरुण जिज्ञासु का लक्ष्य और साधन बन गया। अर्थात् लेबॅरेटरी और नैमिषारण्य का सम्मिलन।

इसके लिये दोनों क्षेत्रों में ही जो सिद्धपीठाधीश हैं, परिप्रश्न और निष्ठा के साथ उनकी शुश्रूषा की। विज्ञान और प्रज्ञान दोनों का श्रवण-मनन एवं यथासम्भव निदिध्यासन किया।

तारुण्य के उत्तरप्रान्त में उपनीत होने से पहले ही परिकल्पना वास्तव रूप लेने लगी। पहले अँग्रेजी भाषा में। गणितादि विज्ञान एवं आर्ष प्रज्ञान का युग्म शक्ति-सम्पात था मूल में। 'The Approaches to Truth' 'Patent Wonder' ये सब उसके फल थे। किन्तु प्रधानतः प्रथम विश्व-

‡ द्रष्टव्य प्रथम परिशिष्ट में हर्बर्ट स्पेंसर पर टिप्पणी। —अनुवादिका

युद्ध ने इस प्रचेष्टा और भाव को और अधिक फलीभूल नहीं होने दिया। फिर भी अधिक विलम्ब से पूर्व ही 'वेद ओ विज्ञान' इत्यादि नाना धारावाहिक प्रवन्ध-निवन्धों में मूल परिकल्पना की प्राणधारा ने अपने को चालू रखा।

प्रायः साथ-साथ ही इस प्राणधारा की एक मुख्य शाखा तन्त्रविद्या के गहन-दुर्गम रहस्यराज्य की ओर प्रवाहित हुई। महामति सर जॉन वुडरफ़* साहव के मुख से भगीरथ का शङ्ख ध्मात हुआ (फूँका गया); इस अभिनव धारा के प्रवर्त्तन में। महामाया की इच्छा से यह धारा विशाल से विशालतर भी होती चली गई। तन्त्र-तत्त्व-विषयिणी बहुत सी रचनायें इस धारा को, उसके दोनों तटों को सजाती चलीं। फिर भी वह मूल समन्वयी परिकल्पन मानो महासिन्धु की भाँति दूर से ही अपना शाश्वत आह्वान सुनाता रहा।

उसके बाद †विप्लवी संघर्ष, राजनीति और संवाद-दाता के विसंवाद ने सागराभिसारिणी धारा को कुछ समय के लिए कृच्छ्र (कृश), कुटिल-गमना भी बना दिया। तथापि उस बाह्य वाधा से उसका आन्तर संवेग वढ़ा ही।

स्वाधीनजातीय शिक्षा के प्रवर्त्तन के क्रम में श्रीअरविन्द ने इस शतक के प्रथम भाग में ही अपना असामान्य शक्तिसमृद्ध सहयोग दिया था। जातीय शिक्षायतन (वर्तमान यादवपुर विश्वविद्यालय) में भारतीय कृष्टि (Culture) के विषय में अनुशीलन और गवेषणा के उद्देश्य से जो 'आसन' (Chair) श्रीअरविन्द के लिए ही आरम्भ में उत्सृष्ट हुआ था उस आसन पर उपविष्ट होने का सम्मान इस भाग्य में आया। राजनीति के आवर्त्त ने तव मुक्ति दे दी। तरुणजीवन का वह प्राण-प्रवाह अव नाना ओर नाना शाखाओं में न वह कर अपनी चिर-मृग्य, उदार, अखण्ड एक ही धारा में वहने का निश्चित सुयोग पा सका। अँग्रेज़ी में नहीं, वंगला भाषा में। प्रधानतः भारतीय कृष्टि (Culture) एवं ऐतिह्य को विषयवस्तु बना कर सर्वजागतिक भावराज्य के प्रति पूर्ण सजग दृष्टि रखते हुए उस तरुण का परिकल्पन — Synthetic Philosophy—शायद अव वास्तवरूप का परिग्रह करेगा, ऐसी आशा हुई। प्राचीनतम युग से लेकर वर्त्तमान युग तक सृष्टि, व्रह्म,

---

* ये ऑर्थर एवॅलॉन के नाम से भी सुपरिचित हैं।—अनुवादिका।

† स्वतन्त्रता-संग्राम के अन्तर्गत विप्लवी संघर्ष में ग्रन्थकार का सक्रिय योगदान और पत्रकारिता (Journalism) में उनकी सुदीर्घ व्यापृति की ओर यहाँ संकेत है।—अनुवादिका।

कर्म इत्यादि एक-एक मूल भाव किस प्रकार अपने विचित्र विकास और परिणति तक पहुँचा है—इसके तथ्य एवं तत्त्व का विश्लेषण-समन्वय करते हुए कुछ खण्डों में इतिहास लिखने की वासना हुई। किन्तु भूमिका-ग्रन्थ 'इतिहास ओ अभिव्यक्ति' प्रकाशित होने के बाद सृष्टि, ब्रह्म इत्यादि के सम्बन्ध में अन्यान्य सुविस्तृत लेख कुछ दूर तक प्रस्तुत हो कर भी प्रकाश्य आलोक के मुख-निरीक्षण का भाग्य नहीं पा सके।

उसके बाद संन्यास-जीवन में सभी कुछ का आमूल पट-परिवर्त्तन हो गया। तरुण एवं परिणत वयस् का वह विद्या-रस अपने को ध्यान-रस और भाव-रस में खो बैठा। ग्रन्थादि-पाठ और अनुशीलन की वह प्रवृत्ति जैसे ही एक ओर निःशेष हुई, वैसे ही दूसरी ओर चाक्षुष दृष्टि का भी ह्रास हुआ। यही हुई संस्कृत में 'जपसूत्रम्' की आधार-प्रस्तुति। जपसूत्रम् नाना शास्त्रों के अधीत-विद्य पण्डित का विरचित ग्रन्थ नहीं है, श्रद्धालु अनुगृहीत का अनुध्यात ग्रन्थ है। बाहर से निवृत्त दृष्टि-मति आन्तर अध्यात्म-संवाद में ही निविष्ट हो गई है, यद्यपि व्याख्या में विज्ञानादि बहिर्विद्या के साथ प्रसङ्गतः समझना-बूझना पड़ा है।

जपसूत्रम् परमात्मा की इच्छा से शेष हो चला है। ग्रन्थ ६ खण्डों में विशाल भी है अवश्य। किन्तु और भी सुविशाल नहीं हो सका, इसलिए इसमें भी Synthetic Philosophy का 'स्वप्न' पूर्णाङ्ग मूर्त्ति में वास्तव नहीं हो सका। सूत्र एवं कारिकावली में उस विराट् समन्वय का दिग्दर्शन-सूत्र सम्भवतः मिल गया, किन्तु अनवगाहित महारहस्यवारिधि इस के पुरोभाग में रह गया। ग्रन्थ की व्याख्या में वेद-तन्त्र-पुराणादि के तत्त्व और चर्या (theory and practice) दोनों के विषय में अनन्त अगाध रहस्य का कितना-सा अंश यहां खोल कर देखा जा सका है! प्रसङ्गतः सूत्र के प्रयोग एवं दृष्टान्त कहने में यत्किञ्चित् ही हुआ है। वह काम तो encyclopeadic (विश्वकोषात्मक) है। भावी विधाता यथासमय उस काम को अपने सुयोग्य हाथ में ही देंगे।

'इस' अपने 'माध्यम' से उन्होंने जिस प्रकार जितना-सा करा लिया उस के बारे में 'इस' के भीतर अतृप्ति या अप्रसाद का लेशमात्र भी उन्होंने नहीं रखा है। काम बहुत बाकी है, फिर भी 'यह' स्वयं चरितार्थ है।

जपसूत्रम् के भाव और रचनाशैली में 'इस' की अपनी अध्यक्षता उन्होंने वैसी कुछ नहीं रखी है। फिर भी लगता है किसी-किसी मूल तत्त्व-सूत्र पर अतिविस्तृत व्याख्यान में उन शङ्कर-रामानुजादि प्राचीन आचार्यों की शिष्ट-समाहृत धारा का ही अनुसरण हुआ है; उस धारा का दर्शन वेदान्त में चतुः-सूत्री पर, वृहदारण्यकादि में 'असदेव सौम्य' इत्यादि स्थलों पर होता है।

इस प्रकार के ग्रन्थ की दुरवगाहता स्वाभाविक ही है। मूल तत्त्वविद्या को 'तपसा मेधया' प्राप्त करना होता है, एवं 'तपसा' ही उस विद्या का अनुशीलन भी करना होता है। इन सबके मर्मग्राही और रसग्राही चिर-दिन ही मुष्टि-मेय रहे हैं और रहेंगे।

इति—

स्वामीजी

अन्तिम दो बातें

(मूल षष्ठ खण्ड से उद्धृत)

जपसूत्रम् इस खण्ड में समाप्त हुआ। पूर्वखण्ड में थोड़ी सी 'आत्मकथा' थी। इस खण्ड में उसकी अनुवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। फिर भी एक बात फिर से स्मरण करा देना चाहता हूँ — **'जपसूत्रम् श्रद्धालु अनुगृहीत का अनुध्यात ग्रन्थ है'**। साधारण मगज का काम जिसे समझा जाता है, उसे प्रायः बन्द रख कर ग्रन्थ का जो मूल सूत्र और कारिकावली, है उसे प्राप्त करना पड़ा है। अर्थात् मगज को यथासम्भव 'बेकार' (निर्व्यापार) बना कर ऊर्ध्व-चेतना की अवतरणी धारा में उसे मिला देना पड़ा है। जैसे — एकान्त में लेखनी और पुस्तिका लेकर चुप होकर बैठ रहते समय सहसा एक-एक सूत्र व कारिका मानो कलम के मुख पर आते गये हैं। सूत्रों के सम्बन्ध में तो यह है ही; कारिकाओं में कभी-कभी कुछ-कुछ मगज का व्यापार भी हुआ है। पुस्तिका में marginal notes (पार्श्वटिप्पणियों) को देख कर ऐसा लगता है। बड़े छन्दों के श्लोकों को समय-समय पर सोच-विचार कर छन्द मिला कर ठीक बैठाने में भी कुछ काम करना पड़ा है। किन्तु यह सब मगज का मामूली काम है। काम का जो असली भाग है, वह मगज के जिम्मे या उस के हाथ में वैसा कुछ नहीं था। भाव, भाषा, शैली —ये सभी मानो एक 'आवेश' की भाँति ही आ गए हैं। मूल की देवभाषा स्वतः ही आ गई हैं, उन की कृपा भी मैंने अकृपणभाव से पाई है। और अंग्रेजी में बीच-बीच में कुछ बातें देने से व्याख्यान में सुविधा ही हुई ऐसा लगता है। अवश्य ही, साधारण मगज की ही बात हो रही थी। **'ददामि बुद्धियोगं ते'**—उस 'बुद्धियोग' की बात नहीं हो रही है। उस 'बुद्धियोग' का थोड़ा सा स्पर्श ही तो इस काम का मूल, इसकी प्रेरणा, इस का प्राण, सम्बल,—इस का सब कुछ है।

व्याख्या करते समय मगज को भी काफ़ी चलाना पड़ा है। वह भी ठीक 'कारीगर' की भाँति नहीं, जुगाड़ करने वाले 'मजूरे' की भाँति। 'मजूरे' और ठेकेदार का काम भी आवश्यक है, उस में मेहनत भी बहुत है; फिर भी कर्म का जो 'ध्यान' है, जो 'परिकल्पन' है, वह उसे नहीं करना होता। नियन्त्रण और निर्बाचनादि भी उसका नहीं होता। जो कर्माध्यक्ष हैं, वे जब तक स्वयं न

चला दें, तब तक इस क्षेत्र में कुछ नहीं होता। सूत्रादि की व्याख्या में पग-पग पर यह समझना पड़ा है। अपने हाथ से लिखे सूत्र का या श्लोक का क्या गूढ़ भाव है, यह उनके अपने प्रकाश में जब तक नहीं दिखाया गया है, तब तक देख नहीं पाया हूँ; इसीलिए व्याख्या के आरम्भ में अर्थ टटोलते समय भौंचक्का रह गया हूँ। बाद में उनके स्वयं समझा देने पर इस अनुगृहीत आधार में असीम विस्मय और तृप्ति, प्रकाश और पुलक हुआ है।

केवल यही लगता रहा है कि शायद मेरे लिए ही यह सब कुछ तुम लिखा रहे हो! तब और किसी के पढ़ने न पढ़ने की, समझने न समझने की बात ही मन में नहीं उठी। किन्तु इतना जानता था कि मैं तो केवल यह 'मैं' मात्र नहीं हूँ, वह 'प्रत्यगात्मा' हूँ। सत्य, सुषम, सुन्दर सभी आधारों में सत्य यथोपयोग खिल ही उठेगा। आज मेरे [१]प्राणगोपालदा नहीं हैं, [२]मन्मथदा भी नहीं हैं। फिर भी [३]श्रीश्री सीतारामदास ओङ्कारनाथजी, [४]श्रीगोपीनाथजी [५]अनिर्वाणजी जैसे दो चार जन हैं तो। [६]श्रीमान् गोविन्द ही था मूल में उपलक्ष्य। और श्रीगुरु-कृपा की सहायता पा कर वह इसका व्याख्यान भी स्वच्छ-उज्ज्वल, सुन्दर रूप से सभी के लिए करता है। सभी को कितना अच्छा लगता है?

अन्त में श्रीगौराङ्ग प्रेस को भी इस बड़े काम को सौष्ठव से पूरा करने के लिए सर्वान्तःकरण से धन्यवाद देता हूँ।

—स्वामीजी।

---

[१] द्वितीयखण्ड में से उद्धृत निवेदन द्रष्टव्य। ये श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय के पितृचरण थे--अनुवादिका।

[२] पूज्यपाद स्वामीजी के अग्रज श्रीमन्मथनाथ मुखोपाध्याय—अनु०।

[३] वङ्गाल के एक प्रसिद्ध महात्मा जो अभी इहलोक में विराजमान हैं। —अनु०

[४] महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथ कविराज।—अनु०

[५] कलकत्ता के स्वामी अनिर्वाण जिन्होंने वेद में गहन अनुसन्धान किया है। आपकी ग्रन्थमाला 'वेद मीमांसा' के दो खण्ड राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता से प्रकाशित हो चुके हैं।— अनु०

[६] डॉ० श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय।—अनु०

भूमिका

(मूल तृतीय खण्ड से उद्धृत)

१

श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती नें जपसूत्रम् नाम से एक उपादेय ग्रन्थ की रचना कर के जिज्ञासु साधक और विद्वत् समाज के समक्ष उसे प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ का मूल सूत्राकार में रचित है, सूत्रों पर सूत्र-व्याख्यारूप वार्त्तिक हैं,—ये कारिका के आकार में निबद्ध हैं। सूत्र और वार्त्तिक दोनों ही प्राञ्जल संस्कृत-भाषा में रचित हैं। आलोचित विषय का तात्पर्य-विवरण चिन्ताशील, तत्त्वान्वेषी पाठकों के बोधसौकर्य के लिये विशद रूप से विस्तारित भाव से वंगला भाषा में दिया गया है। इसे जपसूत्र का भाष्य समझ सकते हैं।

ब्रह्मसूत्र, शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, स्वरसूत्र, कौलसूत्र, यज्ञसूत्र प्रभृति को भाँति जपसूत्र एक सूत्र-ग्रन्थ है। ग्रन्थ चार अध्यायों में एवं प्रति अध्याय चार पादों में विभक्त है। सूत्रसंख्या ५०० से अधिक एवं कारिकासंख्या उस से प्रायः चतुर्गुण है। इस महाग्रन्थ के दो खण्ड पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं एवं सम्प्रति तृतीय खण्ड प्रकाशित हो रहा है। इन तीन खण्डों में प्रथम अध्याय के चार पादों के १२० सूत्रों की व्याख्या सम्पूर्ण हुई है, एवं द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के आरम्भिक २२ सूत्रमात्र व्याख्यात हुए हैं। यदि इस प्रकार विस्तारित व्याख्या-प्रणाली का अनुसरण करके समग्र ग्रन्थ की आलोचना सम्भव हो सके तो वर्तमान आयतन के अनुरूप और भी नौ खण्डों का प्रकाशन आवश्यक होगा*। अध्यात्मसाधन के विषय में केवल एक तत्त्व के सम्बन्ध में ऐसा विशाल और सूक्ष्म-विश्लेषण-पूर्ण ग्रन्थ पृथिवी के किसी देश के साहित्य में है, ऐसा ज्ञात नहीं है।

ग्रन्थकार गम्भीर चिन्ताशील दार्शनिक हैं, वैदिक और तान्त्रिक सिद्धान्त और साधन-पद्धति के मर्मज्ञ हैं, आधुनिक विविध विज्ञान और गणितशास्त्र के

---

* चतुर्थ खण्ड के वाद पञ्चम और षष्ठ खण्ड में भाष्य का विस्तार वहुत कुछ संकुचित हो गया। इसलिए ग्रन्थमाला छः खण्डों में ही पूर्ण हो गई है।—अनुवादिका।

तत्त्ववित् हैं, प्राच्य और प्रतीच्य एवं प्राचीन और नवीन उभय-प्रकार भाव धारा के साथ सम्यक् परिचित हैं, तीक्ष्णदर्शी विश्लेषण-पटु एवं लिपिकुशल सुलेखक हैं; —सर्वोपरि वे स्वयं साधन-पथ के विचित्र अनुभव-सम्पन्न चरण-शील पथिक हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह शास्त्रमूलक एवं महाजन-गणों के अनुभव और सद्युक्ति द्वारा समर्थित है। सुतरां उनके ग्रन्थ का एक अनन्य-साधारण महत्त्व है।

जपसाधना अध्यात्म-साधनविज्ञान में सुपरिचित साधना होने पर भी उस का निगूढ़ रहस्य जनसाधारण के लिए दुर्भेद्य प्रहेलिका-मात्र है। वैदिक, पौराणिक, स्मार्त्त, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन प्रभृति सभी साधनाओं में जप का महत्त्व और आवश्यकता मुक्तकण्ठ से घोषित हुई है। सूफी साधक और फकीरों में एवं ईसाई कैथोलिक सम्प्रदाय के भक्तों में जप की प्रथा अति प्राचीन काल से प्रचलित है। योगियों ने जप की महिमा का कीर्त्तन किया है—वे कहते हैं कि यह क्रिया योग के अन्तर्गत स्वाध्याय का ही प्रकारविशेष मात्र है। सुष्ठु भाव से यथाविधि अनुष्ठान होने पर इस के फलस्वरूप पर-मात्मा का प्रकाश और इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है। एवं अन्यान्य बहुत से आनुषङ्गिक फलों का उदय होता है। जिस नादानुसन्धान की महिमा हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी और लययोगी समभाव से घोषित करते हैं, उसे जप की ही एक विशिष्ट अवस्था का नामान्तर कहा जा सकता है। प्राचीन शाब्दिक गण इसे 'वाग्योग' कह कर इसका वर्णन करते थे एवं 'इयं हि मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः' अर्थात् मुमुक्षु मन के लिये यही सरल राजमार्ग होने के कारण वे लोग इस की सर्वोपयोगिता स्वीकार करते थे। मध्ययुग के सन्तगण 'सुरतशब्दयोग' नामक जिस योगपन्थ का अनुसरण करते थे वह वाग्योग का ही प्रकार-भेद मात्र है। योग की कठिन प्रक्रिया, यज्ञ का जटिल विधान, ज्ञानमार्ग की विचारबहुल गंभीर भावना एवं भावभक्ति का रसमय उल्लास,—सब साधकों के लिये सुलभ नहीं है। किन्तु जप सभी के लिए अल्पायास-साध्य है। अथच ठीक भाव, से यदि उसे किया जा सके तो उससे कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग प्रभृति सभी साधनाओं का फल-लाभ सहज हो जाता है। केवल उतना ही नहीं, सविशेष भाव से पूर्णता एवं समस्त विषयों का उपशम अर्थात् ब्रह्म का महान् और परम रूप नादाश्रय-वशतः जापक के लिए जितना सुगम होता है, अन्य साधक के लिए उतना नहीं।

ग्रन्थकार को ग्रन्थ में प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के लिए आनुषङ्गिक भाव से बहुत तत्त्वों की आलोचना करनी पड़ी है। मन्त्र, यन्त्र एवं तन्त्र किसे कहते हैं, मन्त्र-जपरूपा क्रिया की निष्पत्ति किस प्रकार होनी चाहिये, इस का चरम लक्ष्य क्या है, ध्वनि (नाद), संख्या और भाव का अर्थ क्या है अर्थात् वाक्, प्राण और मन का अथवा अग्नि, सूर्य और चन्द्र का स्वरूप और प्रकारभेद क्या है ? जप का अन्तराय क्या है ? एवं अन्तराय निवृत्ति का उपाय क्या है, इस प्रकार के बहुत से प्रश्नों का समाधान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में मिलता है। द्वितीय और तृतीय खण्ड में सप्त व्याहृति-रहस्य और महामाया-तत्त्व बहुत से प्रासङ्गिक विषयों के साथ विस्तार-पूर्वक आलोचित हुआ है। इस आलोचना की तुलना नहीं है। चित्शक्ति केवल चिन्मात्र वा प्रकाश-मात्र नहीं है, – वह चित् का स्वयं अपने को विशेष-विशेष-भाव से ईक्षण का सामर्थ्य है। दोनों (चित् और चित्शक्ति) ही स्वरूपतः एक हैं, फिर भी दोनों में वैलक्षण्य है। इस वैलक्षण्य को स्वीकार करके ही दोनों की अद्वयता स्वीकार्य है। विमर्शहीन प्रकाश प्रकाशमान न होने के कारण ही अप्रकाश वा असत्कल्प है। किन्तु प्रकाश तो विमर्शहीन नहीं होता। इसीलिए प्रकाश की स्वप्रकाशता और सद्भाव अक्षुण्ण ही रहता है। सत् और असत् यह विरुद्ध-भाव विकल्पमात्र है—निर्विकल्प वा अद्वय ही तत्त्वातीत परम तत्त्व है। ग्रन्थकार ने आगम और उपनिषदों के सारांश को अपनी अपूर्व युक्ति और विवेचन-सरणि द्वारा ऐसे मनोज्ञ रूप में सुकौशल से स्थापित किया है कि वह मन्दबुद्धि पाठकों को भी बोधगम्य हुए बिना नहीं रह सकता। हाँ, आन्तरिकता और मनोनिवेश आवश्यक हैं।

और एक विषय में दो एक बातें कह देना उचित लगता है। वर्ण-मातृका के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा न होने पर प्राण के स्पन्दन का तत्त्वनिर्णय नहीं किया जाता। इसीलिए तन्त्रशास्त्र में मातृका का विवेचन किया गया है। प्राचीनकाल के किसी-किसी मूल आगम ग्रन्थ में वर्णमाला का विचार देखने को मिलता है। अभिनवगुप्त, स्वतन्त्रानन्दनाथ प्रभृति ने भी इस विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण से आलोचना की है। वर्त्तमान समय में भी किसी-किसी महात्मा ने न्यूनाधिक आलोचना की है। इस विषय में जपसूत्रकार ने असाधारण अन्तर्दृष्टि और समन्वय-शक्ति का परिचय दिया है। आशा है भविष्य में इस ग्रन्थ की विस्तृत समालोचना करते समय कोई मनीषी तुलना-मूलक रीति से प्राचीन भारत के वर्ण-विज्ञान का रहस्य उद्घाटित करने का यत्न करेंगे।

शैव, शाक्त वैष्णव, बौद्ध और जैन आगमों में सर्वत्र ही इस विषय में बहुत से तथ्य मिल सकते हैं।

(२)

शास्त्र में कहा है—शब्दब्रह्म में निष्णात होने पर परब्रह्म की उपलब्धि होती है। शब्दातीत परमपद का साक्षात्कार करना हो तो शब्द का आश्रय लेकर ही शब्दराज्य का भेद करना होता है। समग्र विश्व शब्द से उद्भूत एवं शब्द में ही विधृत है। **'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी,'**—**'वागेव विश्व भुवनानि जज्ञे, वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्'**—इत्यादि शास्त्र-वचनों से ज्ञात होता है कि शब्द ही जगत्-सृष्टि का मूल है। सृष्टि के बाहर जाना हो तो शब्द ही एकमात्र आलम्वन है। इसीलिए जप-साधना में शब्द को पकड़ कर ही शब्दातीत परमब्रह्म पद में जाने का उपदेश है।

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा भेद से चार प्रकार की वाक् की बात शास्त्र में मिलती है। वैखरी वाक् शब्द के निम्नतम स्तर के रूप में प्रसिद्ध है। इसे पकड़ कर क्रमशः परा वाक् तक चढ़ना एवं बाद में उसका भी अति-क्रम करना आवश्यक है। वैखरी इन्द्रियगोचर समग्र स्थूल विश्व में और स्थूल देहों में अनन्त प्रकार से उस-उस स्थान के अनुसार काम कर रही है। **'वैखरी विश्वविग्रहा'**। इसका अतिक्रम न कर सकने पर मनुष्य स्थायी रूप से बहिर्मुख वृत्ति का परिहार करके आन्तर वृत्ति का आश्रय प्राप्त नहीं कर सकता।

आत्मा स्वरूपतः पूर्ण प्रकाशात्मक परमेश्वर-रूप, स्वतन्त्र और भोक्ता होने पर भी, उसके स्वेच्छापूर्वक जीवभाव ग्रहण करने के साथ-साथ ही उसका स्वातन्त्र्य और भोक्तृभाव लुप्तप्राय हो जाता है। आत्मा में अखिल सृष्टि का अभेद से समन्वय है, इसीलिए आत्मा का पूर्ण अहंभाव स्वभावसिद्ध है। 'अ' से 'ह्' तक समस्त वर्ण वा कला का एक दूसरे के साथ और आत्मा के साथ अभिन्न रूप से, अखण्ड भाव से स्फुरित होना ही आत्मा की पूर्णाहन्ता है। इसी का नामान्तर चैतन्य-विमर्श, स्वातन्त्र्य वा ऐश्वर्य है। रूप इन सब अकारादि वर्णों के वाच्य अनुत्तरादिविमर्श आत्मा के निज विमर्श के ही स्वरूपभूत हैं। अखण्ड स्थिति में ये सब एक और अभिन्न से ही प्रकाशित होते हैं। किन्तु आत्मा के स्वेच्छा-पूर्वक सृष्टचुन्मुख होने पर उसके स्वरूपाश्रित निजामर्श के लेश-रूप में अनुत्तरादि-वाचक पूर्वोक्त अका-

रादि वर्ण उद्भावित होते हैं। अद्वैत स्थिति में जो कलायें अभिन्न भाव से आन्तरशब्द वा स्वभाव के रूप में विद्यमान रहती हैं, वे उस स्वरूप में अक्षुण्ण रहकर भी सृष्टि की उन्मेष-दशा में मानो अंशतः विभक्त रूप से क्रमशः ब्राह्मी प्रभृति अष्ट वर्ग-शक्तियों और 'अ' 'आ' प्रभृति पंचाशत् रुद्रशक्तियों के रूप में अवतीर्ण होती हैं, वाद में इन शक्तियों से पद-वाक्य-समूह के रूप में असंख्य क्षुद्र शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। अकारादि आत्मा के निजविमर्श-स्वरूप और स्वाभिन्न होने पर भी अज्ञान-अवस्था में निज आत्मा से भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं, इसीलिए उन्हें कला वा अंश नाम दिया जाता है। यही मातृकाशक्ति हैं। इनके द्वारा आत्मा का स्वीय ऐश्वर्य वा विभव (आचार्य शङ्कर ने दक्षिणामूर्त्ति-स्तोत्र में महाविभूति कह कर जिसका उल्लेख किया है) विलुप्तप्राय हो जाता है। कला आत्मस्वरूप से उद्भूत होकर आत्मा के ऐक्यभाव को ढक रखती है। तब शिवरूपी आत्मा जीव वा पशुरूप में आविर्भूत होते हैं। यही उनका स्वरूपसङ्कोच वा अणुभाव-प्राप्ति है। यह अणुरूपी प्रमाता तव पूर्ववर्णित अष्टवर्गीय ब्राह्मी आदि शक्ति, अकारादि रुद्रशक्ति और तदुत्थ पद-वाक्य-आदि-मय असंख्य क्षुद्र शक्तियों का क्रीडनक बन जाता है। मातृकायें अणु-जीव के प्रत्येक संवेदन में ही अन्तःपरामर्शन द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शब्दानुवेध करती हैं, और वर्ग-वर्गी प्रभृति देवतागण के अधिष्ठान के द्वारा चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि भाव वा वृत्तियों को उद्भावित करती हैं। इस प्रकार आत्मा का असंकुचित स्वातन्त्र्यमय चिद्घन रूप आच्छन्न हो जाता है, और देहात्मभाव, पारतन्त्र्य और पाशबन्धन का सूत्रपात होता है। मातृका का यह लयविक्षेपकारक प्रभाव वैखरी वाक् में अत्यन्त प्रस्फुट है। चिदुन्मेष के अभाव के कारण साधारण मनुष्य वैखरी भूमि में आबद्ध रहता है—इसका लङ्घन करके मध्यमा में प्रवेश नहीं कर सकता। वैखरी वाक् का कार्यक्षेत्र स्थूल होने पर भी उसका प्रभाव अशुद्ध मनोमय स्तर, सूक्ष्म भूत और लिङ्ग-शरीर में भी लक्षित होता है। काल के आवर्त्तन में पर्यायक्रम से स्थूल और सूक्ष्मभाव का उदय-अस्त हुआ करता है। एक बार स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति होती है, पुनः सूक्ष्म से स्थूल में प्रत्यागमन होता है, तदनन्तर स्थूल से पुनः सूक्ष्म की ओर धारा बहने लगती है। इस प्रकार निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म का आवर्त्तन हुआ करता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का आवर्त्तन इस महा-आवर्त्तन का ही एकदेश-मात्र है। गति का यह आवर्त्तन-भाव वैखरी-

भूमि का वैशिष्टच है। मलिन-वासना-वशतः गति की वक्रता सम्पन्न होती है, इसलिये निम्नभूमि में आवर्त्तन स्वाभाविक है। इससे अव्याहति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है गुप्तमार्ग का अवलम्बन करके सरलगति की सहायता से ऊर्ध्वदिशा में क्रमिक आरोहण। मध्यमा के क्षेत्र से ही इसका प्रारम्भ होता है।

मध्यमा भूमि को मन्त्रमयी भूमि कहा जाता है, क्योंकि मन्त्ररूप में ही मध्यमा वाक् आत्मप्रकाश किया करती है। मन का शोधन और उसके फल से विज्ञान के द्वार के उन्मोचन का सामर्थ्यलाभ क्रमशः इस स्थान से ही हुआ करता है। मनुष्य-कण्ठ से वैखरी वाक् उत्थित होती है—उसके मूल में मानसिक चिन्ता (चेतन और अवचेतन उभय क्षेत्रों में) और मनोगत भाव वा अर्थ जड़ित रहता है। योगि-गण जिस, शब्द अर्थ और ज्ञान के साङ्कर्य की बात कहा करते हैं, उसे इस वैखरी भूमि के शब्द को लक्ष्य करके ही समझना होगा। स्मृति-परिशुद्धि के द्वारा साङ्कर्य का परिहार वैखरी भूमि से मध्यमा भूमि में प्रवेश का अनुषङ्गिक रूपमात्र है। वाक् के साथ प्राण-शक्ति एवं मनःशक्ति अविनाभूत भाव से विद्यमान हैं प्राणसूत्र को लेकर पृथिवी आदि पाँच महाभूतों का भी सम्बन्ध है। उसके अलावा चित् का सम्बन्ध तो है ही, किन्तु वैखरी के स्तर पर यह चिदंश आच्छन्नप्राय रहता है। इसका आभास साधारणतः नहीं मिलता, इसीलिये तब यह (चिदंश) रहकर भी न रहने के समान होता है। इसलिये इस भूमि में मनोमय, प्राणमय और अन्नमय इन तीन निम्नवर्ती कोशों की ओर आकर्षित रहता है। मन और प्राण के क्रियासमन्वित स्थूल-देह के प्रति आकर्षण इसी का नामान्तर है। इसीलिए इस भूमि में देहात्मबोध प्रबल रहता है। विषय के प्रति आसक्ति की तीव्रता के कारण वैराग्य, विवेक प्रभृति सुकुमार भाव अभिभूत रहते हैं। मध्यमा के क्षेत्र में नादमय चिद्रश्मियाँ नित्य विराजमान हैं। ये रश्मियाँ स्वरूपतः वैखरी भूमि में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। वैखरी में जब ये अवतीर्ण होती हैं तब नाना प्रकार के वर्ण और इन्द्रियगोचर उज्ज्वल आलोक के रूप में प्रतिभासमान होती हैं। उसके साथ चिदनुसन्धान नहीं रहता। इसलिये सूक्ष्मतम चैतन्य का मिश्र अनुभव वैखरी से उत्तीर्ण होकर मध्यमा में पहुँचे बिना नहीं मिलता।

इसीलिये जिस किसी उपाय से वैखरी से मध्यमा भूमि में उत्थान नितान्त आवश्यक है। इस उत्थान-व्यापार में एक ओर गुरुशक्ति और दूसरी ओर स्वकीय प्रयत्न अपरिहार्य है। इस क्रमिक विकास के कार्य में जप-साधन

अत्यन्त सहायक है। ईश्वर-प्रणिधान वा भजन, निष्काम कर्मयोग और भौतिक देह और चित्त का संस्कार-मूलक आत्मशोधन इस उत्थान कार्य में यथासम्भव सहायता करता है। साधक की दृष्टि इस भूमि में ही प्रत्यावर्त्तित होकर अन्तर्मुखी होना आरम्भ करती है। वैखरी भूमि में लक्ष्य रहता है बाहर की ओर और नीचे की ओर—अर्थात् मूलाधार की ओर, किन्तु मध्यमा भूमि में यह लक्ष्य परिवर्त्तित हो जाता है—तब लक्ष्य बाहर व नीचे न जा कर अन्तर वा ऊपर की ओर आकृष्ट होता है। मूलाधार के बदले सहस्रार वा गुरुधाम की ओर अथवा अखण्ड नित्य सत्ता की ओर लक्ष्य स्थापित होता है। विषयासक्ति-वर्जित चित्त तब शुद्ध होता है। भावना आदि अन्यान्य उपायों से भी मध्यमा भूमि में उत्थान हो सकता है, किन्तु जप-साधना का सौकर्य अन्यान्य साधना से अधिक है। 'मध्यमा' शब्द का अर्थ है जो दो प्रान्तों के मध्यवर्त्ती है - एक प्रान्त में दिव्य पश्यन्ती वाक् एवं अपर प्रान्त में पाशव वैखरी वाक्, इन दोनों के बीच संयोजक सेतु-स्वरुप मध्यमा वाक् क्रियाशील है। इसीलिए पशुभाव से दिव्यभाव में आने के लिये इस मध्य-पथ-रूपी सेतु का अवलम्बन लेना आवश्यक है।

पहले ही कहा गया है, वैखरी वाक् वा लौकिक शब्द में चैतन्य की रश्मि प्रच्छन्न रहती है, किन्तु मध्यमा वाक् में वह प्रच्छन्न नहीं, अपितु प्रस्फुट है। ये सब रश्मियाँ नादरूपी सूत्र का अवलम्बन लेकर अनन्त आकाश में व्याप्त हैं, इसीलिए मूलतः सब कुछ बीजात्मक है, एवं बीज विन्दुरूपी केन्द्र में नित्य अवस्थित है। वैखरी वाक् जिस प्रकार व्यक्त है, मध्यमा को उस प्रकार व्यक्त नहीं कहा जा सकता। किन्तु व्यक्तता मध्यमा में है—साथ-साथ अव्यक्तता भी है। इसीलिये अर्थात् मध्यवर्ती होने से मध्यमा को व्यक्त एवं अव्यक्त उभयात्मक कहा जाता है।

मन्त्र चिद्रश्मिमय है। वैखरी भूमि में चिद्भाव गुप्त होने से एवं वाक् असंस्कृत होने से वैखरी वर्ण को मन्त्रमय नहीं माना जाता। किन्तु स्वरूपतः उसकी मन्त्रात्मता न रहने पर भी मन्त्रमय चिद्रश्मि का वाचक होने के कारण वैखरी वर्ण से उद्भूत समस्त स्थूल विद्या को भी 'मन्त्र' आख्या दी जाती है। मीमांसकों का मन्त्रात्मक देवतावाद इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है—**'मन्त्राश्चिन्मरीचयः। तद्वाचकत्वाद् वैखरीवर्णविलासभूतानां विद्यानां मननात् त्राणता।'**

मध्यमा के उस पार पश्यन्ती वा दिव्य वाक् है। यह एक प्रकार से अव्यक्ता

है। इस वाक् से निखिल देवता प्रकाशित होते हैं—ये सब देवता सर्वज्ञ हैं, एवं समग्र विश्व के कार्य में अपने-अपने अधिकार के अनुसार व्यापृत हैं। केवल देवता का प्रकाश पश्यन्ती वाक् का कार्य नहीं है—विष्णु का परमपद पर्यन्त पश्यन्ती भूमि से ही दृष्टिगोचर होता है। सूरिगण जिस परम पद का निरन्तर दर्शन करते हैं उसे इस भूमि से ही जानना होगा। वस्तुतः पश्यन्ती वाक् में ही कारणस्थ चैतन्य की स्फूर्त्ति होती है—यही देवता का स्वरूप है। प्राचीन काल में मन्त्र-साक्षात्कार के फल से जो ऋषित्व-लाभ होता था, वह इस पश्यन्ती भूमि की प्राप्ति का ही फल है। यही आत्मा की 'अमृत कला' है—"विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्"। पश्यन्ती का स्वरूपदर्शन होने पर अधिकार-निवृत्ति होती है - 'तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्त्तते'। एक हिसाव से देखने पर पश्यन्ती के परे वाक् की और कोई उच्चतर अवस्था कल्पनीय नहीं होती। इसीलिये प्राचीन आचार्यों में से वहुतों ने वाक् को त्रिविध (त्रयी वाक्) कह कर भी उसका वर्णन किया है। किन्तु फिर भी पश्यन्ती को भी एक परा अवस्था है, ऐसा स्वीकार करना होगा। इसीलिये कोई-कोई नाम से परा वाक् स्वीकार न करते हुए भी कार्यतः 'त्रय्या वाचः परं पदम्' कह कर प्रकारान्तर से उसे स्वीकार करने को वाध्य हुए हैं।

यह परा वाक् चिन्मय और परम अव्यक्त है। इस भूमि में व्यष्टि देवता का प्रकाश नहीं है, -- समष्टि देवता वा ईश्वर-चैतन्य में समस्त वाक् परिसमाप्त हो गई है। यह वाक् सृष्टि के ऊर्ध्वतम शिखर से निम्नतम भूमि पर्यन्त समरूप से व्याप्त है। यह ऊर्ध्व सहस्रार की सर्वोच्च अग्रभूमि से उत्थित होकर मूलाधार पर्यन्त व्याप्त है; जैसे यह कहा जा सकता है, वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि यह मूलाधार के निम्नस्थित महाकारण-समुद्र में प्रकाशमान 'अधःसहस्रार' से उत्थित होकर 'ऊर्ध्व सहस्रार' के द्वादश दल में वाग्भव-कूट पर्यन्त व्याप्त है। कोई-कोई ऐसा कहा भी करते हैं। वास्तव में ऊर्ध्व सहस्रार के ही भिन्न-भिन्न स्तरों में इस वाक् का उद्भव है—उनमें से एक का (मध्यमा का) विस्तार नीचे की ओर हृदय-पर्यन्त है, द्वितीय का (पश्यन्ती का) नाभि वा उसके किंचित् निम्न- देश-पर्यन्त, एवं तृतीय (परा) का मूलाधार-पर्यन्त है। अध-ऊर्ध्व सर्वदेशव्यापी सत् रूप चैतन्य ही परा वाक् का तात्पर्य है। इसी का नाम नित्य अक्षर है।

इस अवस्था के वाद फिर शब्द की गति नहीं है। मध्यमा वाक् से इस अक्षर-ब्रह्म पर्यन्त योगी की गति शब्दब्रह्म के अन्तर्गत है। अक्षर-ब्रह्म का

भेद होते ही परब्रह्म का द्वार खुल जाता है। परब्रह्म शब्दातीत है। इसी लिये शास्त्रकारों ने कहा है **'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।'**

जहाँ तक शब्द का विकास है, वहीं तक आकाश कल्पित होता है। जो नित्य, अक्षर अथवा सत् है, उसी का नाम है परमाकाश, जिसे विभिन्न प्रस्थानों में एवं वैदिक मन्त्रादि में भी 'परम व्योम' कहकर निर्दिष्ट किया गया है। जो शब्दातीत अवस्था है, वहाँ आकाश नहीं है—वहाँ शक्ति और शिव दोनों तत्त्व अविभाज्य युग्म के रूप में विराजते हैं। युगलभाव, यामलभाव अथवा युगनद्धभाव शिव-शक्ति के इस अविनाभाव की ही सूचना देते हैं। समना और उन्मना शक्ति दोनों ही ब्रह्मशक्ति हैं—समना शक्ति-तत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म की इच्छा के अनुसार सृष्टि का विस्तार करती है, एवं उन्मना शिवतत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म के विमर्शहीन विश्वातीत रूप की ओर उन्मुख रहती है। शिव-शक्ति अभिन्न होने से किसी को भी छोड़कर कोई नहीं रह सकता। इसके बाद फिर तत्त्व नहीं है। वहीं पर तत्त्वातीत अद्वैत स्थिति है।

किन्तु इस अद्वैत के बीच भी दो दिशाओं का सन्धान मिलता है—एक अखण्ड सच्चिदानन्द की दिशा है, जो विश्वातीत होने पर भी सूक्ष्मतम ध्यान-गम्य होने से आरोपदृष्टि से कथञ्चित् वर्णनीय है, एवं दूसरी दिशा सब प्रकार से निर्विकल्प है, एवं ध्यानसमाधि के अगोचर है। प्रथमावस्था में स्व-शक्ति परिस्फुट है, द्वितीयावस्था में वह अस्फुट वा अव्यक्त है, किन्तु वह नहीं है - ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ये दोनों दिशायें भी अभिन्न हैं। वहाँ निष्कल और सकल में भी भेदकल्पना का अवकाश नहीं रहता। यही परमाद्वैत का रहस्य है। एक ही अखण्ड स्वरूप में विश्व और विश्वातीत, 'अमात्र' और 'अनन्तमात्र' (माण्डूक्यकारिका १।२९), निष्कल और सकल, निष्क्रिय और अनन्तक्रिय, अक्षर और क्षर स्वयंप्रकाश अद्वय रूप में विराजमान हैं; वहाँ काल कालातीत के साथ एक होकर प्रकाशित होता है।

(३)

परम पद में प्रविष्ट होकर स्वभाव की धारा प्राप्त करने के लिए जप अन्यतम श्रेष्ठ उपाय है, जप के नाना प्रकार भेद हैं, उनमें से बाह्य और आभ्यन्तर, ये दो प्रधान हैं। जिसे शास्त्र में वैखरी जप कह कर निर्दिष्ट किया गया है, वही बाह्य जप है, यह प्रारम्भिक क्रिया है। आन्तर जप

इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ और सूक्ष्म है; वाह्य पूजा की अपेक्षा जैसे आन्तर पूजा श्रेष्ठ है, वैसे ही वाह्य जप की अपेक्षा आन्तर जप श्रेष्ठ है। विधिपूर्वक नाना प्रकार के वर्णों का उच्चारण ही बाह्य जप का लक्षण है। इसे आचार्यों ने विकल्पात्मक संजल्प कहकर उल्लिखित किया है। जो परम पथ और परम पद के अभिलाषी हैं, उनके लिए क्रमशः वाह्य जप से विमुख होकर आन्तर जप में निविष्ट होना आवश्यक है।

प्रथम आरम्भ अवश्य वैखरी से ही हुआ करता है। कर्तृत्वाभिमान लेकर ही संकल्पपूर्वक कर्म में प्रवृत्त होना पड़ता है। कण्ठ जप ही वैखरी जप का स्थूल लक्षण है। वाचिक, उपांशु और मानसिक—ये तीनों प्रकार के जप वैखरी के अवान्तर भेद हैं। इन तीनों भेदों में 'जप करना'—यह भाव रहता है। मानस कर्म भी जिस प्रकार कर्म है, उसी प्रकार मानस जप भी वस्तुतः वखरी जप के सिवाय और कुछ नहीं है। मानस जप करने के मूल में भी कर्ता के रूप में अहंभाव अक्षुण्ण रहता है। अर्थात् 'मैं जप कर रहा हूँ' यह भाव स्फुट अथवा अस्फुट भाव से विद्यमान रहता है। इसके वाद धीरे-धीरे अवस्थान्तर का उदय होता है। तब कण्ठ-रोध हो जाता है – प्रयत्न द्वारा जप करना फिर नहीं चल सकता। कर्मकारिणी नाड़ियाँ कियदंश में स्तब्ध हो जाती हैं, तव जप अपने-आप भीतर-भीतर चलता रहता है, इसका नाम है 'जप होना'। यह स्वभाव का जप है। इसके तीन भेद हैं। पहले हृदय में जप होता है, उसके वाद द्वितीयावस्था में नाभि में होता है एवं अन्त में मूलाधार में हुआ करता है। हृदय-जप को ही मध्यमामार्ग में प्रवेश समझना होगा। उस अवस्था में नाद अपने-आप चलता रहता है। मध्यमा में प्रवेश न होने तक केवल वाह्य जप में नाद-श्रुति नहीं होती। वाह्यजप में मन्त्राक्षरों का पृथक्-पृथक् उच्चारण रहता है, इसलिए वह विकल्पमय है; इसीलिए वह प्रकृत मन्त्र नहीं है। मध्यमा भूमि में जब नाद के साथ मन्त्र स्वभावतः ध्वनित हो उठता है, तभी उसे आन्तर जप समझना होगा। अपने-अपने विषय से इन्द्रियों का संचार निरुद्ध करके आभ्यन्तर नाद का उच्चारण करना होता है।

> संयम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
> एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः॥

परम भाव की ओर जो पुनः-पुनः भावना है, वही आन्तर जप है – नाद की प्रकटावस्था है।

हृदयकमल के बीच जो आकाश दिखाई देता है, जिसे उपनिषद् में हृदयाकाश कह कर वर्णन किया है, उसमें अर्थात्—उस अनाहत प्रदेश में सर्वदा ही भगवती का आनन्दमय स्वरूप नादरूप में परिणत होकर चारों ओर संसर्पित होता रहता है। हमारा मन साधारणतः बहिर्मुख रहता है, इसलिए इस नाद का सन्धान नहीं मिलता। किन्तु जब गुरु-कृपा से मन अन्तर्मुख होता है, तब परिस्फुट भाव से इसका परिचय प्राप्त होता है। उसके प्रभाव से नेत्रों में अश्रु का उद्‌गम होता है। समस्त शरीर में पुलक व रोमांच का संचार होता है, एवं अन्यान्य सात्त्विक भावों का आविर्भाव होता है।

शुद्ध विद्याभूमि में स्थित विद्येश्वर-रूपी श्रीगुरु के मुख से निःसृत वाणी मध्यमा वाक् के रूप में आत्मप्रकाश करती है, सहस्रदलकमल के दल से हृदय-पर्यन्त इस वाणी का विस्तार अनुभूत हुआ करता है। इस वाणी के प्रभाव से माया का आवरण क्रमशः उन्मुक्त होता रहता है, और साधक का अपना स्वरूप सद्‌विद्यायुक्त होकर पुरुष और प्रकृति को एक अभिन्न ज्ञान के अन्तर्गत समझता है। नव नादों में से इसे प्रथम नाद समझना होगा।

विषय को और भी स्पष्ट करके उसकी आलोचना करने का यत्न करता हूँ। महर्षि पतञ्जलि के निर्देशानुसार मन्त्र-जप के साथ मन्त्रार्थ की भावना आवश्यक है, भावना और जप परस्पर अच्छेद्य सम्बन्ध से जड़ित हैं। आगम के रहस्यविद् गण कहते हैं कि जप के साथ मन्त्र के अवयवसमूह में छः शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुव की भावना करनी पड़ती है। छः शून्यों में से पाँच का वर्ण-वैचित्र्यमय अपना-अपना पृथक् मण्डलाकार रूप है। किन्तु षष्ठ अनुत्तर वा महाशून्य है। प्रथम पाँच शून्यों को ठीक निराकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मन का स्पन्दन जब तक रहता है, तब तक किसी न किसी प्रकार अतिसूक्ष्म आकार का संभव रह ही जाता है। किन्तु षष्ठ शून्य मन के अतीत है, इसलिए वास्तव में ही निराकार, महाशून्य है। प्रणव अथवा बीजमन्त्र के प्रथम तीन अवयव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के द्योतक हैं, उस के बाद जो सूक्ष्मतर अवयव हैं, उनमें से सभी वस्तुतः तुरीय और तुरीयातीत अवस्था के ही अन्तर्गत हैं। उन सब अवयवों के नाम इस प्रकार हैं—बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। प्रथम तीन अवयवों के साथ ये नौ सम्मिलित होकर द्वादश अवयव बन जाते हैं। इनमें से हर दूसरे अवयव की शून्य रूप से भावना करनी होती है। इसका

बहुत गहरा रहस्य है, किन्तु यहाँ उसकी आलोचना अनावश्यक है। इस प्रकार द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम और द्वादश ये छः अवयव शून्य-पद-वाच्य हैं; उनमें से प्रथम पाँच अवान्तर-शून्य हैं, एवं षष्ठ महाशून्य है। पाँच निम्नवर्ती शून्यों के वीच एक क्रम-विकाश और क्रम-लय का भाव अनुभव में आता है, जिसे साधनमार्ग में प्रविष्ट व्यक्तिमात्र ही गुरुकृपा से समझ सकते हैं।

जिस अवस्था में दश इन्द्रियों द्वारा जागतिक व्यापार निष्पन्न होता है, उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। वस्तुतः प्रकाश इसका करण है, इसलिये प्रकाश की ही जाग्रत् रूप में भावना करने का विधान है। जिस अवस्था में चतुर्विधि अन्तः-करण द्वारा व्यवहार निष्पन्न होता है, उसका नाम है स्वप्नावस्था। स्वप्न में विद्यमान अन्तःकरण-वृत्ति का लय होने पर समस्त इन्द्रियों की उपरम-रूपा जिस अवस्था का उदय होता है, उस का नाम सुषुप्ति है। सुषुप्ति-भावना का स्थान भ्रूमध्य-स्थित विन्दु में है। यह विन्दु हृल्लेखा का ऊर्ध्व-विन्दु है, ऐसा समझना होगा। स्वात्मचैतन्य की अभिव्यक्ति के लिए नाद का आवि-र्भाव ही तुरीय का स्वरूप है। अर्धचन्द्र, रोधिनी और नाद—इन तीन मन्त्रा-वयवों में इसकी भावना करना उचित है। तुरीयातीत अवस्था परमानन्द-स्वरूप है। यह मन और वाक् के अतीत है; फिर भी मन और वाक् का आभास देहावस्थान-काल में अधिकार के अनुसार किसी-किसी का रह ही जाता है। नादान्त से शक्ति, व्यापिनी और समना के वाद उन्मना-पर्यन्त तुरीयातीत अवस्था व्याप्त है। उन्मना के वाद और कोई अवस्था नहीं है।

मात्राहीन वा अमात्र शिवस्वरूप आत्मा से चित्कला का आभास विन्दु वा विशुद्ध सत्त्वरूप दर्पण में गिरकर उसमें अवस्थित स्थिरीकृत मात्रा पर आघात करता है। मात्रा के इस आभास को धारण कर पाने पर वह साधक वा योगी की योगानुभूति की भूमि के रूप में परिगणित होती है - एकमात्रा विभक्त होकर अर्द्धमात्रा का सन्धिस्थान अत्यन्त गुह्य है। स्थूल विश्व की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है उसे एक मात्रा माना जाता है। स्थूल लौकिक अनुभूति का आरम्भ इस एक मात्रा में है—मात्रा का आधिक्य जाड्यवृद्धि के कारण है। मन का समस्त क्षेत्र चेतन वा बोधमय नहीं है, उसमें अवचेतन अंश भी है। हमारी स्मृति में जो नाम या शब्दराशि संचित है वह हमारे अनुभव का ही परिणाम है। यह अनुभव स्थलविशेष में मन की एकाग्रता (कम से कम आंशिक) के फलस्वरूप उदित होता है। इसलिए

इस शब्द का स्मरण करने के साथ-साथ शब्द का अर्थ वा रूप चित्तक्षेत्र में जाग उठता है। वाचक के स्मरण से वाच्य की स्फूर्त्ति हुआ करती है। साधक का कर्त्तव्य, साधना का उद्देश्य है --अपने मन को एकाग्र करना व केन्द्र में स्थापित करना अर्थात् एक मात्रा में अवस्थित रखना। समाधि-प्रभृति के अभ्यास का प्रकृत उद्देश्य भी यही है। साधारणतः मन एक मात्रा में नहीं रहता। विक्षिप्त और क्षिप्तावस्था में चञ्चलता के फलस्वरूप मात्रा का बाहुल्य हो जाया करता है। मूढ़ावस्था की बात की आलोचना की यहाँ आवश्यकता नहीं है। मन उत्थित होकर एकमात्रा में स्थित होने पर ऊपर से ही उसमें गुरुकृपा-रूपी चिद्रश्मि का सम्पात होता है। उसके फलस्वरूप एक मात्रा स्वस्थान में एक मात्रा के रूप में अक्षुण्ण रहकर भी 'अतीत' बनने में अर्धमात्रा-प्रभृति के रूप में परिणत होती है।

यहाँ से सीमाहीन अनन्त की ओर गति की सूचना होती है—दिव्य अनुभव का आरम्भ होता है। चित्किरण-सम्पात की वृद्धि के अनुसार मात्रा का भग्नांश बढ़ता रहता है, अर्थात् मात्रांश क्रमशः क्षुद्र से क्षुद्रतर होता रहता है, एवं प्रतिफलित चैतन्य क्रमशः अधिकतर उज्ज्वल और परिस्फुट होता रहता है। जिस स्थान पर चिद्रश्मि का सम्पात होता है, उसे एकमात्रा और अर्धमात्रा की सन्धि समझा जाता है – ऊपर से एकमात्रा में इस रश्मि के आने से ऊपर की ओर एकमात्रा टूटना आरम्भ कर देती है, अथच नीचे की ओर एकमात्रा अक्षुण्ण ही रहती है।

यह एकमात्रा ही समग्र स्थूल विश्व का मध्यबिन्दु है। लौकिक विशाल जगत् इस एक मात्रा में उपसंहृत होता है, एवं यहाँ से प्रबुद्ध होकर दस दिशाओं के विभिन्न स्तरों में बिखर जाता है। इस मात्रा को एक दृष्टि से सुषुप्ति की समधर्मा कहा जा सकता है। इस दृष्टि से ही अर्धमात्रादि को तुरीय और अतितुरीय अवस्था के आभास का ज्ञापक समझा जाता है।

मन की मात्रा जितनी ही प्रसारित होती है, उतना ही मन का अंश क्षुद्रतर होता है, उतना ही चिदालोक उज्ज्वलतर होता है। अर्धमात्रादि में जो प्रतिफलित चैतन्य है, वही मन्त्र है। जो चित्त उसका आधार है उसे भी मन्त्र कहते हैं।

पहले जिस बिन्दु की बात कही जा चुकी है वही मात्रा से मात्राहीन में जाने का द्वार है। यहाँ ज्ञातृ, ज्ञेय, और ज्ञान एकाकार हो जाते हैं और

निरालम्बभाव आरम्भ होता है। साथ-साथ मात्राभङ्ग के फलस्वरूप अर्ध-मात्रा का उदय होता है। इस भूमि से ही ईश्वरभाव की पूर्वसूचना होती है ऐसा कहा जा सकता है। यह ज्योतिर्मय एकाकारता ही शून्य है। यहाँ भेदवोध एकदम नहीं चला जाता, क्रमशः अपगत होता है। वास्तव में यह द्वितीय शून्य है, फिर भी जागतिक अवस्था के ऊर्ध्व में यही प्रथम शून्य है। बिन्दु से सहस्रार में चढ़ने के पथ में कपालप्रदेश में जो सोमरस दिखाई देता है, वही अर्धचन्द्र है, जिसके भीतर त्रिविध वर्णमाला (सौम्य, सौर और आग्नेय) चिद्वीज के रूप में सहस्रार के विभिन्न दलों में प्रकाश पाती है। कपाल के ऊर्ध्व में, अथच ब्रह्मरन्ध्र के नीचे, त्रिकोण के बीच रोधिनी की अवस्थिति है। यह ब्रह्मादि कारण-पञ्चक को, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र. ईश्वर और सदाशिव नामक पाँच जगत्पतियों को ऊर्ध्वगति से निवृत्त करती है; इसलिये इसका नाम रोधिनी है। कोई-कोई इसे निरोधिका भी कहते हैं। रोधिनी तक ही बिन्दु का आवरण है। इसे भी शून्य-रूप में ही समझना होता है। यहाँ दिक् और काल का पार्थक्य मन में नहीं रहता। इसके अलावा निम्न-वर्त्ती मन और प्राण-कणा का अनुभव भी यहाँ नहीं रहता। इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र के मुख में नादस्थान है। मन्त्र-महेश्वररूपी महापुरुष-गण के द्वारा यह परिवृत है। नाद के अन्तर्गत भुवनपञ्चक की मध्यवर्त्ती शक्ति ऊर्ध्वगा के नाम से प्रसिद्ध है। यहीं से शुद्ध चिद्वोध का सूत्रपात होता है। ब्रह्म-रन्ध्र में नादान्त है। यह भी शून्यरूप में भावनीय है। नाद वा चित् को यहाँ सद्भाव से प्ररूढ़ कहा जा सकता है। ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्णा के ऊपर है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर शक्ति का स्थान है। यही ऊर्ध्वकुण्डली प्रसुप्त भुजगाकार एवं ऊर्णा-तन्तु (मकड़ी के जाले) के समान है। अनुन्मिषित समस्त विश्व इन्हीं के गर्भ में अवस्थित हैं, इसीलिए ये विश्वाधार हैं। जितने भी तत्त्व और भुवन हैं, वे इसी का आश्रय लेकर विद्यमान हैं। इस स्थान पर एक अव्यक्त आनन्द का अनुभव होता है।

इसके बाद व्यापिनी का अधिकार है। वस्तुतः शक्ति की केन्द्रस्थिता कला ही व्यापिनी नाम से परिचित है। किन्तु शक्ति से व्यापिनी पृथक् है। पृथिवी-पर्यन्त सब कुछ शक्ति-तत्त्व का ही प्रपञ्च है। एक दृष्टि से देखने पर शक्ति-तत्त्व ही अनाश्रित भुवन है, जिसमें व्यापिनी के बीच शिवतत्त्व अवस्थित है। अनाश्रित भुवन के चारों ओर व्यापिनी, व्योमात्मिका अनन्ता और अनाथा नामक शक्तियों का अवस्थान है—मध्य में अनाश्रिता शक्ति

विराजमान है। व्यापिनी भी शून्यरूप में कल्पनीय है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। किसी-किसी ने व्यापिनी को ही महाशून्य मान लिया है। वस्तुतः यह महाशून्य नहीं है, इसके बाद भी शून्य है। यहाँ साकार और निराकार का भेद तिरोहित हो जाता है। यहाँ की अनुभूति एक अद्वय आत्मानुभूति की अङ्गीभूत है। व्यापिनी के बाद व्यापिनी-पदावस्थित अनाश्रितभुवन के ऊपर समना है। यह ब्रह्म-बिल के बाहर है और अतीत मन का स्थान है। यहाँ मन नहीं है, अथच मन है। नादान्त से ही इस अतीत मन की सूचना मिलती है। सूक्ष्म समष्टि मन नाद में ही परिसमाप्त होता है—उसके बाद ही अतिमानस है। समना ही सब कारणों की कर्तृभूता, महेश्वर की परा शक्ति है। पूर्णब्रह्म की ईक्षणशक्ति अवतरण-क्रम में समना के रूप में उतर कर समष्टि-मन में सञ्चारित होती है। परमेश्वर सृष्टि आदि पाँच प्रकार के कृत्यों को समना में आरूढ़ होकर ही सम्पादन करते हैं। समना का दूसरा छोर उन्मना है—यह अतीत मन के भी अतीत है। आत्मा के विकल्परहित केवल स्वरूप में अवस्थान का बोध यहीं पर होता है। यह अमेय और अनिर्देश्य है। नव नादों में से यही नवम नाद है। बिन्दु में जिस नादसमूह की सूचना है, उन्मना में उसकी समाप्ति है। यही प्रकृत महाशून्य है। श्रीमाता की महाकरुणा के बिना इसका भेद नहीं किया जा सकता। इसके बाद फिर शब्दब्रह्म नहीं है—अथवा शब्द-ब्रह्म ही परब्रह्म वा अद्वैत-आत्मस्वरूप में स्वयं प्रकाशित होता है।

जप की आनुषङ्गिक भावना के साथ संसृष्ट छः शून्य और पाँच अवस्थाओं का किंचित् आभास दिया गया। अब सात विषुवों की बात यथासम्भव संक्षेप से लिखने का यत्न करता हूँ। विषुवसप्तक के प्रचलित नाम इस प्रकार हैं--प्राण-विषुव, मन्त्रविषुव, नाड़ी-विषुव, प्रशान्तविषुव, शक्तिविषुव, कालविषुव, और तत्त्वविषुव। प्राण, आत्मा और मन के परस्पर योग को प्राणविषुव कहते हैं। अभिव्यज्यमान नाद को जापक की अपनी आत्मा समझ कर भावना करना मन्त्रविषुव का तात्पर्य है। मूलमन्त्र के द्वारा छः चक्र और द्वादश ग्रन्थियों का क्रमशः भेद होने पर मध्यनाड़ी में नादस्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त बीज-शिखरवर्त्ती नाद उच्चारित होने पर नाड़ीविषुव-रूप स्पर्श उद्भूत होता है। नादान्त-पर्यन्त मन्त्रावयव की शक्ति में लय-भावना प्रशान्त-विषुव के नाम से अभिहित है। शक्ति-मध्यगत नाद के समना-पर्यन्त चिन्तन को शक्ति-विषुव कहा जाता है। यहाँ तक काल का

खेल है, क्योंकि समना तक ही काल की सीमा है। वस्तुतः काल की सीमा के वाद भी नाद है। कालातीत उन्मना-पर्यन्त नाद के चिन्तन को काल-विषुव कहते हैं। उन्मना में काल नहीं है, किन्तु यह भी परम तत्त्व नहीं है। काल विषुव के वाद तत्त्वविषुव अङ्गीकृत होता है। नाद ही तत्त्व का अभिव्यञ्जक है, किन्तु जब तक नाद का प्रकृत अन्त नहीं होता तब तक तत्त्वबोध नहीं होता। नादान्त तो दूर की बात, शक्ति में वा समना में भी नाद का अन्त नहीं होता। शाक्त योगि-गण उन्मना को भी नाद का अन्त नहीं मानते। उन्मना के ऊर्ध्व में उन्मना भेद करने के साथ-साथ नाद लीन होता है। तव तत्त्ववोध वा आत्मसाक्षात्कार स्वभावतः हो जाता है। इसीलिए तत्त्वविषुव को ही चैतन्य का अभिव्यक्ति-स्थान कहना उचित है।

इसके वाद ही परम पद है। यह छः शून्य, पाँच अवस्था और सात विषुव के कोलाहल के अतीत है, विश्व की परम विश्रान्ति-भूमि और परमानन्द-स्वरूप है। यही परमशिव की अवस्था है। तान्त्रिक योग में निष्णात परम योगि-गण कहते हैं कि उन्मना तक सब मन्त्रावयवों के १०८१७ वार उच्चारित होने पर नाद का अन्त और तत्त्वज्ञान का उदय होता है और परमपद की प्राप्ति होती है। मन्त्र-जप के साथ मन्त्रार्थभावना आवश्यक है यह वात पहले कही गई है। अर्थज्ञान के विना अर्थभावना नहीं हो सकती। शास्त्र में वहुत प्रकार के मन्त्रार्थों का विवरण मिलता है, उनमें से भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ ये प्रधान हैं। किसी-किसी मत में १६ प्रकार के अर्थों का वर्णन भी दिखाई देता है। मन्त्र के अवयवभूत अक्षरों का अर्थ ही भावार्थ है। सर्वकारण-कारण पूर्ण परमेश्वर ही सब मन्त्रों के मूल गुरु हैं। उनके मुख से स्वीय मन्त्रों का उद्भव और उनके अवतरण-क्रम व परंपरा का ज्ञान ही मन्त्र का सम्प्रदायार्थ-ज्ञान है। परमेश्वर, गुरु और निज आत्मा का ऐक्यानुसन्धान निगर्भार्थ है। परमेश्वर निष्कल, निरवयव हैं—गुरु भी वही हैं। निष्कल परमेश्वर का जो स्वात्मरूप से साक्षात्कार करते हैं वही गुरु हैं। इसीलिए गुरु और परमेश्वर अभिन्न हैं। चक्र, देवता, विद्या, गुरु और साधक का ऐक्यानुसन्धान ही कौलिकार्थ है। मूलाधारस्थ कुण्डली-रूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है, ऐसी भावना का नाम रहस्यार्थ है। निष्कल, अणु से अणुतर और महान् से महत्तर, निर्लक्ष्य, भावातीत, व्योमातीत, परमतत्त्व के साथ प्रकाश-आनन्द रूप से विश्वातीत और विश्वमय निजगुरु-प्रवोधित निर्मल स्वभाव वाले स्वकीय आत्मा का ऐक्यानु-प्रवेश महातत्त्वार्थ है। इन सब अर्थों

के विज्ञान के फलस्वरूप पाशात्मक विकल्पजाल सम्यक् प्रकार से निवृत्त होता है।

इस देह-रूप विश्व में अधः ऊर्ध्व भाव से तीन स्तर हैं। प्रथम स्थूल वा सकल है, द्वितीय सूक्ष्म वा सकल-निष्कल है, एवं तृतीय कारण वा निष्कल है। प्रथम स्तर अकूल से आज्ञा-चक्र तक विस्तृत है। सुषुम्णा नाड़ी का मूलस्थ ऊर्ध्वमुक्त रक्तवर्ण सहस्रदल कमल ही अकूल-पद-वाच्य है। सुषुम्णा का शिखरस्थ अधोमुख श्वेतवर्ण सहस्रदल भी एक प्रकार से वैसा ही है।

उभय के अन्तराल में सुषुम्णा के बीच विभिन्न प्रकार के आधार-कमल ग्रथित हैं। दूसरे स्तर का विस्तार आज्ञाचक्र के ऊपर बिन्दु से उन्मना तक है। तृतीय स्तर महाबिन्दु है, जो उन्मना के अतीत और देशकाल द्वारा अपरिच्छिन्न है। इस त्रिभूमिक देहरूप विश्व में जो अधिष्ठाता होकर विराजमान हैं वे पूर्णब्रह्मरूपी आत्मा हैं। वे विश्वात्मक होकर भी विश्वातीत हैं, एवं विश्वातीत होकर भी विश्वात्मक हैं। जपसाधना की परम सिद्धि इस आत्मस्वरूप में स्थितिलाभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

(४)

भूमिका संक्षेप में लिखने की इच्छा थी, फिर भी कुछ दीर्घ हो गई है। जप के सम्बन्ध में शास्त्रोपदेश का मर्म क्या है, इसका यत्किंचित् आभास देना ही भूमिका का उद्देश्य है - मूलग्रन्थ का तात्पर्यविश्लेषण करना इसका उद्देश्य नहीं है। भूमिका के क्षुद्र परिसर में वह सुसाध्य भी नहीं है। विद्वान् और बहुदर्शी ग्रन्थकार ने आभ्यन्तरीण प्रेरणा के अनुसार ग्रन्थ की रचना करके अपना कर्त्तव्य-समाधान किया है। उनका सुदीर्घकाल का अक्लान्त परिश्रम, गम्भीर चिन्तन, उदार समन्वयदृष्टि एवं सर्वोपरि आत्मानुभव के उल्लास का निदर्शन इस महान् ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति में देदीप्यमान है। इसीलिये इसकी प्रशंसा किये विना मैं नहीं रह सका। ग्रन्थकर्त्ता ने ग्रन्थ लिखा है यह सत्य है, किन्तु वे लिपिकर-मात्र हैं। उनकी पूतलेखनी को निमित्तरूप में ग्रहण करके विश्वगुरु ने ही कालोपयोगी आकार में इसमें आत्मप्रकाश किया है। जो परम-पथ में प्रविष्ट हैं, अथवा प्रविष्ट होने के इच्छुक हैं, वे आन्तरिकता के साथ इस ग्रन्थोक्त तत्त्वमाला का यदि मनन कर सकेंगे तो अवश्य उपकृत होंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

मैंने ग्रन्थोक्त किसी पदार्थ की आलोचना करने का यत्न नहीं किया है, क्योंकि आलोचना करने जाएं तो सभी विषयों की आलोचना आवश्यक है। ग्रन्थ की विस्तारित समालोचना पृथक् भाव से कोई कृती लेखक अदूर भविष्य में करेंगे, ऐसी आशा रखता हूँ। स्वानुभूति, सद्‌युक्ति और वर्त्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ शास्त्रीय सिद्धान्त का ऐसा अपूर्व समन्वय करने का यत्न मैंने और कहीं नहीं देखा है। श्रीभगवान् की कृपा से परम श्रद्धेय स्वामीजी स्वस्थ शरीर से दीर्घजीवी होकर इस आरब्ध महान् कर्म की सुष्ठुभाव से परिसमाप्ति करके अध्यात्म-साहित्य का पुष्टिवर्धन और जिज्ञासु भक्तों का प्रकृत कल्याण-विधान करें, यही मेरी प्रार्थना है।

श्रीगोपीनाथ कविराज

———

ग्रन्थकार (पुर्वाश्रम में)

श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय

पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी प्रत्यगात्मानन्दजी सरस्वती

एक परिचय

आज गुरुपूर्णिमा है, गुरु-वन्दना का पावन दिवस। गुरु, जिसे भारतीय संस्कृति और विचार-धारा में गोविन्द से भी श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है:

यदुक्तिभानू रजनीमिवार्कः
तमोविनाशी कृपयोपविष्टः।
अगाधबोधं परमं गुरुं तं
नमामि भक्त्या परमात्मरूपम् ॥

(वेदान्तपरिभाषा की 'मणिप्रभा' टीका का मङ्गलाचरण)

आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व ऐसी ही गुरु-पूर्णिमा के दिव्य भोर की प्रथम किरण के साथ ही मैंने परम पूज्यपाद स्वामीजी के दर्शन किये थे। उन दिनों स्वामीजी मेरे तत्कालीन गृह-स्वामी श्री गौरीशंकर मुखोपाध्याय के यहाँ ठहरे हुए थे। गौरी बाबू ने बहुत पहले ही पूज्य स्वामीजी की प्रशंसा करते हुए कहा था "वे साक्षात् शिव-रूप महायोगी, परम सिद्ध विचारक, गूढ़ दार्शनिक और मर्मी रहस्यवादी हैं"। तभी से मेरी तीव्र उत्कण्ठा थी कि मैं पूज्यपाद के दर्शन करूँ और एक दिन गुरुपूर्णिमा के प्रातः उनके श्रीचरणों में जा ही बैठा। आज भी वह सहज अलभ्य दिव्य मुस्कान, वह अनुग्रहात्मक वरदहस्त और स्नेह-संवलित आशीः स्मरण है, जिसने एक पथविहीन, विभ्रान्त, संशय-ग्रस्त और वैचारिक ऊहापोह में जकड़े हुए अहं को अपनी मौन, पर अजेय शक्ति और मुस्कान से गति और मति दी थी। उस दिन अनायास गया था, पर सायास लौटा, लगा जैसे किसी अयस्कान्त पर्वत के निकट लौहवत् बैठा हूँ और एक दुर्निवार आकर्षण मुझे बरवस उनकी ओर खींचता ही जा रहा है। कामायनी के मनु की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आयीं:

"तम-जलनिधि का बन मधु-मन्थन, ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन;
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन, आलोक-पुरुष ! मंगल चेतन !

(कामायनी, दर्शनसर्ग, पृ० २६४)

मेरा मन द्रवीभूत हो रहा था, पर पूज्य स्वामीजी सहज भाव से शान्त और निर्निमेष दृष्टि से मुझे देखते हुए केवल मुस्करा रहे थे। आज भी वह काल-

जयी मुस्कान अनेक बार जीवन के तिमिराच्छन्न क्षणों में दिव्य आलोक की पावन दिशा-रेखा बन मेरा पथ सँजोती रहती है। आज भी अनेक वर्षों के उपरान्त लगता है, जैसे उसी द्रवीभूत मन से मैं उनके श्रीचरणों में बैठा हूँ लौहवत, एक बृहत् अयस्कान्त पाषाण पर्वत के निकट।

पूज्य स्वामीजी का सांसारिक नाम श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय था। उनका वर्तमान संन्यास नाम श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती उन्हीं का दिया हुआ है। पूज्य स्वामीजी का जीवन प्रारम्भ से ही महत् दैवी शक्ति-अनुप्राणित तप, त्याग और साधना का जीवन रहा। यद्यपि स्वामीजी ने यथावत् संन्यास लगभग ५० वर्ष की आयु में लिया, फिर भी प्रारम्भ से ही वे पूर्ण संन्यासी, अपरिग्रही और साधक ही रहे। श्री पूज्यपाद का जन्म बंगाल के मालदह जिले में जन्माष्टमी के दिन सन् १८८० में हुआ था। आपके पिता श्री मधुसूदन मुखोपाध्याय वर्धमान जिले में उच्च सरकारी पदाधिकारी थे। जन्म के साथ ही आपकी पूज्या मातुश्री का स्वर्गवास हो गया। इसीसे आपका लालन पालन अपकी विमाता ने किया। आप के अग्रज श्री मन्मथनाथ मुखोपाध्याय बंगाल में दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध प्राध्यापक थे। स्वामीजी ने भी दर्शन-शास्त्र में ही एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। विद्यार्थी जीवन में ईडन छात्रविास में भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद भी आपके साथ ही रहते थे। १९ वीं शताब्दी का अंतिम चरण एक ओर हमारी राजनीतिक चेतना का अग्रदूत रहा तो दूसरी ओर हमारे नव्य जातीय आन्दोलन की भूमिका भी। इसी समय बंगाल में नूतन अध्यात्मवाद की जो लहर स्वामी रामकृष्ण परमहंस के द्वारा फैली, उसने राजनैतिक पराधीनता के बीच हमें अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक परम्पराओं के प्रति आकृष्ट कर, मिथ्या अन्धविश्वास और संकीर्ण जातिवाद के विरुद्ध उद्‌बुद्ध किया। पूज्य स्वामीजी ने भी अपने प्रारम्भिक जीवन में इन सब आन्दोलनों में भाग लिया था। सन् १९०५ के वंगभंग आन्दोलन के वे सक्रिय कार्यकर्त्ता थे। श्री अरविन्द के साथ आपने स्वदेशी आन्दोलनों में भाग लिया था; यही नहीं, 'नेशनल काउन्सिल ऑफ़ एजूकेशन' की स्थापना में योगी श्रीअरविन्द के साथ आपका भी प्रमुख हाथ रहा। इसी संस्था का परवर्ती वृहत् रूप आज का यादवपुर विश्वविद्यालय है। श्यामसुन्दर चक्रवर्ती के पश्चात् आप तत्कालीन प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक "सर्वेण्ट" के सम्पादक भी रहे।

स्वामीजी ने अपना जीवन एक अध्यापक के रूप में प्रारम्भ किया। वे कलकत्ता के प्राचीनतम संस्कृत महाविद्यालय में प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् श्री

मुरलीधर वन्द्योपाध्याय के संस्कृत सहकारी के रूप में रहे। इसके पूर्व स्थानीय रिपन कालेज में भी दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। रिपन कालेज में पूज्यपाद श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी के आग्रह से गए। उन दिनों श्रीअरविन्द मानकतोला कालेज के प्राचार्य थे। पूज्यपाद ने प्राचीन दर्शन के साथ-साथ आधुनिक विज्ञान का समन्वय करने के लिए भौतिकी और रासायनिकी शास्त्रों का भी गूढ़ अध्ययन किया। योग और तंत्र-शास्त्र-सम्वन्धी परवर्ती ग्रन्थों में जो विज्ञान-सम्मत दुर्लभ दृष्टि दिखाई पड़ती है, वह इसी अध्ययन का परिणाम है। अध्यापकीय जीवन से निवृत्त होने पर स्वामीजी ने अपना सम्पूर्ण जीवन एक ओर योग-साधना में लगाया, तो दूसरी ओर उसकी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के अध्ययन में। पूज्यपाद स्वामीजी की दृष्टि प्रारम्भ से ही ग्रन्थरचना की ओर रही। संन्यास के पूर्व उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो गये थे, जिनमें "एप्रोचेज़ टू ट्रुथ" "भारतवर्ष का वेदविज्ञान' कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिये गये 'वेदान्त की भूमिका' के व्याख्यानों का ग्रन्थवद्ध प्रकाशन, 'पेटेन्ट वन्डर' के अतिरिक्त 'चलार पथे फिरार पथे' उपन्यास और 'मर्मवाणी' शीर्षक कविता-संग्रह मुख्य हैं। तदनन्तर पूज्यपाद ने नयहट्टी में 'शरदशारदा आश्रम' और खुलना ग्राम में 'आनन्द निकेतन' की स्थापना की। 'आनन्द निकेतन' अनेक वर्षों तक आपका साधनास्थल रहा। देश-विभाजन के समय खुलना में साम्प्रदायिक झगड़ा और रक्तपात हो रहा था, परन्तु द्वेष और कलह, हत्या और पाशविकता के मध्य उस समय मुसलमानों ने ही आश्रम की रक्षा की और स्वामीजी को, अपने ही धर्म और समाज के गुरु जैसा सम्मान दिया। विभाजन के अनन्तर आप भारत चले आये और तब से यहीं वास करते हैं। अभी कुछ वर्षों से कलकत्ता के निकट 'गरिया' पल्ली-ग्राम में आपने 'सारस्वत आश्रम' की स्थापना की है। 'सारस्वत आश्रम' प्राचीन तपोवन की ऋषिकुल-परम्परा का ही वर्तमान रूप है। स्वामीजी ने न तो किसी गुरु से यथावत् दीक्षा ली और न किसी से संन्यास ही। आप स्वसंन्यासी और स्वदीक्षित हैं। तन्त्र शास्त्र के प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक सर जॉन वुडरफ़ ने, जिन्होंने आर्थर एवलन के नाम से तंत्र शास्त्र पर अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे, स्वामीजी को अजस्र प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकार किया है। 'महामाया' ग्रन्थ के लेखक-द्वय में आपका नाम भी सर जॉन वुडरफ़ ने दिया। यही नहीं, अनेक स्थलों पर सर जॉन वुडरफ़ ने स्वामीजी को सखा, स्नेही, सहयोगी और गुरु के रूप में स्मरण किया है।

जिस महत् आगम की रचना पूज्य स्वामीजी ने की और जो बंगला भाषा में ६ खंडों में प्रकाशित हुआ है, वह है 'जपसूत्रम्,' जिसके प्रथम खंड का हिन्दी अनुवाद सुश्री प्रेमलता शर्मा द्वारा अब प्रकाशित किया जा रहा है। 'जपसूत्रम्' एक परम सिद्ध योगी की रचना है, जिसकी तत्त्व-दृष्टि का मूल आधार साधना-राज्य के दुर्लभ अनुभव हैं, केवल 'पढ़ी पढ़ायी विद्या' नहीं। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज प्रभृति विद्वानों ने इसे 'आगम' कोटि का ग्रन्थ गिना है। स्वामीजी प्रचलित अर्थ में 'तान्त्रिक' नहीं हैं, परन्तु उन्हें सभी विद्वानों ने तंत्र-शास्त्र का एक मात्र जीवित अधिकारी विद्वान् और योगी गिना है। दाक्षिणात्य भास्कराय की कृतियों के उपरान्त भारतीय साधना-राज्य के क्षेत्र में ऐसा समर्थ ग्रन्थ दूसरा नहीं लिखा गया। 'जपसूत्रम्' के अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थों की रचना पूज्यपाद ने की है, जिनमें 'यंत्रम्' आदि मुख्य हैं। पूज्य स्वामीजी रहस्यवादी कवि हैं। रहस्यवाद मूलतः एक सिद्धान्त न होकर आध्यात्मिक जीवन-प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। वह महायोगी की परम अनुभूति है, जिसका समस्त बाह्य और आभ्यंतरिक द्वैत नष्ट होकर, समरसता और भूमा के विराट् सत्य और स्वरूप-विश्रांतिमूलक आनन्द में परिणत हो, अपने पर-अस्तित्व व अद्वय-भाव में व्यक्त होता है। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति में व्यष्टि-समष्टि से ज्ञान-विज्ञान के समीकरण के साथ, एकता का बोध कर गति और आगति की पूर्णता द्वारा अन्तर्वाह्य के तादात्म्य में अभेद और अद्वय-स्थिति प्राप्त करता है। जीव और ब्रह्म के एकात्म की इस महानुभूति की अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है—"आई मीन यू,' 'मल्ली-वीथिका' आदि पूज्यपाद के अनेक काव्य-ग्रन्थ इसी कोटि में आते हैं। जिस अर्थ में सिद्ध योगी श्रीअरविन्द कवि थे, उसी अर्थ में पूज्यपाद भी हैं। ईशावास्य उपनिषद के अनुसार "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः"। वैदिक अर्थ में कवि वह है, जो अमर सत्य-लोक का अधिष्ठाता होता है,—सूर्यलोक का द्रष्टा। साधना राज्य की गूढ़तम गुत्थियों को पूज्यपाद स्वामीजी ने अपने काव्य में सुलझाया है, पर उनका मर्म और रहस्य समझने के लिए सन्त कवि तुलसीदास ने वहुत पूर्व कह दिया था,

'जे श्रद्धा सम्बल रहित, नहिं संतन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ'।

'मानस' ही नहीं, 'मानस' की कोटि में आने वाले समस्त ईश्वर-ग्रन्थों के लिए भी यही सत्य है। पूज्यपाद स्वामीजी का जन्म ही एक रहस्यवादी की भाँति हुआ था। शैशव से ही आपके ललाट-क्षेत्र में नाद-रूप ज्योतिष्पुंज दीपक सहज भाव से स्वतः मूर्त हो उठता था। रहस्यात्मक प्रतीक, एवं अध्यात्म-

ग्रन्थों के गूढ़ अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाते थे। यहां तक कि योगाभ्यास भी जैसे प्रस्तुत ही रहता था।' युवावस्था में प्रकृति में कुछ सहज अन्तर आ गया और पूज्यपाद, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, भौतिकी और दर्शन के गहन अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। तत्पश्चात् साधना-क्षेत्र में पूज्यपाद ने रागानुगा-भक्ति-संवलित परम-प्रेम-स्वरूप आत्मसमर्पण का मार्ग अपनाया। शनैः २ साधना का यह अतीन्द्रिय स्वरूप बाह्य रूप में पुनः सुष्ठु और मूर्त्त हो गया —आज पूज्यपाद का यही वाह्य व्यक्ति-रूप हमें प्रतीत है। शान्त, प्रकृत, आत्मलीन, पर दिव्य मुस्कान-युक्त सहज, गंभीर और स्थितप्रज्ञ, जिसके लिए गीता में कहा गया है: **"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ"** : इस प्रकार पूज्यपाद का समस्त जीवन एक ओर वैयक्तिक साधना का तो दूसरी ओर लोक-मंगल का; एक और भाव, विचार और चिन्तन का तो दूसरी ओर एक निःस्पृह कर्मयोगी का जीवन रहा है। संन्यास के अनन्तर इस जीवन-क्रम में एक विचित्र परिवर्तन आया—यह परिवर्तन एकान्त, मौन और साधना का परिवर्तन था आध्यात्मिक प्रयोगशाला के प्रयोक्ता का। 'जपसूत्रम्' इसी प्रयोगशाला का परिणाम है। इसकी रचना अन्य लौकिक ग्रन्थों की भाँति सायास या कल्पना-प्रसूत नहीं हुई, परन्तु हुई आभ्यंतरिक प्रेरणा और प्रातिभ शक्ति से। अज्ञात दिव्य प्रेरणा सहज भाव से अकृत्रिम रूप में अभिव्यक्त होती गई। आज भी पूज्यपाद अन्य आध्यात्मिक गुरुओं की भांति न तो किसी शिष्य-परम्परा में विश्वास रखते हैं और न किसी सम्प्रदाय-विशेष में। विशुद्ध आत्मसिद्ध योगी की भाँति पूज्यपाद न प्रचार चाहते हैं और न कोलाहल। दर्शनार्थियों का जमघट भी साधक की प्रकृत अवस्था को नष्ट कर देता है। यह सर्वोच्च आत्मलीनत्व और एकान्त हमें ईसाई धर्म की 'दिव्य शैशवावस्था' का स्मरण कराता है। जैकब को लिखे गये अपने एक पत्र में स्वामीजी ने अपने इस अनभिव्यक्त मौन-संलाप और रहस्यात्मक चिन्तन को, जो गुह्य और सांकेतिक होता है, स्पष्ट किया है। वे इसी मौन के व्रती हैं।

पूज्यपाद स्वामीजी भाषा और भाव के अनुपम धनी हैं। जितना अधिकार उनका बंगला और संस्कृत पर है, उतना ही अंग्रेज़ी पर। यही कारण है कि संस्कृत के साथ-साथ उन्होंने अनेक अंग्रेज़ी ग्रन्थों की रचना की है। परन्तु एक दिन अंग्रेज़ी पर जो सहज अधिकार था, वह उन्हें अब रुचिकर नहीं लगता, कारण, वह भाषा नाद-शक्ति और उसके दिव्य कलात्मक विन्यास को विघटित कर देती है। वेखरी से परा तक का आरोह कट जाता है।

बाहर से जब विदेशी विद्वान् भारत में इस देश के तपःपूत, त्यागी मनीषियों, सिद्ध-प्राप्त योगियों और दार्शनिकों से मिलने आते हैं, तब स्वामीजी के दर्शन करना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। कई बार राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने स्वयं ऐसे विद्वानों को स्वामीजी के पास भारतीय दर्शन, योग, तंत्रशास्त्र से परिचित होने के लिए भेजा, जिनमें आधुनिक मनोविज्ञान के प्रसिद्ध जर्मन् लेखक श्री जैकब और आस्ट्रेलिया के प्रोफेसर रेनर सी जानसन '(दी इम्प्रिज़ण्ड स्प्लेण्डर' के लेखक) उल्लेखनीय हैं। श्री जैकब ने अपने व्यक्तिगत पत्रों में स्वामीजी के अलौकिक प्रभाव और उनके दिव्य ग्रन्थ का वर्णन करते हुए उन्हीं के चरणों में रहने की अभिलाषा व्यक्त की है। अपने ग्रन्थ 'Western Psycho-therapy & Hindu Sadhana' में श्री जैकब ने पूज्यपाद के दिव्य प्रभाव को सादर स्वीकार किया है। यही सब कारण थे कि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के तत्त्वाधान में किये गये अखिल भारतीय तंत्र सम्मेलन, १९६५: की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिए पूज्य स्वामीजी से अनुरोध किया गया और आपने अनिच्छापूर्वक ही वह अनुरोध स्वीकार किया। पाल ब्रन्टन ने एक दिन दुर्लभ : गुप्त नहीं : भारत की दुर्लभ खोज प्रारम्भ की थी। ज्ञान-पिपासु श्री ब्रन्टन इस देश के गाँव-गाँव में घूमकर इसकी शक्ति का संधान करते गये और कहते गये कि कैसा अद्भुत है आर्यों का यह देश ! कैसी दिव्य हैं इसकी महान् विभूतियाँ, और इसकी आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्पराएँ, दिव्य हैं यहाँ के योगिराज, जिन्होंने "**ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्** (श्वेता० उप० १।३)। पूज्यपाद परम श्रद्धेय स्वामीजी इन सबके शुभ्रतम, धन्यतम और दिव्यतम प्रतिरूप हैं। यही कारण है कि आज गरिया का 'सारस्वत तपोवन' देश-विदेश के ज्ञान-पिपासु आबाल-वृद्ध नर-नारियों का पावन तीर्थ बना हुआ है; उनके आध्यात्मिक अभ्युदय और निःश्रेयस् आत्मोपलब्धि का दिव्योज्ज्वल सूत्रधार !

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(श्वे० उप० ६।२३)

अशेष वंदनाओं के साथ,

कलकत्ता
गुरुपूर्णिमा,
वि० सं० २०२३

कल्याणमल लोढ़ा
अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय।

———

प्रस्तावना

(मूल प्रथम खण्ड से उद्धृत)

जिस अभिनव ग्रन्थ के प्रकाशन में हम व्रती हुए हैं, उसकी भूमिका का कोई प्रयोजन नहीं है। मूल ग्रन्थ की विस्तारित भूमिका के रूप में जप के सम्बन्ध में पूज्यपाद स्वामीजी के ही कुछ-एक भाषण और निवन्ध एकत्र संकलित करके निविष्ट किये गये हैं। फिर भी ग्रन्थ अपने अभिनवत्व के कारण पाठकों को दुर्बोध्य रहस्यमय लग सकता है, ऐसा सोचकर ही मूल विषयवस्तु के सम्बन्ध में यहाँ दो-चार बातें कहने का यत्न किया जा रहा है। यहाँ इतने विभिन्न, विचित्र और गम्भीर विषयों का समावेश और अवतारणा की गई है कि मूल चिन्ताधारा का सन्धान न मिलन पर बहुत से लोग शायद लक्ष्य में 'अपारग' बन बैठें। इसलिये संक्षेप में उस मूल धारा के अनुसरण व अनुसन्धान की चेष्टा की जा रही है।

ग्रन्थ के नामकरण से ही यह सुस्पष्ट है कि इसकी विषय-वस्तु है जप। अध्यात्मसाधना की गति बहुमुखी और विचित्र है, एवं आपात-दृष्टि से इनमें परस्पर विरोधिता है, फिर भी कोई भी धर्म-मत इस जप-रूप महा-कर्म का परित्याग वा अवहेलना नहीं कर सका है। यह सभी साधनाओं के अपरिहार्य अङ्ग के रूप में चिरदिन गृहीत और समादृत होता आया है। विशेषतः हिन्दू साधना की यही मूलभित्ति है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि यह जो जप-रूप सनातन साधन-धारा है, यह तो चिरकाल से चली आ रही है, अनेक साधक-महाजन इसके अनुशीलन में तत्पर हुए हैं, सिद्धि के शिखर पर चढ़कर कृतार्थता को भी प्राप्त हुए हैं,--तव फिर इस विषय को लेकर ऐसे विशाल ग्रन्थ की अवतारणा का क्या प्रयोजन था? प्रयोजन है—इस चिर-प्रसिद्ध और सुप्रसिद्ध जप-रूप अनुष्ठान का जो अत्यावश्यक ज्ञातव्य विषय है, उसके सम्बन्ध में हमारी जो घोर अज्ञता है, उसे दूर करना। यह ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा इसीलिए जागी है कि प्रायः सर्वत्र ही देखा जाता है कि इस परम प्रयोजनीय और रहस्यमय कर्म के सम्बन्ध में अपरिसीम अज्ञता विद्यमान है। जप से क्या समझना चाहिये, कैसे जप करना चाहिये, कैसे करने पर जप यथार्थ 'समर्थ' वा फलवान् होता है, क्यों साधारणतः जपादि करके कोई फल समझ में नहीं

आता · इन सब विषयों में हम कोई अनुसन्धान नहीं करते; जिज्ञासा का भी उदय नहीं होता। यदि जिज्ञासा जागती भी है तो सदुत्तर नहीं मिलता। हम केवल यान्त्रिक भाव से (mechanically) जप करते चलते हैं, माला घुमाते चलते हैं, अन्त में शायद विरक्त या हताश होकर इस अनर्थक कर्म के अर्थहीन आवर्तन से चिरदिन के लिये विदा ले लेते हैं। साधना के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा ही मौलिक व मर्मी जिज्ञासा है :—वास्तव में किस पद्धति (right technique) के अनुसार जपकर्म करना चाहिये? इसी का सदुत्तर सर्वप्रथम आवश्यक है। यह आवश्यकता पूरी करने के लिये ही इस ग्रन्थ की अवतारणा है। यहाँ यही दिखाया गया है कि जपकर्म केवल अन्धकार का काम नहीं है, कुसंस्कार का अर्थहीन आचरण नहीं है—यह आलोक का कर्म है, 'तमसा' से 'ज्योतिः' में उत्तरण का कर्म है। इसीलिये उपनिषद् इसका सार्थक नाम देते हैं—'अभ्यारोह जप'। सुतरां जपकर्म की पृष्ठभूमि में एक परिपूर्ण महाविज्ञान वर्तमान है। इसकी प्रतिष्ठा अज्ञान में नहीं, दिव्यविज्ञान में है। हमारे अध्यात्म शास्त्र-समूह में वेद में, उपनिषद् में, तन्त्र में सर्वत्र इसी परम विज्ञान का रहस्यमय इङ्गित विवृत है। पूज्यपाद स्वामीजी इस निखिल शास्त्रमहोदधि का मन्थन करके उसी विज्ञानामृत के समुद्धरण में तत्पर हुए हैं एवं उन्होंने अपनी अनुभूति के उज्ज्वल आलोक में, सुनिपुण विचार-विश्लेषण के 'द्रावक' (सोना पिघलाने के कर्म) में उसकी परीक्षा करके सबके सम्मुख उसे उपस्थित किया है।

मूल जपसूत्रम् स्वामीजी ने संस्कृत भाषा में लिखा है। प्रसिद्ध वेदान्त-सूत्र की भाँति इसके भी चार अध्याय एवं प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस खण्ड में प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के कुछ एक सूत्र मात्र दिये गये हैं।* प्रत्येक सूत्र पर फिर संस्कृत श्लोक व कारिकाओं में व्याख्या की गई है एवं उन श्लोकों पर फिर बङ्गला में विस्तृत भाष्य भी दिया गया है। कुल मिल कर सूत्रसंख्या ५०० से अधिक एवं श्लोक-संख्या प्रायः २००० से अधिक है। ग्रन्थ सुविशाल है, इसलिये खण्डशः इसके प्रकाशन का आयोजन किया गया है। मूल जपसूत्रम् के उपोद्घात व भूमिका के रूप में स्वामीजी ने शताधिक संस्कृत श्लोकों की रचना की है एवं उनकी विस्तृत बंगला व्याख्या भी की है। इस

---

* प्रस्तुत खण्ड में ये सूत्र नहीं दिये गए हैं। द्वितीय खण्ड में प्रथम अध्याय पूर्णरूप में देने की योजना है। — अनुवादिका।

खण्ड में उन्हें ही विशेष रूप से स्थान मिला है। इसके अलावा 'उपक्रमणी' नामक अंश में और भी कुछ-एक श्लोक सन्निवेशित हुए हैं।

जपसूत्रम् के इस उपोद्‌घात और उपक्रमणिका में जो श्लोक एवं उनकी व्याख्या दी गई है, उनका विशेष अवधान-पूर्वक एवं अत्यन्त धीरभाव से अनुधावन करना प्रयोजन है। यहाँ अनेक गूढ़ तत्त्वों की अवतारणा की गई है—जैसे प्रारम्भ में ही ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का तत्त्व, उसके बाद तीन ऋक् वा ऋक्‌त्रय का तत्त्व, उसके बाद पञ्चभूत का तत्त्व, उसके बाद पञ्च अवतार-तत्त्व, उसके बाद पञ्च गङ्गा-तत्त्व, पञ्च शुद्धि-तत्त्व, पञ्च रूप-तत्त्व इत्यादि। आरम्भ में ही साधारण पाठकों के मन में शंका जाग सकती है कि जपसूत्रों के बीच इन सब तत्त्वों की अवतारणा तो अवान्तर है। जप के सम्बन्ध में आलोचना करते समय जगत् के मूल तत्त्व अथवा उसके सृष्टि-तत्त्व को लेकर माथा-पच्ची करने की क्या आवश्यकता है? जप के प्रसङ्ग में इस सब आलोचना की क्या उपयोगिता है? ऐसी आशंका स्वाभाविक है, एवं इसीलिए इसके निरसन के लिए पहले ही कह रखना आवश्यक है कि जप-कर्म नितान्त बहिरङ्ग यान्त्रिक कर्म नहीं है, यह केवल मन्त्र की रटना मात्र नहीं है। जप के दो अङ्ग शास्त्र ने सर्वत्र कहे हैं—**'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**—व्याहरण और अनुस्मरण। यह अर्थ-भावन न होने पर जप बिल्कुल व्यर्थ भले ही न हो, किन्तु 'यथार्थ समर्थ' नहीं होता; क्योंकि मन्त्राक्षरों के केवल उच्चारण वा आवृत्ति का भी अवश्य ही कुछ फल है, किन्तु वह आंशिक, गौण है। इसका मुख्य, समग्र फल तभी प्राप्त होता है जब मन्त्राक्षरों में जो अगाध रहस्य निहित है, उसमें डूब सकें। मन्त्र है रत्नाकर-स्थानीय—इसके मूल में यदि डुबकी लगा सकें तो अनन्त रहस्यमय तात्पर्य की मणिमुक्ता का आहरण करके हम ला सकते हैं। केवल एक बार डुबकी लगाकर अपनी मुट्ठी में जो कुछ भरकर ला सके हों, उसी को ऐसा समझने की भूल न करें कि मन्त्र का समग्र तत्त्व छान कर उठा लाये हैं। बारम्बार जितना ही डूबेंगे, उतना ही नित्य नव-नव अर्थ और भाव की अनुभूति हमें आलोक से व पुलक से भर देगी। इसीलिए यहाँ इस अगाध रहस्य-सागर के प्रति दृष्टि आकर्षित करने के लिए ही, मन्त्र के प्रत्येक अक्षर के प्रति एकान्त भाव से अभिनिविष्ट होने का आह्वान देने के लिए ही इन सब तत्त्वों की अवतारणा की गई है, क्योंकि वेद का प्रत्येक मन्त्र, प्रत्येक वर्ण रहस्य की खान है। इसीलिए परम श्रद्धा और एकान्त अभिनिवेश के साथ वेदागम के वाङ्मय-महोदधि में अवगाहन आवश्यक है। वेदवाणी हैं

वाग्रूपिणी कामधेनु; इससे हमें अमृत की धारा का दोहन करना होगा— 'दुहाना अमृतस्य धाराम्'। इस ग्रन्थ में इसीलिये प्रसङ्गक्रम से वेद के किसी-किसी मन्त्र (जैसे सृष्टिसूक्त) के रहस्योद्घाटन का यत्न किया गया है, जिससे सुधी पाठकों में अनुरूप रहस्य-उद्भेद की प्रेरणा जागे। अनेक स्थलों पर केवल दिग्दर्शन किया गया है, विशेष विस्तार नहीं किया गया है। तन्त्र, पुराण के रहस्य में भी इसी प्रणाली का अवलम्बन किया गया है।

उपोद्घात के श्लोकों में जिन सब तत्त्वों की अवतारणा की गई है, उनका यथार्थ भाव से अनुधावन करने के लिए एक विषय सदैव स्मरण रखना चाहिए एवं उसकी ओर पाठकों की दृष्टि आकर्षित करता हूँ। पूज्यपाद स्वामीजी ने जहाँ जिन तत्त्वों का विश्लेषण करके दिखाया है, वे सब सर्वत्र ही विश्वजनीन सार्वभौम तत्त्व वा universal principle हैं, उन्हें केवल परिच्छिन्न भाव में परिसमाप्त समझने से नहीं चलेगा। जैसे प्रारम्भ में ही श्रीश्रीगुरुपाद-वन्दना में जिस श्रीगुरुतत्त्व को उन्होंने स्फुट किया है, वह केवल किसी विशिष्ट व्यक्तिरूप गुरु का तत्त्व नहीं है, किन्तु जो गुरुशक्ति विभिन्न गुरुमूर्तियों में होकर विश्व के आर्त, दीन, दुःखी जीवों को सर्वदा ही समुद्धरण के पथ पर लिये चली जा रही हैं, उसी मौलिक महाकरुणा-शक्ति वा उद्धारशक्ति का ही तत्त्व है। इस प्रकार उन्होंने प्रसङ्ग-क्रम से जिन पञ्च अवतारों का तत्त्व-विश्लेषण करके दिखाया है, वह केवल उस-उस परिच्छिन्न कूर्म, वराह आदि मूर्ति में ही परिसमाप्त नहीं है, अथवा केवल जप आदि के क्षेत्र में इन सब शक्तियों की क्रिया उपलब्ध होती है, ऐसा भी नहीं है। किन्तु विश्व में सब से पहले यह अवतार-तत्त्व मौलिक शक्ति के रूप में सक्रिय है। जैसे, साधारण स्थूल भौतिक परिणाम में भी हम इन शक्तियों की सक्रियता की उपलब्धि कर सकते हैं। एक वृक्ष का बीज जब अपनी समस्त अन्तर्निहित शक्ति लेकर सोया हुआ है, तब उसमें इस मीनशक्ति की क्रिया है, उसे धारण कर रखा है कूर्मशक्ति ने; इस शक्ति की सहायता से ही वह अपनी सत्ता को अन्यान्य सब कुछ से पृथक् करके धारण किये हुए है। अब वह विकसित होगा—इस विकास की ओर उसे ढकेल रही है यह वाराही शक्ति। उसके बाद, विकास के पथ में उसकी जितनी बाधा हैं, उनका अपनयन करके, उन्हें विदीर्ण करके चलती है यह नृसिंहशक्ति। पुनः उस 'उरुक्रम' के प्रभाव से बीजादि सभी-कुछ अपनी प्राकृतिक सीमा का अतिक्रम करके उद्वर्त्तन (evolution) को प्राप्त होता है, वह हुई वामन शक्ति। सुतरां इस प्रकार एक स्थूल बीज भी

इन शक्तियों के आश्रय में ही क्रमशः विकास को प्राप्त हो रहा है। इसलिए इस प्रकार एक स्थूल वीज भी इन शक्तियों के आश्रय में ही क्रमशः अङ्कुरादि रूप में विकास पाता है। सृष्टि में सर्वत्र इसी प्रकार है। दृष्टि विकसित होने पर एक क्षुद्र बीज के जीवन-इतिहास में भी हम इस पञ्च अवतार-तत्त्व की प्रकट लीला देख सकते हैं। प्रणव के अकार-आदि पञ्च अवयव भी इसी प्रकार एक वीज के जीवन में उदाहृत होते हैं। पूज्यपाद स्वामीजी नें इसी ओर हमारी दृष्टि को घुमाना चाहा है। श्रीगणेश आदि देवताओं के तत्त्व के सम्वन्ध में भी यही एक ही वात है।

यहाँ और भी एक बात स्मरण रखना आवश्यक है, क्योंकि ये तत्त्व सर्वत्र ही सार्वजनीन वा universal हैं; इसीलिए जिस किसी आधार में से उनकी उपलब्धि हो सकती है। इसीलिये पाठक के मन में शायद यह बात खटक जाय कि श्रीगुरु का जैसा तत्त्व-विश्लेषण किया गया, श्रीगणेश के समय भी तो मूलतः तदनुरूप ही दिखाई देता है। यह क्या पुनरुक्ति है ? किन्तु वास्तव में यह पुनरुक्ति नहीं है। स्मरण रखना होगा कि सर्वत्र एक ही परम-तत्त्व वा परम देवता की महिमा का कीर्त्तन किया गया है **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**।* किन्तु आधार एवं आधेय का भेद तो है—श्रीगुरु की मूर्त्ति एवं श्रीगणेश की मूर्त्ति एक नहीं है। ग्रहण और ग्रहीता के भेद से ग्राह्य भी विभिन्न हो जाता है। इसलिए अनुभूति वा आस्वादन का तारतम्य है ही, यद्यपि लक्ष्य वा गम्यस्थल एक ही हैं। श्रीगुरु के दिव्य अङ्गगन्ध आदि जिसका इङ्गित दे रहे हैं, श्रीगणेश का रक्तवर्ण, गजमुण्डादि भी शायद प्रकारान्तर से उसी तत्त्व का सन्धान दे रहे हैं—इसीलिये **'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'**†। अन्यान्य देवता-तत्त्व के सम्बन्ध में भी यही एक बात स्मरण रखनी होगी, अन्यथा विभ्रम की सम्भावना है। विभिन्न देवतादि-तत्त्व आर्ष दृष्टि में इसी प्रकार तो प्रतिभात हुए हैं! एक ही सब है, एक में ही सब है। एक ही 'बहुधा' भावित और कीर्त्तित होते हैं। अथच ब्रह्म की इस प्रकार से वहुधा 'कल्पना' उनका अपना ही **'एकोऽहं बहु स्याम्'** इत्यादि है।

मर्मी दृष्टि विकसित होने पर इसी प्रकार देवता की मूर्त्ति साधक को प्रतिभात होती है। इसीलिए पूज्यपाद स्वामीजी के तत्त्व-विश्लेषण में गणेश

---

* ऋग्वेद १. १६४. ४६—अनुवादिका।

† शिव-महिम्नः स्तोत्रम् ७—अनुवादिका।

का वाहन क्षुद्र मूषिक वा धूमावती का रथस्थ काक भी छूटा नहीं है। देवता का प्रत्येक अवयव ही मानो नित्य नूतन-नूतन तत्त्व का सन्धान देता चलता है। इसीलिए नाना प्रकार से इस तत्त्व का परिचय पाकर भी, वर्णन करके भी साधक का मानो जी नहीं भरता। श्रीश्रीकालीतत्त्व के वर्णन में पूज्यपाद स्वामीजी मानो महारहस्य-वारिधि की असीमता के साथ उच्छ्वसित हो उठे हैं। श्रीश्रीकालिका का कृष्णवर्ण, एलायित केश, विस्तीर्ण जिह्वा, कण्ठस्थ मुण्डमाला, करस्थ एक व्यस्त मुण्ड इत्यादि सभी रहस्यों का उन्होंने तार-तार विश्लेषण किया है। तारा की मूर्त्ति में मन्त्रोद्धार, मन्त्रचैतन्य इत्यादि का रहस्य, छिन्नमस्ता में महावाक्य-चतुष्टय एवं नादानुसन्धान का रहस्य; धूमावती में महाव्याहृति का रहस्य—इत्यादि को भी स्वामीजो ने हमारी दृष्टि के सामने खोलकर रख दिया है। इन सवको पढ़ते समय अत्यन्त सावधान और स्थिर चित्त से तत्त्वों का अनुशीलन करना होगा। जो इस प्रकार एक-एक तत्त्व के ध्यान में डूब सकेंगे, वही इस ग्रन्थ में दिये गये सव तत्त्वों के इङ्गित की सार्थकता की उपलब्धि कर सकेंगे। नहीं तो शायद ये सब कवि की कल्पना वा उच्छ्वास ही प्रतीत होगा, जैसा कि शास्त्र में देवता आदि के ध्यान, रहस्य, स्तोत्र इत्यादि के सम्वन्ध में वहुतों को लगा करता है। इसीलिए सब के अन्त में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये सभी तत्त्व खिल उठेंगे, किन्तु केवल जप के आश्रय से। इसीलिये यह साधना का धन है, कल्पना का जाल नहीं। उस साधना का एक युक्तियुक्त, निर्भर-योग्य आधार इस ग्रन्थ में विश्लेषण-समन्वय के रूप में दिया गया है। इसलिए साधकमात्र के लिए ही इस ग्रन्थ की प्रयोजनीयता अपरिहार्य है। इस ग्रन्थ में (१।१।१, २, ३)इत्यादि में जप का जो लक्षण दिया गया है उससे जप को मानव के अध्यात्म-योग की एक गौणी शाखा वा अववाहिका नहीं समझा जा सकता; यही मुख्य धारा है, ध्यान-धारणा, मनन-विचार, भाव-भक्ति – सभी कुछ इसमें क्रोड़ीकृत है। इसलिए जप का जो अनुबन्ध-चतुष्टय है, अर्थात् विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन, अधिकार—उसकी सम्यक् आलोचना के लिये एक पूर्णाङ्ग दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं क्रिया-तान्त्रिक (practical) आधार की प्रस्तुति अपेक्षित है। वर्तमान ग्रन्थ में वैसा आधार ही लक्ष्य बना है।

इसके वाद पूजनीय ग्रन्थकर्त्ता स्वामीजी का परिचय? एक ओर से यह विशाल अनुपम ग्रन्थ ही उनका सर्वापेक्षा सुष्ठु परिचायक है। पूर्वाश्रम में आपका नाम था अध्यापक श्रीप्रमथनाथ मुखोपाध्याय। आप उस युग में

शिक्षाक्षेत्र में श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी और श्री अरविन्द प्रभृति के सहकर्मी थे। तन्त्रानुशीलन में एवं तन्त्र-तत्त्व की व्याख्या में सर जॉन वुडरॅफ़ के साथ आप की सहयोगिता सुधी-समाज में प्रायः सर्व-जन-विदित है। वेद, तन्त्र, दर्शनादि के विषय में आपके अनेक प्रबन्ध-निबन्ध एवं मौलिक ग्रन्थ भी पहले प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु एसे ग्रन्थ की आपने इससे पूर्व रचना नहीं की है। इसके विरचन-कर्म में भी कुछ असाधारणत्व रहा है। जीवन के प्रान्तभाग में आकर आप ने मानो इस ग्रन्थ में अपनी सुदीर्घ जीवनव्यापिनी साधना की परिपक्व अभिज्ञता लुटा डाली है। आशा है साधक-मण्डली एवं सुधी-समाज में यह ग्रन्थ समुचित समादर प्राप्त करेगा।

....*

अन्त में, उपोद्‌घात के श्लोकों का एक संक्षिप्त विश्लेषण-सूत्र दिया जा रहा है—

सर्वप्रथम श्री गुरुरहस्य-प्रकाशिका श्लोकावली—'श्रीश्रीगुरुपादाब्जदल-पञ्चकम्' है। उसके बाद—

१—स्वरूप तीन वा Triune है—सत्, चित्, आनन्द।

२—साधन तीन हैं—

(i) हंसवती ऋक् (ii) गायत्री ऋक् (iii) मधुमती ऋक्

अथवा

कर्म ज्ञान भक्ति

३—प्राण के रूप में Triune अभिव्यक्त है—यह प्रकाश और आकाश का मिलनकेन्द्र वा मिथुनभाव, आविः और नाद का मिलित रूप, ज्ञान और गति की संधि है।

४—इससे प्राण, काल, वायु, अग्नि, सलिल, धरित्री—ये तीन-तीन विभाग हैं।

५—तीन से पाँच—'हं', 'यं' आदि प्राण की धारा व हंस की संचरमाणता है।

६—छन्द वा गायत्री की धारा—मीनशक्ति, कूर्मशक्ति, वाराही शक्ति, नारसिंही शक्ति है।

---

* यहाँ कुछ पंक्तियों में अर्थानुकूल्य, कागज जुटाने आदि के सम्बन्ध में धन्यवाद-प्रकाश है।—अनुवादिका।

उसके बाद **पञ्चधारा** वा **पञ्चगङ्गा** है—ॐकार में इन पाँचों का मिलन है।

७—**पञ्चशुद्धि और त्रिमल**—अणु, तनु और पृथु। यह त्रिमल शुद्ध होता है प्रणवजप से। इस प्रणव में ही पञ्चगङ्गा और पञ्चगव्य हैं—एक के द्वारा वाक्शुद्धि और दूसरी के द्वारा तनुशुद्धि होती है। स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता।

८—छन्द दो प्रकार के हैं—**अरिच्छन्द, मित्रच्छन्द**। इस मित्र वा मधुच्छन्द की सहायता से विरूपता का निवारण और एकरूपता की स्थापना होती है।

९—घनीभूत, केन्द्रीभूत छन्द ही है **प्रणव**, सुतरां **प्रणव** के आश्रय से ही साधन होता है।

१०—प्रणवरूप ईश्वर के आश्रय में वेदोज्ज्वला बुद्धि का विकास करके उनकी शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी मूर्त्ति का दर्शन करना होगा।

११—उसी प्रकार उनकी प्रसन्ना, वरदा शक्ति की मूर्त्ति जो काली, तारा आदि हैं, उनका भी दर्शन करना होगा एवं उनके **महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती**—इस रूपत्रय के साथ भी परिचय करना होगा।

१२—वे फिर एक ओर **मृत्युरूपिणी**, दूसरी ओर **अमृतस्वरूपिणी** हैं।

१३—ऋतच्छन्द में सत्यबोध वा **प्रमाज्ञान** और मधुच्छन्द में **आनन्दबोध** होता है। बोधरूप में सत्य-अनृत आदि सभी बोध एक-रूप हैं, फिर भी उनमें सत्यत्व और आनन्दत्व भरता है यह छन्द।

१४—उभय छन्दों के मिलन से **भूमाबोध** होता है—अन्वय और व्यतिरेक भाव से।

१५—समावृत्ति है गायत्री ऋक्, मधुमती ऋक् और हंसवती ऋक् का सम्मिलित रूप—इसलिए **समावृत्ति का मन्त्र है 'हौंसः'**।

१६—**अभ्यारोह** समावृत्ति के विना नहीं होता।

१७—समावृत्ति में ही **जानना व देखना और प्रविष्ट होना**—ये तीन वृत्तियाँ रहती हैं। उसके बाद समावृत्ति के लक्ष्य और अङ्ग को भी जानना आवश्यक है।

१८—शुद्ध प्रणव में, अनाहत ध्वनि में या नाद में जप का लय वा शान्त-भाव होता है। यह सत्त्वोद्रेक का ही फल है। समावृत्ति ही निरुपद्रव समता

है। प्राण-मन के संयम द्वारा व्यास-विषमता परिहारपूर्वक समास-समतां में, ॐकार की शान्त समता में स्थिति होती है—इसी को **समावृत्ति** समझना चाहिए।

१९—इसके साथ समावृत्ति की मूर्त्ति के रूप में **श्रीगणेश** और उनके मूषिक-रूप वाहन, आयुध आदि तत्त्व को भी समझना आवश्यक है।

२०—इस समावृत्ति के अलावा प्रत्यावृत्ति और परावृत्ति को भी समझना आवश्यक है। एवं वृत्ति के पाँच विभागों पर भी ध्यान देना चाहिए। तव समावृत्ति को ठीक से समझा जा सकेगा। अनुवृत्ति से आरम्भ करके इस चरम परावृत्ति तक समग्र व्यापार का जिसके द्वारा सुष्ठु निर्वाह होता है, वही है समावृत्ति।

२१—ॐकार के द्वारा समावृत्ति का विचार—ॐकार की किस मात्रा से क्या काम होता है एवं उनसे क्रमशः मीन, वाराही और कूर्मशक्ति का विकास, और वाद में उनसे नाद और बिन्दु के आकार में नृसिंह और वामन का उदय होता है।

२२—अम्भः व जल है अज्ञान वा अविद्या, और उर्वी है तत्त्वसमूह का व्यक्त रूप। यही त्रयी—**नादबिन्दुकलात्मिका, सोम-सूर्य-अग्नि-रूपा** है।

२३—सृष्टिकल्पना—नासदीय सूक्त और सृष्टिसूक्त। आविः और रात्रि, ऋत और सत्य, वायु और व्योम, गति और ज्ञान, आकाश और प्रकाश—इनके मिलित रूप ॐकार वा प्रणव से सृष्टि है। उसी प्रकार **समुद्र और अर्णव** हैं।

२४—उसके बाद आये काल और संवत्सर, सूर्य और चन्द्र, दिन और रात्रि, शुक्ल और कृष्ण। उनसे इस सूर्य को, इस तेजोरूप भर्ग को केन्द्र बनाकर आये **भुवनचक्र** और **कालचक्र**। यह काल और कलनवृत्ति ही है **ईक्षण** – इसके पहले तक अकाल बौद्ध परिणाम है। **यही समुद्र और अर्णव में भेद है।**

२५--इसके बाद आई काल की rhythmic गति, cyclic गति, शुक्ल-कृष्ण गति, धन और ऋण गति।

२६—इस भुवनकोष की नाभि में हैं सविता और पूषा—इसकी **नाभि, नेमि और अर।**

२७—**चतुर्व्यूह और छन्द।**

२८—चक्रचिन्ता—उसकी शङ्खावर्त्तगति और axis of ascent (आरोह की धुरी)।

२९—जपरूपी रहस्य खग नारायण, कृष्ण और राम।

३०—पञ्चोपासना के अंग के रूप में शिवतत्त्व, अघोर आदि पञ्चमूर्ति का मन्त्रवर्ण में सम्मिलित रूप एवं आदित्य-तत्त्व।

३१—तारा, छिन्नमस्ता, धूमावती और श्रीश्रीकालिकातत्त्व। ताराप्रणवादि मन्त्र-चैतन्यपूर्वक परम उपलब्धि, छिन्नमस्ता, नादानुसन्धान एवं महावाक्य-भावना द्वारा, धूमावती महाव्याहृति के साथ, काली निखिलतत्त्व के व्याकलन, सङ्कलन एवं निष्कलन द्वारा।

उपोद्घात के बाद उपक्रमणी है। इस अंश की भी जप की तत्त्वात्मक एवं क्रियात्मक दोनों दिशाओं में उपयोगिता है।

क्रान्त एवं शान्त इन दो 'दृष्टियों' से सूचना मिलती है। आवरक-आवरणीय, प्रकाशक-प्रकाश्य, संकोचक-संकोच्य, नियामक–नियन्तव्य, ह्लादक-ह्लाद्य इत्यादि विश्व में वहमान धाराओं का अनुसरण करते हुए परम तत्त्व में पहुँचने के लिए जिन-जिन सूत्रों और सङ्केतों का विशेष रूप से अनुधावन करना होता है, उनका इस उपक्रमणी में विश्लेषण किया गया है। जैसे – जपादि-साधन में सन्धि, सेतु एवं मेरु इस त्रिसूत्री का। विभिन्न विचित्र धाराओं में पतित जीव की 'समावृत्ति' के लिये बुद्धियोग एवं एकान्त शरणागति-योग की आवश्यकता दिखा कर इस अंश का उपसंहार किया गया है।

इसके बाद मूल-सूत्रांश एवं उनकी कारिकायें हैं। जप का लक्षण, ऋत एवं सत्य का लक्षण; छन्द का लक्षण, व्याज एवं विघ्न का लक्षण, छन्द के मान्द्यस्थान एवं उन मान्द्यस्थानों का मुख्य प्राणाग्नि में हवन—यहाँ तक वर्तमान खण्ड में सन्निवेशित हुआ है, अर्थात् प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के कतिपय सूत्रमात्र।*

इस ग्रन्थ के अनुशीलन से यदि हमारी भ्रान्त और श्रान्त दृष्टि, क्रान्त एवं शान्त दृष्टि बनने का भरोसा पा सके तभी हमारा श्रम सार्थक होगा।

इति—

दशहरा   श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय
संवत् २००७

———

* हिन्दी अनुवाद में यह अंश द्वितीय खण्ड में जाएगा। —अनुवादिका।

निवेदन

(मूल द्वितीय खण्ड से उद्धृत)

श्रीभगवान् की असीम कृपा से जपसूत्रम् ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड प्रकाशित हो रहा है। इस अभिनव ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के मुद्रण के फलस्वरूप सुधी और साधक समाज में जो प्रतिस्पन्दन जगा है, जो विस्मय-विमिश्र कौतूहल उद्दीप्त हुआ है, उससे हम लोग परम आशान्वित हुए हैं, यह सोचकर कि भारतवर्ष इस संशय-समाकुल युग में भी अपने प्राचीन ऐतिह्य के प्रति, साधनराज्य की गहन सम्पद् के प्रति बिल्कुल उदासीन नहीं हुआ है। श्रद्धालु पाठकवर्ग द्वितीय खण्ड के लिए दीर्घकाल से साग्रह प्रतीक्षा कर रहा है —यह भी हम लोग जानते हैं एवं हमारी आन्तरिक तत्परता रहते हुए भी इस खण्ड के प्रकाश में कुछ विलम्ब हो गया, इसके लिए हमें आन्तरिक दुःख है। पूज्य-पाद स्वामीजी की दृष्टि-क्षीणता के कारण ही विशेषरूप से ग्रन्थ की प्रगति व्याहत हुई है, फिर भी उनकी अद्‌भुत दिव्य प्रतिभा इन सब बाधा-विघ्नों का आवरण विदीर्ण करके भी अपनी भास्वर छटा विकीर्ण करती रही है, यही परम सौभाग्य है। इस द्वितीय खण्ड में मूल ग्रन्थ के बहुत कम सूत्रों को ही स्थान मिला है। एवं इस कारण बहुत से लोग निराश भी हो सकते हैं। किन्तु बहुत-सी महत्त्वपूर्ण कारिकायें और उनकी विस्तृत व्याख्या इसमें दी गई हैं। इस खण्ड को प्रधानतः 'व्याहृति खण्ड' ही कहा जा सकता है। क्योंकि व्याहृति के सम्बन्ध में ही विशद आलोचना में इसका प्रायः सम्पूर्ण कलेवर नियोजित हुआ है। विश्व-वीणा इन सप्तग्रामों में सप्त सुरों में ही मिली हुई है; अपनी जीवन-वीणा के तारों में जप-रूप महासाधन के द्वारा इस सप्त-धाम की प्रज्ञाविशाल और भक्तिरसाल भूमियों का क्रम-उन्मीलन ही साधक का लक्ष्य होता है। इसीलिए व्याहृति का स्थान जपसाधना में इतना विशिष्ट और व्यापक है। आशा है प्रथम और द्वितीय खण्ड के अध्ययन से जप की प्रकृति और साधन के सम्बन्ध में एक सुस्पष्ट छवि पाठकों के मन में प्रस्फुटित हो उठेगी। पूज्यपाद स्वामीजी के लेखन में विज्ञान की दुरूह आलोचना के गुरु-गम्भीर परिवेश के बीच एक श्रणी के पाठकवर्ग कभी-कभी कथञ्चित् श्रान्ति का अनुभव कर सकते हैं; फिर भी वे प्रायः ही भाव-मधुर एवं

रस-निविड़ स्निग्धश्यामल छायाकुञ्ज में शीतल होने का स्थान भी पाएँगे—यह आश्वासन हम दे सकते हैं।

द्वितीय खण्ड के उदय के बीच एक सज्जन के अस्त ने हमें आज गभीर-वेदनातुर बना डाला है। इस ग्रन्थ की मूल प्रेरणा उन्होंने ही पूज्यपाद स्वामीजी के अन्तर में सर्वप्रथम सञ्चारित की थी। एक ध्यान-मौन-निविड़ सन्ध्या के सान्द्र लग्न में श्री बालानन्द आश्रम* के पुण्य-परिवेश में अपने निभृत साधन-कक्ष में बैठ कर पुण्यश्लोक शुक्ल-संन्यासी श्री प्राणगोपाल मुखोपाध्याय+ पूज्यपाद स्वामीजी के साथ मानस जप के अगाध रहस्य के सम्बन्ध में चर्चा में मग्न हुए थे। उस दिन माहेन्द्र-क्षण में जो शुभ-प्रेरणा-रूप बीज स्वामीजी के प्रतिभादीप्त हृदय में सङ्कल्प-रूप में आत्मसंवित् को प्राप्त हुआ, वह कुछ समय बाद ही 'जपसूत्रम्' रूपी महावनस्पति की अद्भुत अभिव्यक्ति से सबको विस्मित और पुलकित बना गया। आज इस द्वितीय खण्ड के प्रकाशन के पूर्व ही वे तनु त्याग करके अप्रकट हो गये—यह खेद पूज्यपाद स्वामीजी के हृदय में गम्भीर भाव से ध्वनित हो रहा है। वे कितने आग्रह से और कितनी साक्षात् अनुभूति के साथ इस 'जपसूत्रम्' का आलोचन और आस्वादन करते थे, वह जिन्होंने देखा और सुना है, वे ही प्रत्यक्ष जानते हैं। इसीलिए मन में केवल यही खेद उठ रहा है—और किसके लिए रस का यह पसार सजा कर परिवेशन का आयोजन हो! वह आस्वादयिता आज कहाँ है? इस ग्रन्थ को अन्तिम कुछ श्लोकों तक वे अन्तिम रोगशय्या में साग्रह सुन गये हैं। स्वामीजी के साथ जब उन की अन्तिम भेंट हुई तब उन्होंने कहा था—'भगवान् ने एक बड़े काम का भार (तुम पर) न्यस्त किया है, उनसे प्रार्थना करता हूँ कि यह निर्विघ्न परिसमाप्त हो'। उनकी यह अमोघ शुभेच्छा हमारे ग्रन्थ-समाप्ति के पथ का अक्षय पाथेय बनी रहेगी।

प्रथम खण्ड के आत्मप्रकाश के बाद बङ्गाल में बहुत से सुधी और मनीषी सज्जनों ने इसके सम्बन्ध में नाना-गम्भीर-तथ्यपूर्ण समालोचना में प्रवृत्त होकर हमें उत्साहित किया है। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम उल्लेख करना चाहिए विबुधाग्रगण्य पूजनीय आचार्य महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज के सम्बन्ध में। वे प्रथम खण्ड पढ़ कर इतने उल्लसित हुए हैं कि केवल एक

*देवघर-स्थित। —अनुवादिका।

+श्रीगोविन्द गोपालजी के पितृचरण,,।

नातिदीर्घ सुचिन्तित समालोचना लिख कर ही क्षान्त नहीं हुए हैं, उन्होंने भविष्य में इसकी और भी विशद आलोचना करने का आश्वासन दिया है। हम लोग उसके लिए उद्ग्रीव रहेंगे। संस्कृत भाषा के एकनिष्ठ सेवक, सुरसिक शास्त्र-मर्मज्ञ अध्यापक श्रीशिवप्रसाद भट्टाचार्य की सुनिपुण विश्लेषण-पूर्ण आलोचना ने हमें मुग्ध किया है। उन्होंने प्रकाशकों के जिन कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ध्यान रखने के लिए हमें कहा है, भविष्य में हम उन सबके विषय में तत्पर रहेंगे। सुप्रसिद्ध दार्शनिक डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार की संक्षिप्त सारगर्भा आलोचना ने भी हमें अनुप्राणित किया है। इन सभी के प्रति हम आन्तरिक कृतज्ञता निवेदित करते हैं।

इस खण्ड के (ख) परिशिष्ट में प्रकाशित 'हंस' शीर्षक सुचिन्तित सार-गर्भ निबन्ध हमें भेज कर नीरव ज्ञानसाधक श्रीमन्मथनाथ मुखोपाध्याय महाशय ने हमें अनुगृहीत किया है।* इसलिए उन्हें आन्तरिक धन्यवाद निवेदित करता हूँ।

....‡

सब के अन्त में भूल-भ्रान्ति की व्याख्या के प्रसङ्ग में श्रीश्रीचण्डी के प्रसिद्ध नारायणी-स्तव में 'भ्रान्तिरूपेण संस्थिता'†—देवी के इस भ्रान्ति-रूप का स्वामीजी ने कुछ-एक कारिकाओं में जिस प्रकार ध्यान किया है, उसे सुधी पाठकगण के समक्ष उपस्थित करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

त्वद्भ्रान्तिर्मम मूढस्य मातुर्मद्भ्रान्तिरीदृशी।
प्रत्यक्तया जगद्भ्रान्तिः पाशभ्रान्तिः स्मितेक्षणात्॥
जपभ्रान्तिर्ध्वनिस्फोटे ज्योतिषि भ्रान्तिरस्य च।
ज्योतिर्भ्रान्ती रसैकस्मिन् द्वैतभ्रान्ती रसे समे॥
भ्रान्तिभ्रान्तिर्महाश्चर्ये तूष्णीम्भावे परे स्थिता।
नवधा भ्रान्तिरूपा या नमस्तस्यै नमो नमः॥

---

* अनुवाद-ग्रन्थ-माला में यह परिशिष्ट पञ्चम खण्ड में जाएगा—अनुवादिका।

‡ यहाँ कुछ पंक्तियों में मुद्रण-प्रमाद का उल्लेख है, एवं आगामी खण्डों के प्रकाशन की सूचना है।—अनुवादिका।

† दुर्गासप्तशती—५.७४—अनुवादिका।

हे माँ ! मैं तुम्हारी मूढ़ सन्तान हूँ, इसीलिए मैं तुम्हें इस प्रकार भूला हुआ हूँ, किन्तु तुमने भी क्यों मुझे इस प्रकार भुला रखा है, (त्वद्भ्रान्तिः) यह भी तो मेरी समझ में नहीं आता (मद्भ्रान्तिरीदृशी) । यदि सौभाग्योदयवशतः मेरा यह बहिर्मुख चित्त अन्तर्मुखीन हो जाय, तब मुझे इस जगत् की भी भ्रान्ति हुआ करती है; और हे माँ! यदि तुम एक बार सहास्य नयन से मेरे प्रति दृष्टिपात कर दो तो मेरे सर्वविध वन्धन एवं तज्जनित महाभय की भी भ्रान्ति हो जाती है (जगद्भ्रान्तिः, पाशभ्रान्तिः) । उसके वाद जप करते-करते नाद का सन्धान मिलने पर (ध्वनिस्फोटे) जप की भ्रान्ति हो जाती है (जप-भ्रान्तिः) । उसके वाद नाद के भीतर से ज्योतिः प्रकट होने पर नाद की भी भ्रान्ति हो जाती है (नादभ्रान्तिः) । ज्योतिः फिर रसरूप में अपने को जब घनीभूत कर लेती है तव ज्योतिः की भी भ्रान्ति हो जाती है (ज्योति-र्भ्रान्तिः) । पुनश्च वह रस जव श्रुति-प्रसिद्ध 'एकरस' एवं 'समरस' हो जाता है, तब होती है द्वैतभ्रान्ति । और अन्त में जो महा अद्भुत परम तूष्णीम्भाव है—वहाँ पहुँचने पर भ्रान्ति की भी भ्रान्ति हो जाती है, परम उपरम हो जाता है (भ्रान्ति-भ्रान्तिः) । हे माँ ! एवंविध नवधा भ्रान्ति के रूप में तुम संस्थिता हो; अतएव मैं पुनः-पुनः अपनी उस नवधा भ्रान्तिरूपिणी जननी को प्रणाम करता हूँ ।

इति—

श्रीपञ्चमी—
वङ्गाब्द १३५८
विक्रमाब्द २००८

श्रीगोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय

———

निवेदन

(मूल तृतीय खण्ड से उद्धृत)

'जपसूत्रम्' का तृतीय खण्ड इतने शीघ्र ही आत्मप्रकाश करेगा ऐसी आशा नहीं की थी। इसका कृतित्व हमारा प्राप्य नहीं है। यह सम्भव हुआ है केवल उस महाशक्ति के अनुग्रह से जो पूज्यपाद स्वामीजी के माध्यम से भारतीय आर्ष-विज्ञान को मानो पुनः संजीवित कर के आज के नाना-मत-विभ्रान्त आर्त्त मानव के लिये प्रवाहित करती रही है।* इसकी पावनी धारा में जो अवगाहन करने आते हैं, उनमें से बहुत से ऐसा अनुयोग करते सुने जाते हैं: 'जल बड़ा गभीर है—प्रवेश करके थाह नहीं मिलती, थोड़े से में ही हाँफ उठता हूँ, इसीलिए उतरने का साहस नहीं होता।' अथच जो लोग थोड़ा-सा साहस संचय करके, धैर्य का सहारा लेकर इस अक्षय सरोवर में उतरे हैं, वे लोग एक अद्भुत और अभिनव अमृत के आस्वादन से आप्यायित हुए हैं, यह भी उन्हीं की उच्छ्वसित उक्ति में सुनने को मिलता है। बहुतों की साधना में नीरस यान्त्रिक चक्रगति के स्थान पर इसने एक सरस और सोल्लास अग्रगति ला दी है, यह भी ज्ञात हुआ है। इसी में ग्रन्थ के प्रकाशन की सार्थकता है। फिर भी दुःख यह है कि गहन के प्यासे सर्वत्र ही स्वल्प होते हैं; सरल और सहज का हठ पकड़ कर हम उसी की आड़ में तरल और लघु रस के ही कंगाल बने फिरते हैं। उच्छ्वास की मादकता में कुछ देर मन भले ही भूल जाये, किन्तु अभय का आश्वास वहाँ नहीं मिलता। इसलिए अपनी सत्ता के गहन-तल में गभीर

---

* इस ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में स्वामीजी की अपनी श्लोकमय कथा है :—

चतस्रो हि गिरो गावो दोग्धा गोपाल-गीष्पतिः।
प्रत्यग्वत्सः प्रधीः श्रेष्ठं दुग्धं जपरसायनम्॥
वैखरी प्रभृति कामदुघा, चारि वाक् चारि पयस्विनी,
साक्षात् गोपाल गीष्पति तुमि, बाँधि छन्दे दुहिले आपनि।
छन्दे बाँधि मातार चरणे, प्रत्यक् पियासि वत्स-टिरे,
प्रधीजने दिले प्रियात्प्रिय, जपरसायन (कवोष्ण) दुग्धधारे।

वैखरी आदि चार वाक् चार धेनुरूपा हैं। स्वयं गोपाल गीष्पति दुहने वाले हैं। प्रधी प्रत्यक् प्यासा वत्स है और जप-रसायन श्रेष्ठ दुग्ध है।

(मूल)

रस के आस्वादन की भी योग्यता का अर्जन करना होता है, इसलिए भी प्राथमिक प्रयास अपनी ओर से आना चाहिये। इसी को गुरु-शास्त्र-महाजनों ने 'आत्मकृपा' कहा है। पूज्यपाद स्वामीजी ने भी अनेक स्थलों पर इसका इङ्गित किया है। 'पहले प्रयास, फिर प्रसाद, पहले race, फिर grace' इत्यादि। अमृत कहीं भी सुलभ नहीं है। अपने अन्तरसमुद्र के मन्थन से ही उसका उद्धार करना होता है। मन्थन के प्रयास और क्लेश से पहले सब कुछ 'विषमेव' लगता है, बहुत कड़ुआ और विरस। अन्त में रस-निर्भर का उत्समुख उन्मुक्त हो जाने पर अमृत के अभिषिञ्चन से सब कुछ शीतल हो जाता है। महाजन के ग्रन्थ का भी इसी प्रकार एकान्त अभिनिवेश और अपार धैर्य धरकर मन्थन करते रहना पड़ता है, उसके अन्त में उनकी मर्मवाणी मानो अपने को स्वयं उद्घाटित करती है। एकान्त में कान में सुनाई देती है। उपनिषद् की रहस्य-भाषा में वाक् अपने अमृत का उसके लिये दोहन करके लाकर उसे पिलाती है। इसीलिए इस ग्रन्थ की आपात दुरूहता से आतङ्कित होकर शङ्कित चित्त से दूर न लौट कर इसके निकट आकर इसकी गभीर भाव-तरङ्गों की महा-कल्लोल ध्वनि को कान लगा कर सुनने का यत्न करने में लाभ ही है, क्षति नहीं।

और वह कल्लोल कैसी विचित्र है। महा ओङ्कार की भाँति अद्भुत और मधुर इसकी ध्वनि है। कितने ही विचित्र रागों का आलापन, कितने ही सुरों का अपरूप अनुरणन इसमें ध्वनित-प्रतिध्वनित होता चलता है! यद्यपि एक ही मूल सुर पूरे ग्रन्थभर में बजता चला है, तथापि कहीं भी तनिक पुनरावृत्ति या एकस्वरता-जनित अरुचि मन को पीड़ा नहीं देती -- यही विचित्र है। कहीं तो कोमल परदों पर स्निग्ध सुमिष्ट रस का उल्लासमय रूपायन है, और कहीं रूक्ष और तीक्ष्ण नव्य विज्ञान वा नव्य न्याय की अवच्छेदादि दुर्धर्ष परिभाषाओं की कठोर, शृंखल-झंकार है। दोनों में ही उनका समान अधिकार है, सहज सावलील विहार है। यदि पूरे-पूरे ढंग से इस महासंगीत के सब सुरों के पर्दे न भी पहचानूँ या कान से न पकड़ पाऊँ, तब भी इस परम गुणी के आश्चर्य आलापन को विमुग्ध होकर सुन जाने पर भी हृदय और मन की अनेक कालिमा धुल जाती है, कान भी जुड़ा जाते हैं, प्राण भी शीतल, स्निग्ध हो जाता है।

हमारा परम सौभाग्य है कि इस बार ग्रन्थ के प्रारम्भ में भारतीय साधन-विज्ञान के वाणीमूर्ति पूजनीय आचार्य महामहोपाध्याय डॉ० श्री गोपीनाथ

कविराज महोदय का एक अमूल्य निबन्ध भूमिका के रूप में हम सन्निविष्ट कर सके हैं। पूर्वखण्ड की भूमिका में मैंने उल्लेख किया था कि वे जपसूत्रम् को हाथ में पाकर पुलकित और उच्छ्वसित हुए हैं एवं उन्होंने अपने आप ही इसकी एक विस्तृत आलोचना करने का वचन दिया है। यद्यपि इस बार उन्हें मूल ग्रन्थ का सूत्र पकड़ कर विस्तृत विश्लेषण करने का समय और सुयोग नहीं मिला है, फिर भी संक्षेप में मूल ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का तन्त्रादि शास्त्रों से समर्थन और परिपोषण करके उन्होंने साधारण पाठकों के लिए इसमें प्रवेश का पथ सुगम कर दिया है।* इसके लिये हम उनके प्रति आन्तरिक कृतज्ञता निवेदन करते हैं।

पूर्व खण्ड की भाँति इस वार भी परिशिष्ट में आत्म प्रचार-विमुख परम-ज्ञान साधक मेरे आचार्यदेव पूजनीय श्री मन्मथनाथ मुखोपाध्याय* का 'अर्घो-दय'-शीर्षक एक लघुनिबन्ध दिया गया है। उनके ज्ञानभाण्डार का विस्तृत परिचय सभी को एक दिन मिलेगा ऐसी आशा करता हूँ।

---

* यथा, केवल एक दृष्टान्त के रूप में शास्त्ररसिक सुधी पाठक वैखरी प्रभृति के सम्बन्ध में (जो मूल ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर आलोचित और विख्यात हैं), निम्नलिखित श्लोकों की भावना करें—

त्रयी वाक्प्राणचित्तानां निर्वाहयति याऽध्वरम्।
वाङ्मुख्या वैखरी तत्र प्राणमुख्या च मध्यमा॥
सत्त्वविशालधीमुख्या पश्यन्ती च पराऽपरा।
क्रियादिभ्यः स्वतन्त्रा या जप्तर्षिश्च परो यतः॥
कल्पेक्षणतपः काम ऋषिच्छन्दाध्वदेवताः॥

भावानुवाद—अध्वर (जपयाग) की निर्वाहयित्री त्रयी है—वाक् प्राण एवं चित्त। इस त्रयी का सम्पूर्ण सहयोग चाहिए। उनमें से (व्यक्त) वाक् की मुख्यता से वैखरी (वाचिक, उपांशु, मानस); (मुख्य) प्राण की प्रधानता से मध्यमा; और सत्त्वविशाल बुद्धि की प्रधानता से पश्यन्ती हैं। ये तीन क्रिया-कारक-फल-निष्पाद्या हैं। स्थूल, सूक्ष्म, अपर कारण-भूमि के प्रान्त पर्यन्त इन तीनों की गति हैं। किन्तु अव्यक्त समता, समग्रता की कारणभूमि इन तीनों के भी परे है। उस भूमि पर परा हैं। यह परकारणता का स्थल है। इस स्थल में परा वाक् के सम्बन्ध में (विमर्श में) परतत्त्व स्वयं ही जपकर्त्ता एवं ऋषि हैं, जैसे प्रणव के सम्बन्ध में। एवं परतत्त्व का अनिर्वाच्य ईक्षण यहाँ ऋषि है, काम देवता है, संकल्प छन्दः है और तपः विनि-योग है। सुतरां, इस दृष्टि से परा वाक् परतत्त्व की साक्षात् विमर्शरूपा है, वाङ्मयी परकारणभूमि है। अपर, पर, एवं परम में भेद है। एक प्रकार से पश्यन्ती की गति इन तीनों में ही सम्भावित होती है। (मूल)

ग्रन्थ का कलेवर इस बार कुछ दीर्घ हो गया है। प्रथम अध्याय के सभी पाद इस खण्ड में समाप्त हो गए हैं, एवं द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद भी समाप्त-प्राय है। विभिन्न विशिष्ट विषयों का एक संक्षिप्त सूचीपत्र आरम्भ में दिया गया हैं। इस बार भी ग्रन्थकलेवर में थोड़े-वहुत भ्रम-प्रमाद अनेक अनिवार्य कारणों से रह गए हैं, किन्तु वे अर्थ के वोधक नहीं, तो बाधक भी नहीं होंगे ऐसी आशा करता हूँ।

अन्त में पूज्यपाद स्वामीजी के मानसमुकुर में जिस चैतन्य-चन्द्रिका के अद्भुत उद्भासन से इस नित्य नव ज्ञान का विकिरण होता आ रहा है, उन्हीं की रचित एक वन्दनागीति के सुर में सुर मिला कर हम उस चन्द्रिका का वरण करते हैं :

आगमाक्षरनक्षत्रलाजमङ्गलरोचिषम्।
चिन्नभः-कौमुदी-चेतः-सरः-कुमुदिनीमुदम्।
वृण्वे सत्स्मितसारं मे वल्लभास्यसुधाकरम्॥
तारका वीथिर छले, आगमेर मन्त्र-वर्ण-राजि,
जा'र रुचिरोचिषेरे, डाले लाज मङ्गल अञ्जलि।
चिदाकाशे विकिरण, चिर जा'र कनक-कौमुदी,
चित-सरसी ते मोर, कुमुदिनी आनन्द-दीपाली।
चिदानन्दे सम्प्रसाद, सत्य स्मित अमृतेर सार,
वरि मम वल्लभेर, (सेई) मुखशशि-रुचि वारम्वार॥

[भावानुवाद—मैं अपने वल्लभ के मुखचन्द्र का वरण करता हूँ। उनके मुख की कान्ति को आगमों के मन्त्रवर्ण नक्षत्रों के व्याज से लावे की मङ्गल अञ्जलि डालते हैं। चिदाकाश में उनकी कौमुदी का नित्य विकिरण होता है। मेरे चित्त-रूपी सरोवर में वह कौमुदी कुमुदिनी को आनन्द देती है। सत्यस्मित-रूपी अमृत-सार से वह मुखचन्द्र पूर्ण है।]

महालया
बंगाव्द १३६०
विक्रमाव्द २०१०

श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

---

* ग्रन्थकार के अग्रज। यहाँ उल्लिखित निवन्ध हिन्दी ग्रन्थमाला में पंचम परिशिष्ट खण्ड में स्थान पाएगा।—अनुवादिका।

निवेदन

(मूल चतुर्थ खण्ड से उद्धृत)

बिन्दु से ही सिन्धु की सृष्टि होती है। जपसूत्रम् ने जब एक दिन सूत्राकार में क्षीण और सूक्ष्म कलेवर लेकर आत्म-प्रकाश किया था, तब उसी सूत्र के ही ताने और बाने में, लम्बाई और चौड़ाई में यह सुविपुल महाग्रन्थ अध्यात्म-शिल्प के एक विचित्र निदर्शन के रूप में अपने को फैलायेगा, ऐसी कल्पना किसी ने नहीं की थी। देखते-देखते श्रीभगवान् की असीम कृपा से इसका चतुर्थ खण्ड इस बार प्रकाशित हुआ। कहाँ व कब इसका उपसंहार होगा इसका निर्देश व विज्ञप्ति देना भी हमारे लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि साधारण आत्मसचेतन रचना में जिस प्रकार परिसमाप्ति की एक सुनिर्दिष्ट परिकल्पना लेकर सब लोग अग्रसर होते हैं, इस क्षेत्र में उसका व्यतिक्रम और अभाव है। पूज्यपाद स्वामीजी सर्वदा ही यह अनुभव करते हैं कि यह रचना उनकी कृति नहीं है; जो निखिल के 'दृष्टिर्मतिरतिप्रदः' हैं यह उन्हीं का अपना विचित्र विलास है, इस क्षेत्र में वे स्वयं यन्त्रमात्र हैं। संस्कृत में लिखित मूलग्रन्थ—पंचशताधिक सूत्रों में एवं द्विसहस्राधिक कारिकाश्लोकों में पहले से ही प्रस्तुत रहने पर भी सूत्रों के व्याख्यान-विवृति-विस्तार में एवं प्रसङ्गतः नव-नव छन्दो-भाव-वैभवमयी श्लोकसृष्टि में, ग्रन्थ-कलेवर अचिन्तित रूप से विपुल से विपुलतर हो चला है, अतएव जपसूत्रम् की प्रतिपाद्य मूलवस्तु-संस्था सुनिर्दिष्ट रहने पर भी उस सम्बन्ध में ध्यान-मनन आदि की जो धारा क्रम-वर्धमाना हो चली है, वह कब परिपूर्णता में पहुँचेगी, यह एक-मात्र वे सर्वपरिपूर्णताधार ही जानें।

बहुत लोगों को इस प्रकार परिसमाप्ति के विषय में परिकल्पना-हीन रचना, कहीं-कहीं असम्बद्ध, दुर्बोध-भावयुक्त और भाषा विलास-मात्र प्रतीत हो सकती है, किन्तु शास्त्र-रसिक-मात्र ही जानते हैं कि स्थूलतः नाना परस्पर-विरोधी विच्छिन्न वाक्यराशि के बीच समन्वय का स्वर्णसूत्र खोज निकालना ही विशारदी बुद्धि का यथार्थ काम है। जो लोग इतने-से परिश्रम से पराङ्मुख हैं, उन्हें वेद उपनिषद् गीतादि सभी अध्यात्म-शास्त्र अनेक स्थलों में विविध व्यामिश्र वाक्यों की जटिलता के रूप में ही प्रतीत होंगे। वे लोग सोचते हैं कि स्तूपीकृत काचखण्डों के बीच दो चार मणिखण्ड भी शायद बिखरे हुए हैं।

इसीलिए वेदान्त-दर्शन 'शास्त्रयोनित्वात्*'—इस सूत्र में ब्रह्म वा आत्मा का प्रमाण एकमात्र शास्त्र को कहकर ही क्षान्त नहीं हुआ है, परवर्त्ती सूत्र में ही 'तत्तु समन्वयात्†' कहकर उसने इस अमूल्य समन्वय-तत्त्व की प्रयोजनीयता समझाई है।

जपसूत्रम् में भी सर्वप्रथम वह मूल रागिणी पहचान लेना आवश्यक है। जपसूत्रम् मुख्यतः मन्त्रशास्त्र है, इसीलिए इसकी नाना सुर-लहरी घूम-फिर कर सर्व-मन्त्र-मूल उस परम ओङ्कार को ही स्पर्श करके आवर्त्तित होती रही है। ॐकार का द्विविध प्रकाश है—एक उसकी पाद की दिशा है, दूसरी मात्रा की दिशा है। चेतना के विभिन्न पर्वों में व्याप्त जो प्रकाश है, वह पाद की अभिव्यक्ति है, वैसे ही ठीक तदनुरूप स्पन्दन का उन्मेष मात्रा का निर्देश करता है। एक ओर ज्ञान की धारा है, दूसरी ओर क्रिया की धारा है। स्पन्दन के आश्रय से चेतना का उन्मेष ही जपादिसाधन का लक्ष्य है। जपसूत्रम् में भी इन दोनों दिशाओं की आलोचना सर्वत्र फैली हुई है; एक दुरूह तत्त्वालोचना की धारा है, दूसरी मन्त्रादि स्पन्दन के नियामक वर्ण-रसायन का निपुण विश्लेषण है। जैसे इस खण्ड में 'अक्षर' प्रभृति को दार्शनिक तत्त्वालोचना में स्थान मिला है, वैसे ही ॐकार के विभिन्न विवर्तनों में किस प्रकार साधारण लोगों के लिए सुगम 'राम' वा 'माँ' नाम प्रकट हुआ है, इसका भी विचित्र विवरण दिया गया है। हमारे देश के अध्यात्म-शास्त्र ने सर्वत्र ही इन दो क्रमों का अनुसरण किया है। पातञ्जल योगदर्शन में समाधि-पाद में समाधि का लक्षण इत्यादि तत्त्वविचार उपन्यस्त करके साधन-पाद में समाधि-लाभ की उपयोगी क्रिया का वर्णन किया गया है। गीता में पहले ही द्वितीय अध्याय में दुरूह सांख्ययोग में आत्मतत्त्व की दुरधिगम्य आलोचना की अवतारणा है, एवं वाद में कर्मयोगादि के प्रसङ्ग में उसी की साधन-सरणि विभिन्न पर्वों में अष्टादश अध्याय तक सुविन्यस्त है। योगवासिष्ठ ने भी **'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य'** कहकर इस युग्म पक्ष का इङ्गित दिया है। एक **'सम्यगवेक्षणम्'** वा ज्ञानधारा है, दूसरी **'प्राणस्पन्द-निरोधनम्'** वा क्रिया की धारा है। इस उभयधारा के बीच से गुप्ता सरस्वती की भाँति भक्ति की फल्गु धारा बहती है एवं इस त्रिधारा के सार्थक समन्वय-रूप महात्रिवेणी-सङ्गम में जो अपने को निमज्जित कर सकते हैं, उन्हीं की साधना सिद्धि की सफलता और पूर्णता की महिमा से मण्डित होती है।

* ब्रह्मसूत्रम् १।१।३ —अनूवादिका।
† ,, १।१।४ ,, ।

दुःख की बात है कि आधुनिक युग के प्रयास-विमुख जनसाधारण में किसी भी धारा को निष्ठा के साथ पकड़ने या समझने का धैर्य नहीं है, अनुष्ठान तो दूर की बात है। किसी महापुरुष का निश्चिन्त पदाश्रय-लाभ करके आयास के विना भवसिन्धु-उत्तरण के लिये ही सभी व्याकुल हैं। किन्तु यथार्थ 'आश्रय'-लाभ' होने पर निरुद्वेग और निरापद अवस्था का जो बोध जीवन को अनाविल प्रशान्ति से भर डालता है, उसका कोई लक्षण किसी के भी चित्त में प्रस्फुटित होते देखा नहीं जाता। हम लोग सभी भूल बैठे हैं कि संसार में वासना का धन व साधना का धन जो कुछ भी खरीदना चाहें वह यथार्थ मूल्य के विना नहीं मिलता। **'कृष्ण-भक्ति-रस-भाविता-मतिः*"** अति उपादेय और आकांक्षणीय वस्तु है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इसीलिये क्या केवल गद्‌गद् उच्छ्वास से दो विन्दु अश्रुपात से ही वह मिल जायेगी? इसीलिये भक्त-महाजन साथ-साथ मूल्य भी तय कर देना भूले नहीं हैं—**'तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलम्'** एवं वह भी फिर **'जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते'**। 'जपसूत्रम्' की आलोचना से लोगों को प्रवुद्ध करने में आशानुरूप प्रतिस्पन्दन जो नहीं मिलता, उसका कारण यही है कि इस युग का मनुष्य मूल्यदान में असम्मत है, तपस्या से विमुख है, परिश्रम में कातर है। मेरे पूजनीय-चरण आचार्यदेव महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज महाशय इसीलिये दुःख व्यक्त कर रहे थे कि वे सभी को इस अपूर्व ग्रन्थ के पठन और आलोचन में प्रोत्साहित करते हैं, किन्तु सभी इसकी दुरूहता के कारण अग्रसर होना नहीं चाहते। दुरूह को बोधगम्य करने के लिए वुद्धि का जितना-सा प्रयास और सुस्थिर विनियोग अपेक्षित है, उतना-सा वे करने को राजी नहीं हैं। किन्तु काल भी अनन्त है, देश भी असीम है; सुतरां यह महाग्रन्थ जिस-किसी देश वा काल में किसी निष्ठावान् साधक के हाथ में पड़ कर उसे अवश्य ही उत्फुल्ल और उल्लसित कर देगा एवं उसकी साधना में नूतन प्रेरणा और रस का संचार करेगा इस उद्देश्य से हमारा ग्रन्थ-प्रकाशन है।

'जपसूत्रम्' के और एक वैशिष्ट्य की ओर सभी की दृष्टि आकृष्ट हुई होगी, एवं वह है एक-एक शब्द को पकड़ कर उसके प्रत्येक वर्ण का विश्लेषण करते हुए उसका निगूढ़ मर्मार्थ पकड़ने का प्रयास। यहाँ भी कई लोगों के मन में

---

*कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥
(पद्यावली—१४)—अनुवादिका।

धारणा हो सकती है कि यह केवल यादृच्छिक कष्ट-कल्पना है, किन्तु यह हमारी सुप्राचीन पद्धति का ही पुनरुज्जीवन है। वेदमन्त्रों की व्याख्या में भी निरुक्त-कार यास्क एवं उनके भी पूर्ववर्ती और्णनाभ, स्थौलष्ठीवि, शाकपूणि प्रभृति आचार्यों ने इसी रीति का अनुसरण करके वेद के रहस्यार्थ के उद्‌घाटन की चेष्टा की है। यहाँ तक कि उन लोगों से भी पहले स्वयं ऋषिवृन्द ने उप-निषद् में विविध विद्याओं के प्रसङ्ग में, जैसे उद्‌गीथ-विद्या में 'उत्+गी+थ' प्रत्येक अक्षर की व्यञ्जना का इस प्रकार विश्लेषण किया है। हमारे आधु-निक मार्जित (?) भाषाविज्ञानी की वुद्धि को यह सब अब हास्यकर प्रयास प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु साधनराज्य के गहन लोक में जो भी प्रवेश करना चाहते हैं, वही इनका निगूढ़ संकेत-मूल्य समझ कर धन्य होते हैं। जैसे निगम में, वैसे ही आगम में भी इस वर्ण-विश्लेषण ने एक विशिष्ट स्थान पर अधिकार कर रखा है, एवं बीज-मन्त्रादि सब कुछ ही इन स्वर-व्यंजनों के नानाविध संश्लेष-समन्वय के रहस्य पर प्रतिष्ठित हैं। यहाँ तक कि समस्त सृष्टि का विकास-रहस्य भी इस वर्णमाला के बीच ही संगोपन में सुरक्षित है। मन्त्र-महेश्वर अभिनव-गुप्ताचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध तन्त्रालोक नामक महाग्रन्थ में तीन मूल स्वर 'अ इ उ' के आश्रय से ही विश्व-सृष्टि की व्याख्या की है—

'योऽनुत्तरः परः स्पन्दो यश्चानन्दः समुच्छलन्।
ताविच्छोन्मेषसंघट्टाद् गच्छतोऽतिविचित्रताम् ॥'

सबके मूल में 'अनुत्तर' रूप में परम परिसीमा में पड़ा हुआ है 'अ'कार; उसके बाद अपने को कुछ दीर्घ, विस्तृत करके 'आ'कार में उच्छल 'आनन्द' का समुल्लास है; उस आनन्द से ही 'इ' कार में सृष्टि की 'इच्छा' वा काम-बीज की उत्पत्ति, एवं बाद में 'उ'कार में उस बीज का ही उन्मेष वा अङ्कुरोद्‌गम है। सुतरां 'अ आ इ उ' इन कुछ-एक स्वरों के संघट्ट वा परस्पर सम्मिलन से ही इस अतिविचित्र विश्व का विकास हुआ है। साधक के लिये इस संकेत का मूल्य अपरिसीम है, क्योंकि यही उसे ध्यान की निविड़ता में समाधि के गभीर गहन में डुबा देता है। 'जपसूत्रम्' में भी इसी प्रकार इतने स्तोत्र-मन्त्रों पर अभिनव प्रकाश डाला गया है कि सोच कर विस्मित होना पड़ता है। पूज्यपाद स्वामीजी ने इन सब क्षेत्रों में आर्ष ऋषियों की सनातन धारा का ही पुनरुज्जीवन किया है एवं उस ऋषि-जुष्ट पथ से ही नाना विलुप्त मणि-मणिक्यों का समुद्धार करके ला दिया है। यह सब उनकी कष्ट-कल्पना का व्यर्थ प्रयास नहीं है—यह बताने के लिए ही ऊपर कुछ-एक बातों की अवतारणा की गई।

'जपसूत्रम्' का तृतीय खण्ड पूजनीय आचार्यदेव महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज महाशय की अमूल्य भूमिका से समृद्ध हुआ था। उसमें विशेषतः तन्त्रशास्त्र की ओर से जपसाधना के अनेक गूढ़ तात्पर्य और अज्ञात तथ्य सब के लिये उद्घाटित हुए हैं। इस वार हमारे विशेष सौभाग्यवशतः और एक विशिष्ट साधक और मनीषी श्रीमद् अनिर्वाण* वेद की दृष्टि से जप-रहस्य के उद्घाटन में अग्रसर हुए हैं। एवं उन्होंने एक बहुमूल्य संक्षिप्त निबन्ध में वेद में जपादि साधन का जो मूल सुगोपन में संरक्षित है, उसका कुछ परिचय अपनी साधनलब्ध प्रज्ञा के भास्वर आलोक से प्रकाशित किया है।† स्वप्न देखता हूँ कि कब इन सब महामनीषी और साधकों के समवेत सार्थक प्रयास से पुनः आर्ष साधन-विज्ञान पूर्ण गौरव से आत्मप्रकाश करेगा! शायद हमारा यह विच्छिन्न प्रयास उसी की सूचना वा पूर्वाभास मात्र है।

जपके सम्वन्ध में नाना तथ्य और तत्त्वों के भार से पीड़ित होकर बहुतों का मन शायद इसकी वास्तव कार्यकारिता के सम्बन्ध में आस्था खो बैठे, यह केवल सार्थकता-विधूत वाक्य-विलास एवं भावविलास प्रतीत होने लगे। किन्तु निष्ठा के साथ साधना में आत्म-नियोग करने पर श्रीगुरु-दत्त नाम वा महामन्त्र अब भी साधक पर किस प्रकार कृपा करते हैं इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति का सामान्य विवरण इसीलिये इस वार परिशिष्ट के रूप में सब से अन्त में ग्रन्थ के उपसंहार में दिया गया है। यह सब साधक की एकान्त गुह्यातिगुह्य अनुभूति का परम गोप्य विवरण है, इसीलिए साधारण के सामने प्रकाशित करने में स्वभावतः ही कुण्ठा होती है। किन्तु यह महासाधक अब लोकलोचन अगोचर दिव्य धाम में चले गये हैं, इसलिये इस विवरण के प्रकाश से उनकी महिमा के प्रचार से किसी क्षति की सम्भावना नहीं है. वरं नाम की महिमा के उद्घोषण से लाभ ही है, यह सोचकर ही इसके प्रकाशन का हमने साहस किया है। 'जपसूत्रम्' के प्रकाशन में इन महापुरुष की प्रेरणा ही प्रथम और प्रधान थी, वही थे इसके प्राण। 'जपसूत्रम्' की प्रत्येक बात उनकी दिव्यानुभूति

---

* स्वामी अनिर्वाण जी वैदिक वाङ्मय के अपूर्व अनुसन्धित्सु हैं। आपके विशाल ग्रन्थ 'वेदमीमांसा' के प्रथम दो खण्ड राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता से प्रकाशित हो चुके हैं।—अनुवादिका।

† हिन्दी अनुवाद की ग्रन्थमाला में जपसूत्रम् के सभी परिशिष्ट पंचम खण्ड में दिये जायेंगे।

की वीणा में जो झङ्कार जगाती थी, उसी का उल्लास नित्य नवीन रचना में ग्रन्थकार को उद्बुद्ध करता था। वह आश्चर्यमय आदान-प्रदान भाव-विनिमय केवल अन्तर का ही आस्वाद्य था एवं उस दिव्य आस्वादन की स्मृति आज भी हृदय को अमृत से भरे हुए है। यह अपूर्व विवरणी पढ़ते समय दो बातें ध्यान में रखने की हैं, प्रथमत: यह कि साधक में नाम मानो अपने आप क्रिया करता हुआ चलता रहा है, वे स्वयं केवल नीरव साक्षी या द्रष्टा के रूप में देह के विभिन्न अवयवों से नाम के उत्थान और गतिभङ्गी को ध्यान में लेते चले हैं। द्वितीयत: केवल ध्वनि के स्पन्दन व गुन्जन का अनुसरण करने पर वह यान्त्रिक क्रिया-मात्र ही रह जाती है। किन्तु नाम जो चैतन्यशक्ति है, उसका परिचय तभी मिलता है जब संकीर्ण जैव चेतना प्रसारित होते-होते दिव्य चेतना में स्थिति-लाभ करती है। क्रिया की सार्थकता बोध के उन्मेष और व्याप्ति में ही है, विवरणी के शेषांश में इसी का इङ्गित दिया गया है। **'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'** *यह जपरूप कर्म में विशेष भाव से प्रयोजनीय और सर्वदा स्मरणीय है।

प्रत्येक बार परिशिष्ट में जिनकी एक ज्ञानगर्भ रचना सन्निविष्ट करके हम ग्रन्थ का गौरव बढ़ाते थे, अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है कि मेरे उन परम पूजनीय अध्यापक श्रीमन्मथनाथ मुखोपाध्याय को इस बीच हम खो बैठे हैं। वे पूज्यपाद स्वामीजी के अग्रज थे एवं इसीलिए अपने प्रतिभावान्, सर्वत्यागी अनुज की इस रचना के प्रति उनका केवल गम्भीर ममताबोध था इतना ही नहीं, अन्तर के अनुभव से वे इसका आस्वादन करते थे। सद्गुरु से नाद-साधना में दीक्षित होकर पूरा जीवन भर गम्भीर महानिशा की स्तब्ध मौनता में वे विश्वसंगीत के छन्द और सुर में अपनी वीणा मिलाने का नियमित प्रयास करके कृतकृत्य हुए थे। कर्म-जीवन में वे सरकारी शिक्षा-विभाग में दर्शन के अध्यापक थे, एवं कृष्णनगर कॉलेज के उपाध्यक्ष के रूप में प्राय: बीस वर्ष पहले उन्होंने अवकाश ग्रहण किया था, उसके बाद वर्धमान के अन्तर्गत अपने ग्राम चाण्डुली में प्राकृतिक परिवेश के बीच उन्होंने सबके अलक्षित रहकर नाम-साधना में एवं ज्ञानानुशीलन में अपने को डुबाये रखा था। दर्शन उनके अवसर-विनोदन का विलास नहीं था, जीवन का नियामक था। ज्ञान एवं रस दोनों से ही उनका जीवन सुसमृद्ध था। उनका पठन का विषय इतना विस्तृत था कि वह

---

* श्रीमद्भगवद्गीता ४,३३—अनुवादिका।

दर्शन की सीमा का अतिक्रम करके साहित्य, विज्ञान, ललित कला-प्रभृति सभी क्षेत्रों में समान रस और प्रेरणा प्राप्त करता था। अपनी गम्भीर चिन्ताराशि को वे प्रतिदिन ही लिपिवद्ध करके रखते थे। इन दिनों वेद के अनेक तत्त्व, विशेषतः 'सोम' उन के एकान्त ध्यान का विषय वना हुआ था। उनकी रचनावली के अंश-विशेष भविष्य में प्रकाशित कर सकूँगा, ऐसी आशा है। 'जपसूत्रम्' के विरल वोद्धाओं में से और भी एक चले गये हैं। यह शून्यता फिर से पूर्ण होने की नहीं है।

कलकत्ता   श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय
दशहरा
बंगाव्द १३६३
ज्येष्ठ,
विक्रमाव्द २०१३

———

निवेदन

(मूल पञ्चम खण्ड से उद्धृत)

'जपसूत्रम्' के पञ्चम खण्ड ने आत्मप्रकाश किया है। गत चार खण्डों में विविध कला-वितान में जप का प्रसङ्ग जिस प्रकार विस्तृत भाव से आलोचित होता आया है, उसमें मूल ग्रन्थ का केवल प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद मात्र अतिक्रान्त हुआ है। अथच मूल ग्रन्थ चार अध्याय और सोलह पादों में सम्पूर्ण होता है। इस क्षेत्र में ग्रन्थ की परिसमाप्ति विलम्बित एवं कलेवर भी क्रमशः दीर्घायित होगा ऐसी सम्भावना ही थी; किन्तु जो सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्ष हैं, वे ही पूज्यपाद स्वामीजी को अव की बार इस महाग्रन्थ के समापन की ओर खींच ले चले हैं। इसीलिए इस पञ्चम खण्ड में द्वितीय अध्याय के वाकी तीन पाद एवं तृतीय अध्याय के भी दो पाद गृहीत और आलोचित हुए हैं। अन्तिम और एक खण्ड में वे इस महाग्रन्थ का उप-संहार कर सकेंगे ऐसी उनकी अन्तःप्रेरणा है।

इसीलिए यह खण्ड पूर्व-पूर्व खण्डों से कुछ विलक्षण है। यहाँ प्रधानतः लक्षण अथवा संज्ञा के निर्देश के संक्षिप्त परिसर में तत्त्वों को ध्यानगम्य बनाया गया है। हमारे सभी शास्त्र संज्ञा-निर्देश की सुसंयत महिमा से समुज्ज्वल हैं। कोई भी तत्त्व वुद्धि को तब तक ग्रहणीय नहीं होता जब तक सुस्पष्ट संज्ञा और लक्षण से वह निर्दिष्ट नहीं होता। लक्षण का काम है **'इतरयोगव्यवच्छेद'**। अर्थात् अन्य सब कुछ के योग से व्यवच्छिन्न वा पृथक् करके शुद्ध रूप से एकान्त भाव से अपने निजस्व रूप को स्फुट करना। यहाँ अव्याप्ति-अतिव्याप्ति अर्थात् लक्षण की नितान्त सङ्कीर्णता वा व्यापकता इत्यादि दोषों का यत्नसहित परिहार करके विशेष निपुणता के साथ लक्षण-निर्देश करना होता है। यहीं पर न्याय की परिभाषा की सार्थकता है। अवच्छेदक, अवच्छिन्न, प्रतियोगित्व इत्यादि दुरूह पारिभाषिक शब्दों से हमारा आधुनिक शिक्षित मन विव्रत और विपर्यस्त होता है, फिर भी इनकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती। पूज्यपाद स्वामीजी ने भी लक्षण-निर्देश में प्रधानतः इस प्राचीन शैली का ही अनुसरण किया है। अवश्य ही विशद बङ्गला व्याख्या में उन्होंने इन पारिभा-षिक शब्दों को यथासम्भव खोलकर उनका अन्तर्निहित तात्पर्य प्राञ्जल भाव

से समझाया है। फिर भी हमारा दुरूहता-पराङ्मुख मन सहज और सरल का हठ करके बैठा है, इसलिए उन सब को अग्राह्य करके वा आलस्यवश उनकी उपेक्षा करके ही चलना चाहता है। किन्तु चाहे जो साधन हो, उसके सिद्धान्त वा तत्त्व के सम्बन्ध में सुस्पष्ट धारणा न रहने पर अधिक दूर अग्रसर नहीं हुआ जाता एवं इस सुस्पष्ट धारणा के लिए ही, लक्षणादि को इतना रगड़ना और माँजना पड़ता है। इसीलिए हमारे देश में भक्तिशास्त्र ने भी केवल लीला-चिन्ता में विभोर होकर ही अपनी सार्थकता का प्रतिपादन नहीं किया है, अन्त-रङ्गा, वहिरङ्गा, तटस्था आदि शक्ति-प्रभृति की परिभाषा से अपने सिद्धान्त के संस्थापन में उसने प्राण-पण से प्रयास किया है। चैतन्यचरितामृत के पूजनीय ग्रन्थकार श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने श्रीश्रीगौर-लीला का वर्णन करते हुए भी इन सब वैष्णव-सिद्धान्तों का प्रसङ्ग आरम्भ में ही उठाया है, एवं कहीं लीला के सरस वर्णन के श्रवण में उत्सुक और अधीर पाठकवर्ग इस अंश को नीरस और दुर्बोध्य, एवं इसीलिए गौण व अप्रयोजनीय मान कर इसकी उपेक्षा न कर बैठें, इसलिए वे सावधान वाणी का उच्चारण करना भी भूले नहीं हैं। उनकी वह अमूल्य वाणी प्रत्येक साधक का कण्ठहार होने योग्य है—

'सिद्धान्त बलिया चित्ते ना करो आलस।
इहा हइते कृष्णे हय सुदृढ़ मानस ॥*'

सुतरां भक्ति भी केवल तरल उच्छ्वास ही रह जाती है, यदि वह सुचिन्तित सिद्धान्त पर सुप्रतिष्ठित न हो। जो लोग समझते हैं कि ज्ञान के प्रखर ताप से भक्ति की निर्झरिणी विशुष्क हो जाती है, वे लोग श्रीभगवान् के निज मुख की उक्ति 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते†' को ही भूल जाते हैं। श्रीमद्भागवत के भी ध्यान के विषय 'जन्माद्यस्य यतः‡' वे 'सत्यं परं' हैं, जो 'न खलु गोपिकानन्दनः§' किन्तु 'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' हैं।

यहाँ यह प्रसङ्ग अवान्तर लग सकता है, किन्तु इसकी अवतारणा केवल यही दिखाने के लिए है कि हमारी बुद्धि को स्वाभाविक अलसता और ताम-

---

* चैतन्यचरितामृत १.२.११३—अनुवादिका।
† श्रीमद्भगवद्गीता ७.१७—अनुवादिका।
‡ श्रीमद्भागवत १.१.१.— „ ।
§ „ १०.३१.४— „ ।

सिकता से उद्बुद्ध करने के लिये महाजनों के अनलस निरवच्छिन्न प्रयास के स्वाक्षर भारत के विविध अध्यात्म-शास्त्रों में उत्कीर्ण हैं। 'जपसूत्रम्' में भी उसका व्यतिक्रम नहीं हुआ है। पूज्यपाद स्वामीजी ने एक ओर जैसे आधार, अधिष्ठान, निधान, आश्रय, इत्यादि वेदान्त के तत्त्वों का लक्षण-निर्देश करने में कार्पण्य नहीं किया है, वैसे ही वराह, नृसिंह, वामन आदि पौराणिक तत्त्वों के रहस्योद्घाटन में भी वे तत्पर हुए हैं, एवं साथ-साथ तत्त्व की दृष्टि से अकार, इकार, उकार आदि वर्णों के अन्तर्निहित तात्पर्य के विश्लेषण में भी उनका समान आग्रह है। उनकी समन्वयी दृष्टि के स्वच्छ आलोक में वेदान्त, पुराण, तन्त्र आदि प्राचीन अध्यात्मशास्त्र, यहाँ तक कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के तत्त्व भी एक अखण्ड तात्पर्य से समुद्भासित हैं। इसीलिये जपसूत्र का जो निष्ठा के साथ पाठ करेंगे, उनकी आर्यसाधना की विभिन्न शाखाओं की परिक्रमा भी साथ-साथ हो जायेगी, एवं नव्य विज्ञान के आलोक में सनातन सत्य मिथ्या वा म्लान नहीं हो गये हैं, और भी प्रोज्ज्वल और परिपुष्ट हो गये हैं, इस प्रत्यय-लाभ से वे धन्य होंगे।

उपसंहार में और एक विषय के प्रति पाठकवर्ग की दृष्टि आकर्षित करके क्षान्त हो जाऊँगा। पूज्यपाद स्वामीजी ने इस महाग्रन्थ में वेदान्त, तन्त्र, पुराण वा विज्ञान के जो भी प्रसङ्ग उठाये हैं, उन सभी का मूल लक्ष्य एक ही है—जपविज्ञान को ही नाना-भाव से समझने का प्रयास। नहीं तो केवल कुछ-एक तत्त्व या लक्षण जान लिए या सीख लिये या उनके द्वारा अपने पाण्डित्य का ख्यापन किया यह यहाँ का लक्ष्य नहीं है। जैसे **'निरपेक्षाक्षरत्वमाधारत्वम्'** (मूल पंचम खण्ड पृ० १) इस लक्षण में 'निरपेक्ष' 'अनपेक्ष' इत्यादि शब्दों के सूक्ष्म विश्लेषण-पूर्वक आधार को समझ लेने से ही नहीं हो जायेगा, ओङ्कारादि-जप में आधार क्या है, एवं कैसे उस आधार में जप को मिलाना होता है, यह जानने पर ही आधार को ठीक से जानना व समझना हुआ—ऐसा मानना होगा। वैसे ही आधार को सामान्यतः वस्तु दृष्टि से 'वज्रसत्त्व' वा क्षयहीन तल के रूप में, शाक्ती दृष्टि से 'मूलाधार' के रूप में, मान्त्री दृष्टि से ओङ्कार व गायत्री के रूप में एवं यान्त्री दृष्टि से 'हृल्लेखा' के रूप में विभिन्न दृष्टि-कोणों से जानने या पहचानने पर ही बोध पूर्णाङ्ग होता है। जपसूत्रकार ने बार-बार स्मरण करा दिया है कि आर्ष दृष्टि से बोध तभी पूर्णाङ्ग एवं फल-पर्यवसायी होता है जब 'विद्यया-श्रद्धया-उपनिषदा' उसका अनुशीलन होता है।

हम भी अपनी-अपनी जप-क्रिया में यदि इन तीनों का सम्मिलन साध कर जप का 'आधार' वा 'अधिष्ठान' क्या है, जप के बीच ही 'वामन' वा 'नृसिंह' आदि कहाँ कैसे छिपे हुए हैं, जप के अक्षरों में से अकारादि किसकी व्यञ्जना वा इङ्गित वहन कर के ला रहे हैं, इत्यादि—इस प्रकार 'ध्यान लगायें' अर्थात् गम्भीर-गहन में प्रवेश का प्रयास करें तभी ग्रंथ की सार्थकता, ग्रन्थकार के सुविपुल आत्मनियोग की चरितार्थता एवं हमारे अपने अपने जीवनसाधन की भी कृतार्थता होगी।

श्रीगोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

कलकत्ता,
महाविषुव सङ्क्रान्ति,
वङ्गाब्द १३६४
विक्रमाब्द २०१४

निवेदन

(मूल षष्ठ खण्ड से उद्‌धृत)

'जपसूत्रम्' इस बार उपसंहार के पर्व में आ पहुँचा है। नदी अब नदीनाथ में मिल गई है। जिस दिन दो-चार पंक्तियों के क्षीण स्रोत में से होकर इस निर्झरिणी का निर्गमन हुआ था, उसी दिन से इसका पूर्ण सिन्धु में निमज्जन भी मानो सुनिर्दिष्ट था। बृहदारण्यक उपनिषद् की भाषा में तभी यह मालूम था—'*समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः'। ६ विस्तृत खण्डों में आज इसने एक विपुल महोदधि का आकार धारण कर लिया है, इसका तल दुरवगाह है, कल्लोल विचित्र हैं, इसके अतल में न जाने कितने मणि-माणिक्यों की झिलमिल है! प्राण की प्रेरणा से प्रत्यगात्मा के हृत्कन्दर से यह उत्सारित हुआ है, इसीलिये इसका कभी विनाश नहीं, कहीं अवसान नहीं। 'श्रीगुरुपादाब्जदल-पञ्चकम्' में श्रीगुरुपादपद्म का स्मरण करके गोविन्द को लक्ष्य करके 'जपसूत्रम्' की यात्रा शुरू हुई। इसके उपसंहार में भी वही एक ही बात है। इसकी अन्तिम पंक्ति में भी वही एक ही सुर है : त्रिवेणी की तीन धाराओं में से "मुख्यतमा हैं भगवान् की अनुग्रहाख्या शक्ति के परम-घन-विग्रह-रूप श्रीगुरु की कृपा" (मूल षष्ठ खण्ड पृ० ३८४)। इसीलिये इस महायात्रा के प्रारम्भ में भी जैसे श्रीगुरु हैं, इसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति के मूल में भी वही हैं; सब कुछ ही उस गुरुशक्ति की ही अपार महिमा है।

'जपसूत्रम्' इस नाम से ही स्पष्ट है कि इसकी मुख्य विषयवस्तु वा आलोच्य विषय 'जप' है। जप मुख्यतः मन्त्रात्मक है। इसीलिये मन्त्र का स्वरूप-निर्णय इसका एक प्रधान अंग है, इसे त्रिवेणी की मुख्य धारा कहा गया है। इस प्रसंग में कितने असंख्य बीजमन्त्र, नाम इत्यादि का रहस्य-विश्लेषण करके दिखलाया गया है। यह मुख्य धारा जब अपने गति-पथ पर यथायथ भाव से कुछ दूर अग्रसर हुई तब मुख्यतरा एक अन्य धारा आकर उसमें मिलित हुई। यह है इष्ट वा आराध्य वा मन्त्रेश्वर की धारा। मन्त्र के हृद्देश में, केन्द्र-कोरक में अधिष्ठित हैं वे जो मन्त्र के देवता हैं, जो मन्त्र के 'मधु' हैं, जो मन्त्र के प्राण वा चैतन्य हैं। तन्त्र की रहस्य-परिभाषा में यही बिन्दु हैं। इस बिन्दु की ही विगलित धारा है नाद। यही मधु-निष्यन्द वा मधु-प्रवाह है। मन्त्र में जब तक इस 'मधु' का संस्पर्श नहीं मिलता तब तक लगता है

---

* बृहदारण्यकोपनिषत् १. १. २—अनुवादिका।

सभी कुछ 'श्रम एव हि केवलम्'। सब साधकों की इच्छा का विषय वा 'इष्ट' है यही मधु। इसीलिये इस धारा को मुख्यतरा कहा गया। इस इष्ट की आलोचना के प्रसंग में 'जपसूत्रम्' में श्रीगणेश से शुरू करके कालिकादि तक प्रधान पञ्चदेवता वा दश महाविद्या की नाना आपातभीषण छिन्नमस्ता, धूमावती इत्यादि कितनी ही विचित्र मूर्त्तियों का अगाध रहस्य उद्घाटित हुआ है, जिसके फल से तिक्त-कषाय भी मधुर होकर परम आस्वाद्य बन गया है। अन्त में जिस मुख्य अनुग्रहशक्ति की प्रेरणा से वा कृपा-दीक्षा के फल से मन्त्र एक शलाका के रूप में स्थूल अन्नमय कोश में वा वैखरी भूमि में साधक के 'कानेर भीतर दिया मरमे'* प्रविष्ट हुआ था, उन्हीं श्रीगुरु की परिपूर्ण महिमा की उपलब्धि में मुख्यतमा धारा का सन्धान मिलता ह। यात्रा के अन्त में तभी यह जिज्ञासा जागती है: **'मामकस्तावकस्तावदुच्छ्वासो वेति जल्पना'**।† यह जो असीम आकूति, उद्वेल, उच्छ्वास मन्त्र के स्पन्दन में गुञ्जरित होकर आज महा ओङ्कार में जाकर निस्पन्द, निश्चल, मौन हो गया, यह उच्छ्वास क्या 'तुम्हारे ही दिये हुये प्राण में तुम्हारा ही अनुभव है'? मेरा फिर क्या रहा? तब **'ना सो रमण न हाम रमणी'**$—मिलन की यह परिपूर्ण रागिणी ही ध्वनित हो उठती है।

इस अन्तिम खण्ड में जप की अवसान-भूमिकायें ही विशेष रूप से आलोचित हुई हैं। (यह नदी) सागर के जितनी निकटवर्त्ती हुई है उतने ही इसके कल्लोल गम्भीरतर हुए हैं, इसीलिए सावधान, सजग होकर इस कल्लोल के प्रति कान लगा कर रहना होगा। हमने देखा है कि जप मन्त्र अथवा नाम के आश्रित है। मन्त्र वा नाम स्पन्दनात्मक है। यह स्पन्दन सुषम स्पन्दन है। किन्तु हमारे मन्त्र, देह, प्राण, मन आदि—सभी साधारणतः विषम स्पन्दन से प्रतिकूल बने हुए हैं। इस प्रतिकूल को अनुकूल बनाने, विषम स्पन्दन को सम स्पन्दन में लाने का साधन ही जप-साधन है। **'समं कायशिरोग्रीवं'** से शुरू

---

* यह अंश चण्डीदास के सुप्रसिद्ध पद में है जिसका आरम्भ इस प्रकार है --'सखि! के वा शुनाइलो श्याम नाम; कानेर भीतर दिया मरमे पशिलो गो, आकुल करिलो मोर प्राण।' —अनुवादिका

† द्रष्टव्य प्रस्तुत खण्ड में पृ० १२८ —अनुवादिका।

$ श्री चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद के अनुसार राय रामानन्द ने जो स्वरचित पद महाप्रभु श्रीचैतन्य के समक्ष गाया था, उसी की यह तृतीय पंक्ति है।

करके **'प्राणापानौ समौ कृत्वा' 'सुखदुःखे समे कृत्वा'** इत्यादि क्रम से **'निर्दोषं हि समं'** ब्रह्म में पहुँचने के लिए ही गीतादि शास्त्रों के उपदेश एवं साधन के प्रयास हैं। इसीलिए आरम्भ में यह वहुत आयास-साध्य, कृति-साध्य लगता है। किन्तु यह कृति-जप ही एक दिन रुचिजप और रतिजप में परिणत होता है (मूल षष्ठ खण्ड पृष्ठ १९६) : तव इसका रूप वदलता रहता है। कृत्रिम प्रयास के स्थान पर तब सहज स्वाभाविक प्राणधारा में जप पतित होता है। 'जपसूत्रम्' की परिभाषा में तव स्थूल वाक् का पतन हो जाता है, मध्यमा वाक् माला पकड़ती है। इस प्रकार जप अजपा में परिणत होता है। 'शिव-सूत्र-विमर्शिनी' की भाषा में तव **'आसनस्थः सुखं ह्रदे निमज्जति'** अर्थात् आसन पर वैठते ही अनायास हृदय का अमृत-ह्रद में निमज्जन हो जाता है, एवं **कथा जपः** अर्थात् शव्दमात्र ही जप में परिणत हो जाता है। किन्तु इस अजपा में ही धारा का अन्त नहीं है। अजपा की इस स्वच्छन्द धारा की सीमा कहाँ तक है? यह क्या लक्ष्यहीन अभिसार है? नहीं, इसकी भी सीमा है 'आजप' (मूल षष्ठ खण्ड पृ० २४८)। अर्थात् 'अजप' तक (आ+अजप) इस की गति है। जप जब तक अजप में, जप-शून्यता में अर्थात् कृत्रिम-अकृत्रिम सब क्रियाओं के ऊर्ध्व में, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होता—**'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय'***—जब तक नहीं होता, तव तक इस यात्रा की छुट्टी नहीं, स्पन्दन का विराम नहीं। इसीलिये इस अन्तिम खण्ड में जप अजपा के द्वार में से अजप में पहुँच गया है। जप के वहु-विचित्र रूप भी प्रसङ्ग-क्रम से इस में उद्घाटित हुए हैं। इसीलिए जप-अजपा-अजप—इस क्रम वा परिणति को प्रत्येक साधक को अपने अनुभव के साथ मिला लेना होगा।

किन्तु इस गति वा परिणति का सव कुछ ही श्रीगुरु-रूपी उस मुख्य अनुग्रह शक्ति द्वारा नियन्त्रित है, जिसकी अनुकम्पा ही **'निखिल-शमन-मूलम्'** है। इस श्रीगुरु-तत्त्व के सम्वन्ध में आजकल नाना प्रकार की भ्रान्तिमूलक धारणायें प्रवर्त्तित और प्रचलित हैं। कोई अपने गुरु को सब अवतारों में से श्रेष्ठ, त्रिभुवन में अतुलनीय, कह कर उनके ही गुण-गान वा उनके ही वर्णन के विज्ञापन में मुखर हैं—ये लोग गीता की भाषा में **'‡नान्यदस्तीतिवादिनः'**। दूसरे कोई लोग एक गुरु के आश्रय में कुछ दिन काट कर बिना क्लेश के अन्य

---

* मुण्डकोपनिषत् ३. २. ८—अनुवादिका।

‡ श्रीमद्भगवद्गीता २. ४२—अनुवादिका।

एक गुरु का आश्रय ग्रहण करने में किसी द्विधा का अनुभव नहीं करते, मानो गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इतना ही भङ्गुर और कोमल है कि इच्छा-मात्र से ही उसका स्थापन व वियोजन किया जा सकता है! इन सब विभ्रान्तियों के निरास के लिए जपसूत्रकार ने इस तत्त्व को यथायथ भाव से साधक के सम्मुख उद्‌घाटित किया है। उनकी भाषा में भगवान् की सर्वव्यापिनी जो अनुग्रह-शक्ति है, उस शक्ति की अनन्य-साधारण मूर्त्त व्यक्तिरूपता विशेष-विशेष गुरु-शक्ति है (मूल षष्ठ खण्ड पृ० ३०४)। इसीलिये यह गुरुशक्ति निखिल-व्यापिनी है, 'सब साधु महापुरुषों में ही विद्यमान है'। इसलिये यह बात ध्यान में रखकर चित्त की सङ्कीर्णता का परिहार करके सभी महाजनों के चरणों में अपने को लुटा देना होगा। साथ-साथ यह भी स्मरण रखना होगा—'मेरे गुरु में वह अनुग्रह-शक्ति मेरे लिये असाधारणी, अतुलनीया, अनुत्तमा है'। मेरे मन के मर्म में जिनके स्पर्श ने युग-युगान्तर की नींद खुलवाई है, नयन उन्मीलित कर दिये हैं 'तस्मै श्रीगुरवे नमः'* बारम्बार उन्हीं के चरणों में मेरी प्राण-न्यौछावर सहित प्रणति है। उनके साथ मेरा सम्बन्ध चातक और वारिद के सम्बन्ध की भाँति ही अच्छेद्य जो है। मेरे हृदय की ज्वाँला, प्राण की पिपासा मिटाने के लिये उस 'जलधरश्याममनोहर' के बिना और तो कोई नहीं, 'दूसरो न कोई'। तब क्या दूसरे किसी को नहीं मानूँगा? अन्य किसी साधु-महापुरुष के चरण में प्रणत नहीं होऊँगा? अथवा उस प्रकार अन्य के चरणों में प्रणत होना क्या अपने गुरु को छोटा करना नहीं होगा? या उस प्रकार के आचरण से अपने सद्‌गुरु के प्रति श्रद्धा का शैथिल्य प्रकाश नहीं पायेगा? इस प्रकार के विषम शङ्काकुल साधक को जपसूत्रकार अपनी ऋषि-दृष्टि से अभ्रान्त निर्देश देना भूले नहीं हैं: "अन्यान्य साधु महापुरुषों का सङ्गादि भी तुम्हारा साधनाङ्ग है अवश्य, किन्तु इस प्रकार के सङ्ग में एकमात्र आकूति वा प्रार्थना रहेगी 'मुझे मेरे गुरु, इष्ट-साधन में पूर्णा मति-रति एवं एकान्त निर्भरा अचला निष्ठा दो।' तुम्हारा अपना भाण्डार नित्य पूर्ण है; किसी साधु से वर माँगना—'जिस से मैं अपने भाण्डार के द्वार पर ही सर्वक्षण निश्चिन्त होकर लोट सकूँ' (मूल षष्ठ खण्ड पृ० ३०५)।" तुलसीदास ने केवल श्रीरामचन्द्र का ही गुणगान नहीं किया, अन्यान्य नाना देव-देवियों की वन्दना गाई है, किन्तु सब के पास उनकी केवल एक ही प्रार्थना है:—

---

* अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ —अनुवादिका।

रघुपति पद परम प्रेम, तुलसी यह अचल नेम देहु हे प्रसन्न ।।'

अर्थात् सब की प्रसन्नता माँग कर उन्होंने केवल यही वर चाहा है कि रघुपति के चरणों में मुझे अचल प्रेम-लाभ हो। भारत की आर्ष साधना की इस विशाल समन्वयी दृष्टि को आज हम दुर्भाग्य-क्रम से खो बैठे हैं। गुरु-शिष्य के निगूढ़ सम्बन्ध को भी हम भूल चले हैं। पूज्यपाद स्वामीजी ने अपने भास्वर प्रज्ञादीप से हमारी वह दृष्टि फिर से लौटाने का यत्न किया है।

जपसूत्र के इन ६ विस्तृत खण्डों में पूज्यपाद स्वामीजी का जो विपुलायतन प्रयास है, वह इस प्रकार त्रिभूमिक है। गुरु-इष्ट-साधन इन तीन तत्त्वों का महा-त्रिकोण यन्त्र ही इस महायन्त्र का अधिष्ठान है। जो लोग साधना में सचमुच एकान्त-भाव से व्रती हैं, एवं परमतत्त्व के अन्वेषण और अनुशीलन में यथार्थ भाव से तत्पर हैं, यह ग्रन्थ उनके यात्रा-पथ का अक्षय और अभ्रान्त मार्गदर्शक बनकर नित्यकाल पथ दिखायेगा।

हमारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रयास भी उस 'आवृत्तचक्षुः कश्चिद् धीरः* के लिये ही है। और काल जब निरवधि है एवं पृथ्वी भी विपुला है तब इस ग्रन्थ के मर्मज्ञ और रसग्राही कहीं, कभी, कोई निश्चय ही आविर्भूत होंगे,—इस विश्वास की बाती हमारे चित्त में चिरकाल प्रज्वलित रहेगी।

पृथक् ६ खण्डों में विभिन्न विषयवस्तु कहाँ, किस प्रकार बिखरी हुई है, उसका एक संकलन एवं यदि संभव हो तो प्राचीन योग-तन्त्र-वेदान्तादि विभिन्न शास्त्रों में इन सब के मूल किस प्रकार मिलते हैं अर्थात् जपसूत्र के साथ प्राचीन आर्ष शास्त्रादि का सङ्गतिनिर्धारण करके एक पृथक् खण्ड में इन्हें देने की हमारी इच्छा है।† किन्तु वह इच्छा किस प्रकार कब पूर्ण होगी यह वे सर्व-नियन्ता ही जानें।

कलकत्ता, —श्री गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

जन्माष्टमी

१३६६ बङ्गाब्द

२०१६ विक्रमाब्द

———

*कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। कठोपनिषत् २. १. १ —अनुवादिका।

†हिन्दी ग्रन्थमाला में मूल छः खण्डों का पाँच खण्डों में समावेश करके षष्ठ खण्ड ऊपर उल्लिखित रीति से प्रस्तुत करने की योजना है। —अनुवादिका

जपसूत्रम् (भूमिका)

ग्रन्थकार की भूमिका

स्वाभाविक शब्द अथवा मन्त्र (१)
(Natural Name)

इस नाम से दो वक्तृता साधारण श्रोतृवर्ग के लिये बहुत वर्ष पूर्व दी गई थीं। आज ऐसा लगता है कि दोनों वक्तृता अनेक दिन पूर्व की होने पर भी, वर्तमान ग्रन्थ का जो मुख्य प्रयोजन है, उसके साधन में कुछ सहायता कर सकेंगी। इसी कारण दोनों वक्तृता ग्रन्थ को भूमिका में पुनर्मुद्रित आकार में अन्तर्निविष्ट की जा रही हैं। वे मूलतः जिस रूप में थीं प्रायः उसी रूप में यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं। व्याख्यान की प्राञ्जलता एवं सम्भवतः थोड़ी सरसता भी इनमें बनी रही है, ऐसा लगता है। किन्तु पुरानी वस्तु को नयी में स्थान देने जाएँ तो सब प्रकार से पूरी तरह मेल बैठाना कठिन होता है। परिभाषा और विवृतिभङ्गी में उस (पुरानी) के और इस (नयी) के बीच कुछ पार्थक्य होने पर भी मूलतः एवं मुख्यतः कहीं कुछ बेमेल नहीं है। जपविज्ञान का सम्बन्ध मुख्यतः मन्त्र से है। यह 'मन्त्र'-वस्तु क्या है, यह समझने में ये दोनों वक्तृता काम दे सकेंगी।

यहाँ, एवं प्रयोजनानुसार अन्यत्र भी, प्रस्तावित आलोचना में आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान (natural science) का सहयोग लिया गया है। कैसे और कितना, यह तो आलोचना-प्रसंग में ही देखा जाएगा। जप-विज्ञान मुख्यतः अध्यात्म-विज्ञान है। कहा गया है, वाक्, प्राण और मन जप-कर्म के निर्वाहक हैं। जप-कर्म इस 'स्थूल' शारीर-यन्त्र को एवं इस की अवस्थिति-परिस्थिति को 'अमान्य' करके नहीं होता। सुतरां जिसको हम 'स्थूल' समझते हैं उसीमें जप का कम से कम मूल 'पाद' न्यस्त है। यहाँ के नियम-कानून जप के कम से कम उस पाद के सम्बन्ध में अप्रयोज्य अथवा अप्रासंगिक नहीं हैं। इन कतिपय बातों को भूमिका में अन्यत्र एवं मूल ग्रन्थ में स्पष्ट करके कहा गया है। जपकर्म प्राण के प्रयत्नविशेष से साध्य है। इस प्रयत्नविशेष में सौष्ठव (symmetry, harmony) रहना आवश्यक है, जैसे संगीत के स्वर-विन्यास में। सौष्ठव के विना जपकर्म सुष्ठुभाव से नहीं होगा, फलतः कर्म 'समर्थ' नहीं होगा, सिद्ध भी नहीं होगा। एक दृष्टान्त—'कृष्ण' इस नाम का कोई-कोई 'कृ स् न' (षकार का दन्त्य स की तरह उच्चारण करके) 'ग्रहण' करते देखे जाते हैं। इसमें सचमुच जो 'अपराध' होता है, वह बाह्यतः

इस लक्षण से पता चलता है कि इस प्रकार के अवैध उच्चारण से प्राण-प्रयत्न-विशेष का सौष्ठव नष्ट हो जाता है। (harmonic function) के बदले (discordant function) की सृष्टि होती है। 'क्' वर्ण का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल है; ऋ, ष्, ण् इन तीन वर्णों का स्थान मूर्धा है। अतः मूल से मूर्धा तक सुषम, सजातीय तीन 'धारा' प्राप्त होती हैं। इसमें विषम वक्रगति नहीं है। इसके भीतर 'स्' को प्रविष्ट कराने पर विषम, विजातीय एक 'स्वरशेल' मानो आकर प्रवेश पा जाता है, गान में जैसे विवादी स्वर। मूर्धा और दन्त के वीच केवलमात्र 'स्थानिक' पार्थक्य नहीं है, व्यावहारिक (functional) भेद भी है। दन्ताभिघातवृत्ति के कारण जो स्वरवृत्ति (phonetic function or movement) उत्पन्न होती है, उसे जहाँ-तहाँ विना विचारे, अन्य जातीय स्वरवृत्ति के साथ 'मित्रच्छन्द' में गूँथा नहीं जा सकता। इससे 'स्वरसङ्कर' (incompatible confusion of sounds) होने की आशङ्का रहती है। समजातीय ध्वनियों में परस्पर आकांक्षा (affinity) रहती है, यह ध्यान रखना होगा। व्याकरण में सन्धि एवं षत्व-णत्व विधान के मूल में अनेक स्थल पर यही युक्ति है।

तत्त्व की दृष्टि से भी 'स्वर-शङ्कर' आवश्यक है, 'स्वर-सङ्कर' नहीं। जैसे कि पूर्वोक्त स्थल में, सत् = चित् = आनन्द = 'क' मानने पर यह अद्वैत तत्त्व अपनी 'स्वरूपशक्ति' से त्रिधा अभिव्यक्त हो रहा है,—यह 'हृल्लेखा' इस 'कृष्ण' नाम में ही मिलती है अथवा प्रकारान्तर से 'क्लीं' इस बीज में। 'ष्ण' के स्थल में 'स्न' करने पर हृल्लेखा फिर ठीक से नहीं मिलेगी। इसी प्रकार 'शिवाय' के स्थल में 'सिवाय' उच्चारण अवैध है। केवल विषम-विजातीय वर्ण (पूर्वोक्त स्वरशेल) को वर्जन करने से ही काम हो गया ऐसी वात नहीं; ध्वनिगत (intonation सम्वन्धी) अरि-मित्र भेद भी है, जैसा कि वेद में प्रसिद्ध 'इन्द्रशत्रु' में है। कौन सा उदात्त है, कौन सा अनुदात्त, इत्यादि विचार प्रासङ्गिक है। जैसा कि 'हरि बोल' इस स्थल में 'वोल' इस ध्वनि का प्लुत भाव में उच्चारित होना ही प्रशस्त है। 'गोविन्द' नाम के आद्यक्षर के सम्वन्ध में भी यही है। पहले वाले में 'नाद' में (ऊँकार में) पर्यवसान होता है, एवं दूसरे वाले में 'नाद' में उत्थान अभीप्सित है। इन सबके अतिरिक्त भी नामग्रहण की अथवा जप की संख्या आदि का विचार है, पुरश्चरण है, और भी वहुत कुछ है। इन सवके मूल में जो युक्ति है वह 'अवैज्ञानिक' नहीं है, होने की बात भी नहीं है।

जप अथवा अन्य जो कोई भी कर्म हों, उनकी सामर्थ्य-सिद्धि के निमित्त इन तीन की अपेक्षा होती है—(१) विद्या (correct technique) (२) श्रद्धा (working belief and interest से जिसका आरम्भ होता है) एवं (३) उपनिषद् (रहस्यज्ञान–grasp of basic principles) विद्या के लिये 'विज्ञान-सम्मत' अभिज्ञ-उपदेश मिलना चाहिये एवं वह विज्ञान आधुनिक विज्ञान (जड़, प्राण तथा मन-विषयक) की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखेगा—उसका यह हठ नितान्त अचल है।

वस्तुतः विज्ञान में वैजात्य है भी नहीं; कोई भी विज्ञान अन्त्यज नहीं है, अव्यवहार्य वा अस्पृश्य नहीं है। यह अवश्य है कि अध्यात्मविज्ञान में ही पूर्ण विज्ञान होने को योग्यता है। स्थूल के क्षेत्र में समन्वय, सामञ्जस्य साध कर ही उसे पूर्णता प्राप्त करनी होती है। स्थूल के तथ्य एवं तत्त्व अङ्गीकार करके ही उन्हें समाधान-समन्वय से पूर्णाङ्ग बनाने का यत्न करना होता है। इस प्रयास में जड़-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनों को ही श्रेयोलाभ है। भूत-विज्ञान के तथ्य और तत्त्व अध्रुव हैं; अथच उसकी गति अथवा पद्धति क्रमशः अग्रगा (आगे बढ़ने वाली) है। किन्तु उसका प्रयोग कहीं भद्र तो कहीं भीषण है। अध्यात्म-विज्ञान का लक्ष्य होगा—जो अध्रुव है उसको ध्रुव का सन्धान मिला देना; जो अग्रगा है, उसे ऋताध्वगा करना; जो कभी भयावह है, कभी 'कृपालु' है उसे सर्वतोभद्रभाव में प्राप्त करना। जप (जिस उदार अर्थ में यहाँ गृहीत है) अध्यात्म-विज्ञान के अन्तर्गत साधन है, इसमें सन्देह नहीं। तथापि, पूर्वोक्त विचार में, ध्वनि के सम्बन्ध में, प्राण-प्रयत्न और प्रवाह के सम्बन्ध में, एवं आनुषङ्गिक और पारिपार्श्विक आदि बहुत कुछ के सम्बन्ध में, जप को भूतविज्ञान के नियम मान कर चलना पड़ता है। माना कि जपकर्त्ता को 'लेबोरेटरी' (प्रयोगशाला) के यन्त्रादि के सहयोग से परीक्षा में साक्षात् रूप से प्रवृत्त होना नहीं पड़ता (जैसे स्वरशिल्पी या वर्णशिल्पी को नहीं होना पड़ता), किन्तु उसे परीक्षालब्ध तथ्य और तत्त्वों के ऊपर निर्भर करना होता है। अवश्य ही अध्यात्मसाधना में आत्मा की गम्भीर भूमि से उत्थित शक्ति-प्रवाह की मुख्यता है। माना कि 'बाहर' का जो कुछ है वह 'बाह्य' है, किन्तु त्याज्य नहीं है, अग्राह्य भी नहीं है। जीव की सत्ता के सभी स्तरों में ही एक 'मन्थन' आवश्यक है।

वेद में हम देखते हैं कि सृष्टि शब्दपूर्विका है—जगत् शब्द-प्रभव है। यह शब्द कौन सा शब्द है? हम कान से जो शब्द सुना करते हैं, क्या वही शब्द

है ? यह कान से सुना जाने वाला शब्द तो अनेक उपादान एवं निमित्तों की अपेक्षा रखता है। प्रथमतः वायुमण्डल में किसी एक स्थान से उत्तेजना की सृष्टि होनी चाहिए। सुस्थिर जलराशि में एक ढेला फेंक देने पर जिस प्रकार उत्तेजना की सृष्टि होती है, मोटा-मोटी उसी प्रकार यहाँ भी उत्तेजना की सृष्टि होनी चाहिए। वही उत्तेजना फिर तरंगों की भाँति चतुर्दिक् बिखर कर हमारे कानों में, स्नायुओं में एवं मस्तिष्क के किसी-किसी केन्द्र में यदि धक्का न दे तो हमारी चेतना में प्रतिक्रिया (response) नहीं होती और हम शब्द नहीं सुनते। पुनः उत्तेजना के अतिमृदु अथवा अतितीव्र होने पर भी हमें शब्द सुनाई नहीं देता। स्पन्दन के वेग की (rate of vibration) एक निम्नसंख्या और एक ऊर्ध्वसंख्या (lower limit and upper limit) है, एवं उन दोनों सीमाओं के मध्य की कोई अवस्था न रहने पर हवा की तरंगें साधारणतः हम में शब्द-ज्ञान उत्पन्न नहीं करेंगी। अथच, हमारी आँखों से दृष्ट वर्ण-समूह या वर्णग्राम के अधः (infra) एवं ऊर्द्ध्व (ultra) भूमि से आलोक-तरंग का नाना ग्राम में अस्तित्व जिस प्रकार प्रमाणित है, हमारे कान में श्रुत ध्वनिग्राम की 'अतीत' भूमि से शब्द-तरंग का नाना ग्राम में अस्तित्व भी उसी प्रकार सिद्ध है। विज्ञान का supersonics वा ultrasonics वाला पाद (भाग) इन सभी 'अतीन्द्रिय' ध्वनि-तरंगों की गवेषणा में व्यापृत है। पुनः, इन सब ध्वनियों का अघटन-घटन-पाटव भी हम देखते हैं। यौगिक पदार्थों के संयोग-वियोग में 'आणविक केन्द्र' अथवा व्यूह-विदारण में शारीरिक और मानसिक सूक्ष्म क्रियाओं के नियन्त्रण में सूक्ष्मग्राम-सम्बन्धी इन ध्वनि-तरंगों का प्रभाव क्रमशः अंगीकृत होता जा रहा है। परीक्षा द्वारा इन बातों का प्रमाण मिल सकता है। जैसे सहज शब्दज्ञान में,—एक बड़े काँच के पात्र के भीतर वैद्युतिक घण्टा बज रहा है, हम सुन रहे हैं। यन्त्र की सहायता से उसी पात्र का वायु धीरें-धीरे बाहर कर के जैसे-जैसे फेंका जायगा, हम उतना ही शब्द कम सुनेंगे। पात्र के प्रायः वायुशून्य होने पर हम शब्द नहीं सुन सकते; अथच घण्टा उस समय भी पूर्ववत् डोल रहा है। पुनः धीरे-धीरे वायु भीतर भर दिया जाय तो हम भी क्रमशः अधिक-अधिक शब्द सुन सकेंगे। अतएव वायु शब्द का वाहन है, यह सिद्ध हुआ। अन्वय-व्यतिरेक से हमने देखा कि यदि घण्टा-संचालन-संजात स्पन्दनों को वायु ला कर हमारी श्रवणेन्द्रिय के द्वार पर पहुँचा न दे तो हम घण्टाध्वनि को सुन नहीं सकते। केवल द्वार पर पहुँचा देने से ही उस का काम पूरा न होगा। श्रवणयन्त्र, स्नायु-सूत्र-समूह

एवं मस्तिष्क के अनुभूति-केन्द्र गुच्छ-विशेष को वह यदि अपेक्षानुसार धक्का न दे सके तो हमें शब्दज्ञान नहीं होता। यह भी परीक्षा द्वारा प्रतिपन्न हो चुका है। और इन सभी उपादान और निमित्तों के अतिरिक्त और भी एक वस्तु की अपेक्षा है, वह है न्यूनाधिक मनःसंयोग। एक बजे की तोप के साथ जिस दिन हमें घड़ी मिलानी हो उस दिन हमें उद्ग्रीव रहना होता है। यह है इच्छाकृत मनःसंयोग। अन्धकार में कुटीर के गवाक्ष में बैठ कर श्रावण की वर्षा के सुरों की मूर्च्छना और लय सुन रहा हूँ एव प्रथा के अनुसार 'वातायनिक' की बात ही सोच रहा हूँ; ऐसे समय चपला घनीभूत अन्धकार-राशि को 'शकलानि' (खण्ड-खण्ड) बनाते हुए चमकी, एवं थोड़ी देर बाद ही गुरु-गम्भीर मेघमल्हार का एक छन्द विपुल उच्छ्वास के साथ उतर कर वर्षा के सब कोमल सुरों को भग्न कर गया। सब भावनाओं के बीच में से जाग कर मुझे यह शब्द सुनना ही पड़ा है। यह हुआ अनिच्छाकृत मनःसंयोग। यहाँ धक्का इतना प्रबल है कि मुझे सुनना ही पड़ता है। किन्तु ताक कर देखता हूँ कि इस अमावस्या में 'घोर बादल' में मेरी कुटीर में आज जो अतिथि है, उसका नासा-गर्जन पूर्ववत् ही चल रहा है। धक्का उसको जगा नहीं सका। उसका मनःसंयोग नहीं हुआ। अतएव केवल बाहर के वायु का स्पन्दन ही यथेष्ट नहीं है। और भी अनेक उपादान और निमित्तों की अपेक्षा है।

एक धातु पात्र में ठोकर मारी; झन-झन कर उठा। किन्तु क्रमशः शब्द मृदु से मृदुतर होता चलता है। शेष काल में फिर हम कुछ भी नहीं सुन पाते हैं। किन्तु धातुपात्र की कणिकायें तब भी प्रहार की वेदना नहीं भूल पाई हैं, वे उस समय भी काँप रही हैं। किन्तु काँपने से क्या होता है? वह कम्पन इतना मृदु है कि उससे उत्पन्न वायु का कम्पन हमारी अनुभूतियों को नहीं जगा पाता। कम्पन-वेग की एक निम्न संख्या है जिसके नीचे पहुँच जाने पर साधारणतः हम फिर कुछ नहीं सुन पाते। किन्तु सुन न पाने से कम्पन वा स्पन्दन भी थम गया है, ऐसा नहीं। किसी एक स्पन्दन का वेग जब पूर्वोक्त अधःसीमा (lower limit) को पार कर जाए तब साधारणतः हमारे सुनने की सम्भावना होती है। इसके अतिरिक्त कान और मस्तिष्क में भी नियमानुकूल उत्तेजना होनी चाहिए एवं न्यनाधिक मनःसंयोग चाहिए, यह बात पहले कह चुके हैं। या सीधी भाषा में यों कहें कि एक क्षण में कम से कम कुछेक बार वायु-कणिकाओं का स्पन्दन नहीं होने पर हम सुनते नहीं हैं।

जिस प्रकार एक अधःसीमा है, उसी प्रकार एक ऊर्द्ध्वसीमा (upper limit) भी है, एक क्षण में स्पन्दन कुछ हजार के ऊपर अधिक द्रुत होने पर शायद हम सुन नहीं सकेंगे। इन दोनों सीमाओं के मध्य अवश्य ही अनेक स्तर हैं। अतएव शब्द के अनेक पर्दे हैं, अनेक वैचित्र्य हैं।

इन दो सीमाओं के बीच किसी एक विशिष्ट वायु-स्पन्दन का फल है एक विशिष्ट शब्द ज्ञान। कोकिल की पुकार एक प्रकार का वायुस्पन्दन है; काक की आवाज़ और एक प्रकार का है।

हमारे शब्दज्ञान की स्थूलतः विवृति इसी प्रकार है। आपाततः और अधिक गहराई में जाकर देखने का प्रयोजन नहीं है। शब्द के इस विवरण से एक बात स्पष्ट हुई कि इस प्रकार के शब्द को सृष्टि का मूल वा जगत् का आदि समझना चल नहीं सकता। इस प्रकार के शब्द के लिये वायु-स्पन्दन की आवश्यकता है, किन्तु मूल में वायु कहाँ है? इसके लिए श्रवणे-न्द्रिय और मस्तिष्क चाहिए, किन्तु मूल में वे सब हैं क्या? मनःसंयोग, शब्द-संस्कार प्रभृति अपरापर निमित्त की भी अपेक्षा रहती है, किन्तु जगत् का जब मात्र आरम्भ है, तब ये सब कहाँ मिलते हैं? हम जिसे शब्द कह कर अनुभव करते हैं वह सृष्टिप्रवाह के मूल में नहीं था; बाद में दिखाई दिया है; विभिन्न कारणों की सहकारिता से एवं विविध अवस्थाओं के योगायोग से बाद में विकसित हुआ है। सृष्टि का प्रथम उपक्रम जिससे हुआ है उसे यदि 'प्राथमिकस्पन्द' (primordial causal movement) यह नाम दें तो हम जिसे शब्द कहते हैं वह प्राथमिक स्पन्दन नहीं है। उस प्राथमिक स्पन्द के मूल उत्स से नाना दिशाओं में और नाना भाव से अभिव्यक्ति हुई है और हो रही है—नाना धारा में सृष्टि का प्रवाह चल रहा है। इन धाराओं को 'कार्याभिव्यक्तिधारा' (lines or streams of effectual manifestation) कहा जा सकता है। हम जो सब रूप देखते हैं, शब्द सुनते हैं, रस, गन्ध और स्पर्श का अनुभव करते हैं, सुख-दुःख की संवेदना पाते हैं—ये सब इस प्रकार की एक-एक अभिव्यक्ति की धारा हैं। मूल उत्स में जो है वह रूप, शब्द, रस प्रभृति नहीं है, उनके करण चक्षु, कर्ण प्रभृति भी नहीं है, उनके ग्रहीता मन अथवा बुद्धि भी नहीं है; वह प्राथमिक स्पन्दमात्र है।

सृष्टि के आरम्भ अथवा शेष की बात की अब हम आलोचना नहीं करेंगे। सृष्टि का कोई आदि है और कोई अन्त है, अथवा वह अनादि और अनन्त

है—इस समस्या के समाधान का भी प्रयास हम आपाततः नहीं करेंगे। ऐसा लगता है कि इस समस्या का सन्तोषजनक कोई समाधान है भी नहीं। सृष्टि और लय की बात छोड़ देने पर प्राथमिक स्पन्द को केवल स्पन्द ही कहना होगा। आपाततः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी एक प्रकार की जागतिक सुषुप्ति के बाद यह जागतिक जागरण है; किसी एक महामौन के पश्चात् यह विश्व-कलरव है; किसी एकरूप साम्यावस्था के बाद इस विचित्र वैषम्य का उन्मेष है। सीधे-सीधे रूप से समझने जाएं तो भी हमारे सब प्रकार के ज्ञान (experience) के मूल में जो व्यापार है, उसे हम स्पन्द कह सकते हैं और मान सकते हैं। हमारे रूपज्ञान, शब्दज्ञान, रसज्ञान प्रभृति सकल-ज्ञान-व्यापार के मूल की बात स्पन्द (चाञ्चल्य—stressing) है। 'ईथर' में किसी स्थान में एक चाञ्चल्य उत्पन्न हुआ; उसने तरङ्ग की भाँति चारों ओर फैलकर हमारे चक्षु और मस्तिष्क को चञ्चल कर दिया; इस चाञ्चल्य (stress) का हमारी चेतना में जो प्रकाश अथवा अभिव्यक्ति (resultant manifestation) होती है, वही तो हमारा वस्तु का रूप-ज्ञान है। आलोक, ताप, शब्द प्रभृति सभी प्रकार की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में यह विवरण लागू होता है। किसी एक द्रव्य के अणु-अणु अस्थिर होकर काँप रहे हैं, 'ईथर' अथवा तज्जातीय किसी एक अतीन्द्रिय, सूक्ष्म वाहन (medium) ने उस कम्पन को वहन करके ला कर हमारे स्नायुओं को उत्तेजित कर दिया; इस उत्तेजना की चेतना में जो प्रतिक्रिया (response) है, वही तो हमारा ताप का अनुभव है। *'बाग-बाजार' का रसगुल्ला मैंने मुख में डाल दिया, इसके साथ मुखामृत का संयोग हुआ। इस रासायनिक क्रिया को देखने पर इसमें शक्ति का आदान-प्रदान मिलता है, और गहराई में जाकर देखने से वह स्पन्द का ही व्यापार है। रसना की स्नायुएँ उस शक्ति की क्रीड़ा में चञ्चल हुई हैं। चेतना में इसकी जो छाप है, वही मेरा रसगुल्ले का रसास्वाद है। वाहन 'ईथर' हो, या वायु हो, अथवा अन्य जो कुछ भी हो, इसे लेकर कलह करने से कोई लाभ नहीं। सब प्रकार की अनुभूति की उत्पत्ति चाञ्चल्य (stir, agitation) में ही है, इस पक्ष में हमारा सन्देह न करना भी चल सकता है।

अनुभूति वा प्रत्यय की ओर से देखने पर जो सिद्धान्त स्थिर होता है, अर्थ वा विषय की ओर से भी वही सिद्धान्त हम पाते हैं। कैसे जानते हैं?

* कलकत्ता का एक मुहल्ला। —अनुवादिका।

कैसे सुनते हैं ? यह बात भले ही छोड़ दें; विषय वस्तुतः क्या है ? दृष्टान्त के लिये बागबाजार का एक और रसगुल्ला यदि भाग्य में बिलकुल ही न जुटे तो न हो तो नीरस खड़िया के टुकड़े को लेकर ही अगत्या हिला-डुलाकर देखें। देखने में यह खड़िया खूब जमी हुई एक वस्तु है, किन्तु अभी मैं इसका चूर्ण बनाकर इसे धूलिसात् कर दे सकता हूँ। यह चूर्ण और भी सूक्ष्मतर अंश में विभक्त हो सकता है। रासायनिक विद्या जिसे परमाणु कहती है, उस स्थान पर पहुँच कर इस प्रकार के विभाग का आपाततः विराम हो जाता है। किन्तु यह आपाततः विराम है, वस्तुतः नहीं। कारण, रासायनिक अणु-परमाणु भी यौगिक द्रव्य हैं, उनकी गठन-प्रणाली जटिल है। जिस सूक्ष्मतर उपादान से वे सब गठित हैं, उन्हें विज्ञान इलेक्ट्रॉन (electron) इत्यादि कहता है। वे तड़ित् के अणु हैं, इनका भी माप-परिमाण है, किन्तु वह रासायनिक अणुओं (atoms) के माप की तुलना में बहुत कम है। एक अणु की गठन-व्यवस्था भी फिर कितनी जटिल, कितनी अद्भुत है। एक-एक अणु को एक-एक बालखिल्य सौर जगत् कहने में अत्युक्ति नहीं है। सौरजगत् में जिस प्रकार ग्रह-उपग्रहगण अपने-अपने निर्दिष्ट पथ में एक केन्द्र के चारों ओर घूमते रहते हैं, आणविक जगत् (atomic world) में भी बहुत-कुछ इसी प्रकार है। अणु तक पहुँच कर हमने आशा की थी कि यहीं शायद गति का विश्राम होगा, भाग-दौड़ का अन्त होगा; बाहर अणु चाहे जितना चंचल होकर दौड़ता फिरे, वह भीतर सुस्थिर होता है। इस खड़िया के क्षुद्रादपि क्षुद्र अंश नियत रूप से डोलते हैं, काँपते हैं, स्पन्दित होते हैं,—हम लोग चर्मचक्षुओं से भले न देख पाएं, पर यह सब होता है। हाँ, तो अणुओं तक पहुँच कर हमने समझा था कि ये परस्पर के सम्पर्क में चाहे जितने चञ्चल हों, अपने-अपने भीतर सुस्थिर होते हैं। किन्तु इलेक्ट्रॉन की बात ने सामने आकर हमारी उस आशा को तोड़ दिया। जिन्हें अणु कहते हैं, वे भी तो एक-एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड, एक-एक जगत् है। स्थूल जगत् में जिस प्रकार सञ्चलन, आवर्तन, कम्पन, स्पन्दन चलता है, अणु के भीतरी जगत् में भी उसी प्रकार है। इस हल-चल में विश्रान्ति कहाँ ? सूक्ष्म से सूक्ष्मतर में क्रमशः उतर जाने पर कहाँ खोज निकालें एक ध्रुवलोक, एक अचलायतन ? क्या इलेक्ट्रॉन में ? वे (इलेक्ट्रॉन) बाहर अर्थात् परस्पर के सम्पर्क में बहुत ही अशान्त हैं, चञ्चल होकर भागते हुए घूम रहे हैं; समय-समय पर उनकी गति इतनी भीषण होती है कि वह आलोक-तरङ्ग की गति के पास-पास आ जाती है अर्थात् सेकण्ड में

प्राय: दो लाख मील। यही है उनका बाहर का व्यापार। पर इलेक्ट्रॉन के भीतर कैसा है ? उसके भीतर की बात समझने के लिये कुछ दिन पहले तक भी विज्ञान ने साहस नहीं किया था; तडित्-अणु में ब्रह्म की 'अणोरणीयान्' मूर्ति का जो परिचय हमें मिला, उससे हमारी कल्पनाशक्ति मुग्ध-स्तम्भित हो गई थी; और भी सूक्ष्म, और भी छोटा सोचने की अवस्था तब भी हमारी नहीं हुई थी। किन्तु सचमुच ही इलेक्ट्रॉन को अणुत्व की पराकाष्ठा (absolute limit) मानना चल सकता है क्या ? ऊर्मिविज्ञान (wave mechanics) ने इलेक्ट्रॉन की भी हृल्लेखा (inner pattern) देखने का प्रयास किया है। इलेक्ट्रॉन भी तो सावयव द्रव्य है एवं उसका एक माप भी है; सुतरां उसकी अपेक्षा भी छोटा अंश होना ही संभव है। उसकी भी कोई एक प्रकार की 'कला' एवं वर्ण (partial and element) होने ही चाहिएं; यदि है तो वे भी क्या अस्थिर, चंचल नहीं है ? एक-एक 'इलेक्ट्रॉन' को 'ईथर' का एक-एक आवर्त्त समझ लें क्या ? यदि वैसा ही हो तो 'ईथर' के वे सूक्ष्मतम अवयव (ether elements) भी तो चञ्चल होकर घूम रहे हैं। पुनश्च, 'ईथर' क्या है एवं उसके सूक्ष्म अवयव क्या हैं, इस समस्या में गणित के पराभव स्वीकार न करने पर भी हमारी कल्पना भय से निरस्त होकर लौट आती है। अथवा 'अवास्तव ईथर' को छोड़कर यदि विज्ञान के नूतन ढाँचों (आपेक्षिकतावाद इत्यादि) पर विचार कर तो नापजोख का अनावश्यक जंजाल काफ़ी परिमाण भले ही दूर हो जाय, किन्तु उससे जगत् का कोई एक सरल 'चित्र' अवश्य ही नहीं मिलता। ऐसा क्यों न समझें कि 'संभाव्यता-ऊर्मि-गुच्छ' के द्वारा समझना चाहें तो नापजोख की दिशा में चाहे जितनी सुविधा हो जाय, किन्तु कल्पना की दिशा में कुछ सरलता हुई क्या ? अवश्य ही, जगत् की जो हृल्लेखा (मूल ढांचा) है, उसे कोई कल्पनायोग्य चित्र होना चाहिए,—इस धारणा को विज्ञान ने प्राय: छोड़ ही दिया है। अणु के क्षेत्र में भी और विपुल के क्षेत्र में भी। इस विज्ञान का पागलपन है कि सब कुछ हिसाब के अनुसार रहे, हिसाब दुरुस्त रखना होगा। किन्तु इस साध में भी कमी है—मूल में हिसाब को लाँघ कर आना पड़ता है—मानना होता है अनिश्चित सम्भावना-मात्र को।

गणित की कल्पना वस्तु-तन्त्रता के नाग-पाश में बद्ध नहीं है; गणित ने 'ईथर' को काट कर टुकड़ा-टुकड़ा कर के जिन सूक्ष्मतर अवयवों (elements) को तैयार कर लिया है, एवं जिनके साहाय्य से जगत् के चल-फिर व्यापार की

एक व्याख्या देने का प्रयास हो रहा था उन्हें गणित की परिभाषा (mathematical concepts) के भीतर ही आबद्ध कर के रखेंगे, अथवा वास्तव समझेंगे - इस सम्बन्ध में आपाततः वितण्डा करने से लाभ नहीं है। सीधे ढंग से कहें तो सूक्ष्म में खोज करने पर हम अन्त तक वही घूम-फिर, हिल-डोल ही पाते हैं। सूक्ष्म की ओर से भी देखने पर मिला स्पन्द, चाञ्चल्य। जगत् में इतना छोटा कुछ नहीं है, जिसके भीतर और बाहर भाग-दौड़ न हो। जो चलता है वह जगत् है; अणु भी चलता है, सुतरां अणु भी जगत् है, इलॅक्ट्रान भी चलता है, सुतरां वह भी जगत् है, व्योमांश (ether elements) भी चलते हैं। अतः वे भी जगत् हैं। अतएव ब्रह्माण्ड के मूल की बात और मर्म की बात यही चलने-फिरने का व्यापार है। इसी चल-फिर का नाम दिया है स्पन्द—इसे सञ्चलन (translation) ही कहो या आवर्तन (rotation) ही कहो, अथवा इन का विविध सम्मिश्रण ही कहो, छोटे की ओर से जो बात मिली, बड़े की ओर से भी वही बात मिलती है। हमारी वसुन्धरा चञ्चला है, हमारे सविता चञ्चल हैं, हमारा ध्रुवलोक भी चञ्चल है। कोई अधिक है, कोई कम है। विश्व वांबष्णु है। जिसे स्थिर समझते हैं वह केवल स्थूल रूप से देखने पर स्थिर है, वस्तुतः नहीं। किसी स्थान पर विश्रान्ति ऐकान्तिक नहीं है, कहीं भी निरतिशय भाव से सुस्थिरता (absolute rest) नहीं है, ब्रह्म की जो **'महतो महीयान्'** मूर्ति है, वह भी तो महानटराज की मूर्ति है, शान्त-समाहित मूर्ति नहीं है। जगत् के संहार का भार जिस देवता के ऊपर है, उन्हें भाँग के नशे में ताण्डव नृत्य करने का पागलपन है ऐसा सुना है; किन्तु जो देवता आधारकमल पर बैठ कर शब्दब्रह्म के रूप मे इस निखिल सृष्टि को · वेद और वेद्य दोनों को ही – **'निःश्वसित'** कर रहे हैं, उनका **'ज्ञानमयं तपः'** सुन कर हम समझे थे कि विश्वात्मा की समाधि का शान्त, मग्न भाव ही इस सृष्टि के आरम्भ की बात है; किन्तु अब देखते हैं—वह तो बाहर को समेट कर भीतर में आत्मस्थ करने की समाधि नहीं है. वह तो भीतर से बाहर अपने को बिखेर देने का विपुल प्रयास है, विराट् आयोजन है, वह एक का बहु होने के लिये गम्भीर प्रसव-चाञ्चल्य है। इसीलिये सृष्टि-कर्ता का अक्षसूत्र, कमण्डलु प्रभृति तपस्या का इतना आयोजन देख कर सृष्टि के आरम्भ की बात कहीं हम भूल न जाएं। और जो देवता यह 'अजब कारखाना' बनाये रखने का भार लिए हुए हैं, उनके हाथ में नियत चलिष्णु चक्र की ओर देखने पर फिर हमारी भूल नहीं होगी कि किस प्रकार और किसके जोर से यह इतना बड़ा कारखाना चल रहा है। इसीलिए हम

कह रहे थे कि चलना ही जगत् के आरम्भ में है, चलना ही जगत् के मध्य में है एवं चलना ही जगत् के शेष में है।

जगत् का सब कुछ चलता है, किन्तु अचल क्या कुछ भी नहीं है? अचल के साथ मिलाये बिना क्या सचल को सचल समझा जा सकता है? चल रहा हूँ यह समझने और मन में लाने के लिए कोई एक अचलायतन हमें ठीक कर लेना पड़ता है। सकल सचल को अपनी छाती पर रख कर जो स्वयं अचल हो एसी कोई भूमि वा आयतन (absolute frame of reference) है क्या? यदि है तो वह क्या है? वेद जिसे 'अक्षर परम' कहते हैं क्या वही है? अथवा अन्य कुछ है? इन प्रश्नों का भी आपाततः उत्तर देने की चेष्टा नहीं करूँगा। हाँ, एक बात कह रखना अच्छा है, कि श्रुति वा आर्ष-विज्ञान ने इस विपुल-चञ्चलजगत् को एक शाश्वत सुस्थिर भूमि में प्रतिष्ठित कर के रखा है; सुतरां इस हिसाब से हमारी अनुभूति की अचल (quiescent), सचल (stressing) ये दो दिशा हैं। इन दोनों दिशाओं को समेट कर ही तत्त्व (fact) रहता है; एक दिशा छोड़ कर दूसरी दिशा लेने पर तत्त्व का भग्नांश मात्र (fact-section) हम पाते हैं। अभी इस बात को यहीं तक कहेंगे। अपि च, स्पन्द से केवल जड़ की हलचल ही नहीं समझनी चाहिए। जड़ का अर्थ यहाँ इन्द्रियग्राह्य मूर्त द्रव्य (matter) ही है। ग्रह-नक्षत्र दौड़ रहे हैं, 'ईथर' अथवा आकाश में अणु, 'इलैक्ट्रॉन' दौड़ते हैं - यह पूरी हल-चल (motion) जड़ की है। किन्तु बाग-बाजार का रसगुल्ला खाने के पश्चात् मन में एक घूँट जल पीने की इच्छा होती है, मन एक अवस्था से दूसरी एक अवस्था में परिणत होता है; मन की जो इस प्रकार परिणति (becoming) है, वह तो उस प्रकार का तथ्य नहीं है, जैसा कि रसगुल्ले का हाथ से मुख-विवर में पहुँच जाना है। मन एक देश से दूसरे देश में सचमुच जाता नहीं है; यह ठीक दैशिक अथवा स्थानिक परिवर्तन (change of configuration) नहीं है। बालक का मन (पाठ्य-पुस्तक के) द्वितीय भाग के 'ऐक्य-वाक्य-माणिक्य' को छोड़ कर सड़क पर जो लट्टू घूम रहा है या आकाश में जो पतंग उड़ रही है उसकी ओर गया; किन्तु यह जाना गुरुमहाशय के वेत्रदण्ड के निकट बैठ कर ही हो रहा है। जड़ द्रव्य के समान मन का भी सञ्चलन होता है या नहीं, इस बात की यहाँ आलोचना करने से लाभ नहीं है। भाव का बहिःसंचार (thought transference) यथार्थ हो भी सकता है, किन्तु यहाँ हम जिस पार्थक्य की बात कहते हैं, उसे स्मरण रखना अच्छा है।

जड़ का अर्थ यदि दृश्य अथवा पदार्थ मात्र ही हों तो स्पन्द या चाञ्चल्य जड़ का ही धर्म है, चैतन्य का नहीं, यह बात कही जा सकती है; किन्तु जड़ का अर्थ यदि इन्द्रिय-ग्राह्य जड़-द्रव्य हो तो स्पन्द शब्द को मात्र जड़ से ही आवद्ध कर के रखना नहीं बनेगा। जगत् के मूल की बात जो स्पन्द है वह मात्र जड़ का ही स्पन्द नहीं है। जगत् के मूल में एक विराट् नीहार समुद्र (nebulae) की कणिकाएँ काँप रही थीं, दौड़ रहीं थीं, उन्हें छोड़ कर और कुछ भी नहीं था केवल इतना ही हम नहीं कहते हैं। हम उस प्रकार के जड़वादी होने को वाध्य नहीं हैं।

यह स्पन्द, चाञ्चल्य अथवा विक्षोभ ही शब्द है, जिस शब्द से जगत् चला है। हम सचराचर जिसे शब्द कहते हैं, वह इस मौलिक और विश्वप्रसू वाक् की ही एक प्रकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति (one stream of effectual manifestation) है। इस प्रकार विशिष्ट अभिव्यक्ति होने के लिये जिन सब उपादान और निमित्तों की अपेक्षा रहती है, उन्हें हम पहले कह चुके हैं। मौलिक-स्पन्दात्मक शब्द को नाम दे दिया जाय परशब्द, और जो शब्द हम या हमारी तरह इन्द्रियविशिष्ट जीव कान से सुनते हैं, उसको नाम दिया जाय अपरशब्द, अथवा केवल शब्द। परशब्द हेतुभूत है, अपरशब्द कार्यभूत है। परशब्द वा चाञ्चल्य हो रहा है, इसीलिये हम शब्द सुनते हैं। ट्राम की घण्टी के रेणु काँपते हैं, वायु को कँपाते हैं, एवं हमारी स्नायुमण्डली को कँपाते हैं, इसीलिये हम घण्टाध्वनि सुनते हैं। अपरशब्द अभिव्यक्त शब्द है। कितने ही सहकारी कारण और अवस्थाओं का योगायोग होने से परशब्द, अपरशब्द के रूप में अभिव्यक्त होगा, अन्यथा नहीं होगा। किन्तु उस रूप में अभिव्यक्त हो अथवा न हो, परशब्द का परशब्दत्व उससे व्याहत नहीं होता। हिमालय के किसी जनसम्पर्कशून्य स्थान पर एक जलप्रपात ने शिला के ऊपर टूट कर, गिर कर ध्वनि-प्रतिध्वनि द्वारा पर्वतमाला को भले ही चिरसजग बना रखा है, इस क्षेत्र में जलकणिकाओं के कम्पन, वायु के कम्पन प्रभृति से सचलता का, स्पन्दन का आयोजन खूब ही प्रचुर है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु सुननेवाला कान यदि उस स्थान पर न रहे तव वह विपुल चाञ्चल्य भैरवगर्जन रूप में अपने को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। यहाँ परशब्द तो है, किन्तु अपरशब्द वा श्राव्य शब्द नहीं है। वायु, श्रवणेन्द्रिय, मनःसंयोग प्रभृति निमित्त अथवा सहकारी कारण न पाने पर परशब्द केवल चाञ्चल्य-रूप में ही रह जाता है, श्रवण-ग्राह्य शब्दरूप में उपस्थित नहीं

होता। चन्द्रमण्डल में, कहते हैं, वायु नहीं है। अग्न्युत्पात में चन्द्रमण्डल का कोई अंश भीषण रूप में फट गया; हमारी पृथ्वी का अथवा मङ्गल-ग्रह का कोई वैज्ञानिक कान खड़ा करके बैठा है, किन्तु कुछ भी सुन नहीं पाया। क्योंकि शब्द इतना अभिजात व्यक्ति है कि वाहन के बिना एक पग नहीं चलता; इस क्षेत्र में वाहन का अर्थात् वायु का अभाव है। इस दृष्टान्त में भी परशब्द तो है, किन्तु अपरशब्द नहीं है। अतएव अपरशब्द और परशब्द इन दोनों को हम मिला न दें। अपरशब्द अथवा ध्वनि जहाँ है, वहाँ परशब्द वा चाञ्चल्य मूल में रहेगा ही, किन्तु परशब्द रहने से ही हम या दूसरा कोई व्यक्ति ध्वनि सुन सकेगा, ऐसी कोई नियत व्यवस्था नहीं है। जहाँ सुन सकते हैं वहाँ सहकारी कारण विद्यमान हैं, जहाँ नहीं सुन सकते वहाँ स्पन्द भले ही हो, किन्तु सहकारी कारण रीतिमत (बाक़ायदा) नहीं हैं।

सहकारी कारणों के केवल रहने से ही काम नहीं चलेगा, उन्हें रीतिमत रहना चाहिये। कारण व हेतु-समूह का रीतिमत भाव से रहने का नाम ही हमारी देशी परिभाषा में योग्यता है। इसीलिये हेतु या निमित्त के रीतिमत भाव से न रहने पर स्पन्द वा चाञ्चल्य श्रवणयोग्य नहीं बनता। जो परशब्द श्रवणयोग्य नहीं है, उसे अश्राव्यशब्द कह डालने का लोभ अभी-अभी हुआ था, किन्तु यह नीरस कठिन बातें चला कर पहले ही आप लोगों की सहिष्णुता की सीमा की परीक्षा करना पड़ रहा है, उस पर भी यदि ये बातें फिर अश्राव्य हों तो शायद आप लोग कान में उँगली देकर उठ जायेंगे। सुतरां शब्द के श्राव्य और अश्राव्य इस द्वैविध्य को छोड़कर, परशब्द और अपरशब्द इस प्रकार का द्वैविध्य लेकर ही मुझे सन्तुष्ट होना पड़ रहा है। पहले ही कह चुका हूँ, स्पन्द अथवा चाञ्चल्य चाहे जैसा (अव्यवस्थित) हो, किसी प्रकार भी तो हमारे कान में वह शब्द-रूप से पकड़ में नहीं आता। अणु-परमाणुओं का सञ्चलन हम नहीं सुनते हैं। चीनी का ढेला जल में फेंक दिया। वह जल में घुल रहा है। शर्करा-कण का जल में बिखर जाना हम नहीं सुन पाते, यद्यपि उस शर्करा-मिश्रित जल का दूसरी एक वाचाल और सरस इन्द्रिय से सम्पर्क होने पर हमारी केवल पिपासा मिटती हो ऐसा नहीं, प्राण भी मधुर हो जाता है। अणु के बीच इलेक्ट्रॉन का एक चञ्चल जगत् है; किन्तु हमारे पास उस जगत् की भाषा नहीं है। जीव के जीवनकोष (cell) के बीच जैव पदार्थ ('प्रोटोप्लाज्म') चक्कर काट रहे हैं (rotation of protoplasm); निदाघ काल के मध्याह्न में वनस्थली जब नीरव हो

जाती है, उस समय वृक्ष-समूह के पत्ते-पत्ते तक में जैवपदार्थ का नृत्यशब्द एक महामुखरता की रचना कर देता, यदि उस शब्द को सुनने लायक कान हमारे रहते। बहुत दिन पहले से अध्यापक हक्सले (Huxley) ने हमें उस विपुल जीवन-संगीत को सुनने का निमन्त्रण दे रखा है। आपाततः उस निमन्त्रण की रक्षा करना हमारे लिये साध्य नहीं है। अभ्युदयवाद (evolution theory) की कृपा से हमारे कानों का दैर्घ्य वढ़ जाने पर कोई वड़ी सुविधा नहीं होगी; हाँ, श्रवणशक्ति का विस्तार यदि वढ़ जाय, तव शायद हम एक दिन आचार्य महाशय के निमन्त्रण की रक्षा करने सवान्धव जायेंगे। मैक्सवेल (Maxwell) के भूत ने तापविज्ञान के समीकरण का एक वहुत ही कठिन गणित बैठा डाला है, एवं चंचल जगत् के अणुओं को लेकर दो कमरों में अपने हिसाव के अनुसार वह बाँट रहा है। हमारे सतर्क दृष्टिवाले आचार्य रामेन्द्रसुन्दर ने जीवित रहते उस वैज्ञानिक भूत के साथ हमारी मुलाकात करा दी थी। विश्वास है कि जिस दिन वैजयन्तधाम से रथ उतर कर हमारे रामेन्द्रसुन्दर को विश्वोत्तीर्ण पदवी में, सत्यलोक में वहन करके ले गया, उस दिन उनकी आत्मा ने अव्याहत, अनाविल दृष्टि से उस भूत के हिसाव का खाता अच्छी तरह देख लिया होगा; केवल इतना ही नहीं, किन्तु उसके क्षेत्रान्तर्गत चंचल जगत् को वाङ्मय या शब्दमय जगत् के रूप में भी पहचान लिया होगा। हमारे लिये अणु का जगत् अव तक केवल चंचल जगत् ही है—उसकी भाषा नहीं है।

और दृष्टान्त लेने की आवश्यकता नहीं है—निष्कर्ष यह निकलता है कि मन में हो या जड़ में हो, 'इलॅक्ट्रॅन' में हो या ग्रह-उपग्रह में हो, चेतना में हो या जीवकोष में हो, चाहे जिस प्रकार के स्पन्द अथवा चाञ्चल्य को हम पर-शब्द कहेंगे, वह शब्द हम सुन पायें या न सुन पायें। यदि सुन पायें तो उसे अपर शब्द अथवा ध्वनि (sound) कहेंगे। जिस चाञ्चल्य से हरि को शब्दज्ञान नहीं होता, उससे कभी-कभी यदु को शब्द-ज्ञान हो जाता है। हरि की अपेक्षा यदु का कान तीक्ष्ण है। कुत्ता शायद मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुन पाता है; जिन क्षेत्रों में हमारी शब्दानुभूति नहीं है वहाँ शायद उसकी है। कुत्ते से अधिक सुनने वाले जीव भी हो सकते हैं। यन्त्र की सहायता से (megaphone, microphone प्रभृति) पिपीलिका का पादसञ्चार भी शायद हम सुन सकते हैं। 'योगः कर्मसु कौशलम्'—सुतरां जो यन्त्र की सहायता से सूक्ष्म शब्द सुनते हैं वे योगी हैं। योगी अन्य प्रकार के भी हो सकते हैं। हिन्दुओं का अध्यात्म-विज्ञान यदि सत्य है तो चाहे जो व्यक्ति

संयम-प्रक्रिया (अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि) द्वारा सूक्ष्मादपि सूक्ष्म शब्द सुन सकता है। अर्थात् अणु परमाणु, 'इलेॅक्ट्रॉन' समूह की चंचल चरणों से दौड़-धूप, उसके लिये भाषा-हीन या नीरव नहीं भी हो सकती। इसीलिए श्रवण-सामर्थ्य (capacity of hearing) आपेक्षिक (relative), तारतम्य-विशिष्ट (variable) एवं अवस्थाधीन ((conditional) होता है। यह योग्यता देश, काल, पात्र की अपेक्षा करती है। तुम-मैं सचराचर जिस शब्द को सुनते हैं, उसे स्थूल शब्द कहा जा सकता है। यन्त्र की सहायता से जो शब्द सुना जाता है अथवा योगी जो शब्द सुन पाते हैं, उसे सूक्ष्म (subtle) शब्द कहा जा सकता है। किन्तु सभी यन्त्र एक समान नहीं हैं, सभी योगियों का अनुभव-सामर्थ्य तुल्य-मूल्य नहीं है, सुतरां सूक्ष्म शब्द के भी नाना स्तर (gradations) अवश्य ही होंगे। वैज्ञानिक अथवा योगी भी शब्द को ठीक रूप में अथवा पूर्ण रूप में (perfectly and unconditionally) सुन नहीं पाते हैं, कारण, उनका भी श्रवण-सामर्थ्य आपेक्षिक और अवस्थाधीन है। अतः प्रश्न उठता है—क्या किसी अवस्था में शब्द का ठीक रूप से, निरतिशय रूप से श्रवण होता है ? ऐसा कोई श्रवण-सामर्थ्य है क्या जो सम्पूर्ण और निरतिशय (perfect and absolute) हो ! सचमुच ही है कि नहीं कौन जानेगा ? हाँ, गणित के प्रमुख अधिकारी (president) को पकड़ कर यह मान लिया जाय कि ऐसा कोई अनुभव-सामर्थ्य है—ऐसी कोई ज्ञानभूमि है, जहां किसी उपादान या निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही आत्मा स्पन्दमात्र को शब्द के रूप में यथायथ ग्रहण कर सकता है। हवा या 'ईथर' रहे अथवा न रहे, वस्तु का चाञ्चल्य वा स्पन्द यदि किसी चैतन्य में यथायथ अथवा निरतिशय भाव से शब्द के रूप में अभिव्यक्त हो तो श्रवण-शक्ति की जो पराकाष्ठा हम खोज रहे थे वही यहाँ मिल जायेगी। इस प्रकार का जो श्रवण-सामर्थ्य है उसे absolute ear वा निरतिशय श्रवण-सामर्थ्य कहा जा सकता है। इस पारिभाषिक शब्द का यदि हम आक्षरिक अनुवाद करें तब शायद हास्यास्पद होगा। निरपेक्ष कर्ण अथवा निरतिशय कर्ण ऐसी कोई अद्भुत बात सुन कर हम लोगों में से कोई भी सहिष्णु नहीं रह सकेगा। किन्तु परिभाषा जो कुछ भी हो, यह बात हँस कर उड़ा देने लायक नहीं है।

हम लोग कर्ण कहने से साधारणतः जो समझते हैं यह उस प्रकार का कर्ण नहीं हो सकता। हमने देखा है कि शब्दानुभव-सामर्थ्य कम-बेशी हुआ करता

है; सुतरां हमने पूछा है कि इस सामर्थ्य की पराकाष्ठा कहाँ है ? किसी व्यक्ति-विशेष में यह सामर्थ्य निरतिशय भाव से परिसमाप्त हो या न हो, **'पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्णः'** ऐसा कोई एक पुरुष हो या न हो, हम गणितशास्त्र में अथवा विज्ञान के दृष्टान्त में यदि अनुभव-सामर्थ्य के किसी विरामस्थान, पराकाष्ठा की कल्पना कर लेते हैं तो उसमें हमारे अज्ञेयवादी अथवा नास्तिक वन्धु के शिरःसंचालन का यथेष्ट कारण नहीं है। वृत्त के भीतर मैंने एक वहुभुज क्षेत्र आंका है, यदि क्षेत्र की भुजसंख्या क्रमशः वढ़ाता चलूँ तव क्षेत्र का परिमाण वृत्त के परिमाण के क्रमशः पास-पास होता चलता है। यह अवस्था देखकर पूछता हूँ - अच्छा वहुभुज क्षेत्र की भुजसंख्या यदि अनन्त कर ली जाय तव उसकी चौहद्दी वृत्त के साथ शेषकाल में नहीं मिल जायेगी क्या ? सचमुच ही हाथ के कलम से कभी भी दोनों को एकान्तभाव से मिला देना सम्भव नहीं है; हाँ, परीक्षा के शेष अंश को कल्पना पूरा कर लेती है। तुम वैज्ञानिक हो, अणु की वात करते हो; वह क्या तुम्हारी सूक्ष्मता-भावना की एक कल्पित पराकाष्ठा (conceptual limit) नहीं है ? इलैक्ट्रॉन् की वात करते हो, वह भी तुम्हारी संज्ञा (unit charge of electricity) का ठीक लक्ष्यार्थ है, इस वात को तुम शपथ लेकर कह सकोगे क्या ? जिस वस्तु में कमी-वेशी है, क्रमिक धारा (series) है, उसकी ही एक पराकाष्ठा की कल्पना कर लेने का हमें अधिकार है। एवं इस प्रकार कल्पना कर लेने पर अनेक समय हमारी समझ-वूझ को विशेष सुविधा मिलती है; इस प्रकार कल्पना करने का अधिकार न देने पर 'कैल्कुलस' नामक गणितशास्त्र असम्भव ही रह जाता। जो कुछ भी हो, अनुभव-सामर्थ्य के नाना स्तर देख कर उसकी एक पराकाष्ठा की हम कल्पना कर रहे हैं, एवं उसे ही नाम देते हैं absolute ear. हमारा श्रवण अल्प है, इस प्रकार का श्रवण समग्र है; हमारा श्रवण प्रायिक है, इस प्रकार का श्रवण यथार्थ है; हमारा श्रवण सापेक्ष है, इस प्रकार का श्रवण निरपेक्ष है। केवल श्रवण ही क्यों ? दर्शन-प्रभृति अनुभूतियों की अपरापर धाराओं के सम्वन्ध में हम एक-एक पराकाष्ठा की कल्पना कर ले सकते हैं; यह होने पर absolute eye, absolute tongue प्रभृति भी आ जाते हैं। किन्तु ध्यान रखना होगा कि ये सव एक-एक शक्ति अथवा सामर्थ्य की पराकाष्ठा मात्र हैं; चक्षु कर्ण, जिह्वा इत्यादि की भाँति कोई स्थूल द्रव्य नहीं भी हो सकते।

इस प्रकार के कर्ण (absolute ear) को क्या पारमार्थिक कर्ण कहेंगे ? नाम जो भी दिया जाय, स्मरण रखना होगा कि यह निरतिशय श्रवण-सामर्थ्य है। सुनने के लिए इस कर्ण को केवल एक हेतु की अपेक्षा रहती है —और वह है—स्पन्द या चाञ्चल्य। चाञ्चल्य या उत्तेजना के रहते ही यह कर्ण सुन सकेगा, एवं इस प्रकार कि उस सुनने की अपेक्षा शुद्ध और अधिक सुनना और कुछ नहीं हो सकता।

इस पारमार्थिक कर्ण द्वारा जिस शब्द का अनुभव होता है, उसे इस प्रसंग में शब्द-तन्मात्र कहते हैं। दर्शनशास्त्र के व्यवसायी लोग इस व्याख्या के याथार्थ्य का विचार करेंगे। पारमार्थिक कर्ण द्वारा हम शब्द की विशुद्ध और निरतिशय मूर्ति (sound as it is) ग्रहण कर सकते हैं। यह मानो शब्द की प्रकृति है; और तुम, मैं, यहाँ तक कि वैज्ञानिक और योगी भी जो शब्द सुनते हैं, वह न्यूनाधिक शब्द की विकृति है—इस शब्द में कमी-वेशी होती है, भूल-भ्रान्ति होती है, किसी ने अधिक सुना, किसी ने कम; मैंने जिस रूप से सुना, तुमने उस रूप से नहीं सुना; मैंने ग़लत सुना, तुमने कुछ-कुछ ठीक सुना; मैं जहाँ बिल्कुल नहीं सुन सका हूँ, तुमने वहाँ कुछ सुना है, इसीलिये यह शब्द की विकृति है। तभी हमारे लक्षणानुसार शब्दतन्मात्र शब्द की प्रकृति ठहरा—शब्द की प्रकृति, प्रसूति नहीं। अर्थात् शब्दतन्मात्र एवं परशब्द एक वस्तु नहीं है। परशब्द कारणीभूत (causal) चाञ्चल्य (stress) मात्र है--जिस चाञ्चल्य के कारण शब्दज्ञान होता है, वही मात्र है, वह स्वयं श्रुतशब्द (sound) नहीं है। यह शब्द की प्रसूति है। किन्तु शब्दतन्मात्र श्रुतशब्द है; हाँ, वह तुम्हारे मेरे कान में सुना गया शब्द नहीं है, पारमार्थिक कर्ण में सुना गया निरतिशय शब्द है। इसलिये शब्द-तन्मात्र भी अपरशब्द के भाग में ही पड़ता है। अवश्य ही अपरशब्द का सर्वोच्च स्तर वा पराकाष्ठा शब्दतन्मात्र में है। उसके नीचे नाना स्तरों का शब्द है। उन्हें स्थूल रूप से दो प्रकार का समझ सकते हैं। वैज्ञानिक यन्त्र की सहायता से अथवा ध्यान-धारणा द्वारा जो शब्द हम सुन पाते हैं, किन्तु जिन्हें सचराचर हम नहीं सुनते हैं, वे सूक्ष्म शब्द हैं, उनकी पराकाष्ठा शब्दतन्मात्र में है। और सचराचर कान में हम जो शब्द सुनते हैं (जैसे वंशी का शब्द, वृष्टि का शब्द, मेघ का गर्जन इत्यादि) वे स्थूल शब्द हैं। अतएव अपरशब्द अथवा श्रुतशब्द (sound) के स्थूल रूप से तीन विभाग मिले—प्रकृत प्रस्ताव में, किन्तु स्तर (gradations) गणनातीत हैं। जितने प्रकार के कान हैं उतने प्रकार के

श्रवण हैं, देश, काल, पात्र के बदलते ही सुनना भी बदल जाता है। तीन विभाग ये हैं—शब्दतन्मात्र (या शब्द की प्रकृति); सूक्ष्म शब्द (अतीन्द्रिय कहेंगे क्या ?); एवं हमारा आठ पहर (हर समय) सुना जाने वाला शब्द (normal sound)। इन तीन के अतिरिक्त एवं इन तीनों के मूल में जिस चाञ्चल्य का बीज है, जिसके न रहने पर कोई भी नहीं सुन सकता, यहाँ तक कि स्वयं प्रजापति भी नहीं सुन सकते; उसे हम आरम्भ से ही परशब्द कहते आ रहे हैं। तीन प्रकार के श्रुत शब्द के लिए तीन स्तर का कर्ण अथवा श्रवणसामर्थ्य आवश्यक है।

शब्दतन्मात्र के लिये पारमार्थिक कर्ण (absolute ear) है; सूक्ष्म शब्द के लिये दिव्य कर्ण (yogic ear) एवं स्थूल शब्द के लिये भौतिक कर्ण (normal ear) है। निष्कर्ष यह है कि शब्द की ओर से हिसाब लगाने पर हमारे जगत्-प्रत्यय की पाँच अवस्थाएँ हैं। अनुभव का यदि कोई तुरीय भाव हो, जहाँ बिल्कुल क्षोभ या चाञ्चल्य नहीं है, तो वह अशब्द की अवस्था है; कारण, चाञ्चल्य के न रहने पर शब्द नहीं रहता। उसके बाद चाञ्चल्य रहता है, किन्तु सुनने के लिये किसी प्रकार का कान नहीं है; यही परशब्द है। उसके बाद चाञ्चल्य रहता है एवं वह निरतिशय भाव से सुना जाता है, यही शब्दतन्मात्र है। उसके बाद, चाञ्चल्य को हमारा भौतिक कर्ण नहीं पकड़ पाता, किन्तु दिव्य कर्ण पकड़ लेता है; यही सूक्ष्म शब्द है। सबके अन्त में, चाञ्चल्य भौतिक कर्ण को भी उत्तेजित करके शब्दज्ञान उत्पन्न कराता है, यही स्थूल शब्द है।

एक बात, सभी प्रकार के शब्द के मूल में जो चाञ्चल्य (stress) रहता है, उसे 'शब्द' कहते ही क्यों हैं ? जब हम उसे सुनते हैं तभी वह शब्द है, जब नहीं सुनते तब वह शब्द की सम्भावना (possibility) मात्र है, शब्द नहीं है। ठीक है; किन्तु परशब्द को शब्द कहने के लिये एक कैफियत हमारे पास है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द—हमारी अनुभूति की ये पाँच धाराएँ हैं। ये पाँचों पुनः जिस उत्स से निर्गत होती हैं वह परशब्द अथवा चाञ्चल्य है। चाञ्चल्य आरम्भ में है यह तो समझ में आता है, किन्तु उसे रूप, रस प्रभृति आख्या न देकर शब्द आख्या क्यों देते हैं ? शब्द का ऐसा विशेषत्व क्या है जिस से उसे ही सबका model (आदर्श) बना कर बैठाना होगा। परशब्द वास्तव में शब्द (sound) नहीं है, यह पहले ही कह चुके हैं। इसलिये उसे शब्द कहने पर हमें अध्यास (impose) करना पड़ता है।

एक कारण के यदि अनेक कार्य हों तो उनमें से सबसे अधिक स्पष्ट कार्य को हम कारण के संकेत (symbol sign) के रूप में ग्रहण किया करते हैं। इस क्षेत्र में भी वही है। ह्रद की सुस्थिर जलराशि के पास खड़ा हो कर नीरवता का अनुभव करता हूँ; जल में चाञ्चल्य नहीं है तो शब्द क्यों होगा? और, पुरी के समुद्रतट पर खड़ा होकर विपुल सिन्धुगर्जन सुनता हूँ; सुनूँगा क्यों नहीं, लवणाम्बुराशि की धारानिबद्धा तरङ्गमाला वेलाभूमि पर नियमित रूप से पछाड़ खा कर गिर, उछल जो रही है। नीरवता सुस्थिरता का संकेत है; मुखरता चाञ्चल्य का संकेत है। जहाँ शान्ति है वहाँ मौन है, जहाँ क्षोभ, दौड़-भाग है, वहाँ कोलाहल है। साम्यावस्था, शान्ति को समझाने के लिये मौन जैसा स्पष्ट संकेत कहाँ मिलेगा? वैषम्य, अशान्ति, चाञ्चल्य को समझाने के लिये शब्द के समान स्पष्ट संकेत है क्या? जहाँ हम रूप देखते हैं, रसास्वाद करते हैं, गन्ध पाते हैं, वहाँ भी मूल में किसी न किसी प्रकार का चाञ्चल्य होता है, सन्देह नहीं, किन्तु वह चाञ्चल्य स्पष्ट नहीं है—परीक्षा से पकड़ा जा सकता है। हरिद्वार में चण्डी पर्वत पर बैठ कर हिमालय के तुषार-मण्डित कुछ-एक शिखर देख रहा हूँ, अथवा मसूरी के सेना-निवास-पर्वत पर बैठ कर सामने चिरतुषाराच्छन्न गिरिश्रेणी के कर्पूर-कुन्देन्दु-धवल विराट् शरीर को निषण्ण देख रहा हूँ। यह जो रूपज्ञान है, इसके मूल में भी 'ईथर' की तरंगों का अथवा ऐसा ही कुछ चंचल अभिसार अवश्य है। किन्तु मैं ताक कर देखता हूँ मानो एक विपुल भास्वर निसर्ग गौरव चित्रार्पित होकर विद्यमान है—कहीं पर भी कोई क्षोभ नहीं, चाञ्चल्य नहीं, सब शान्त समाहित है। किन्तु यह मेरी दृष्टि की स्वाभाविक कृपणता है, मेरी समझ की भूल है। इतना सूक्ष्म चाञ्चल्य मेरी पकड़ में नहीं आता। मन्दिर में पूजा पर बैठ कर देवता के चरण पर एक प्रस्फुटित पद्म मैंने निवेदित कर दिया है, उसका स्निग्ध सौरभ मेरे भाव को और भी गाढ़ बना रहा है। अवश्य ही गन्धवह (वायु) पद्म-पराग-रेणु को वहन करके ला कर मेरी नासिका की त्वक् में बिखेर न दे तो मुझे गन्ध नहीं मिल सकती; किन्तु गन्ध पाकर इतने आहरण, विकिरण और वितरण की बात कहाँ मेरे ध्यान में आती है? मैं मन में सोचता हूँ मानो पद्म-परिमल एक स्निग्ध शान्ति-प्रलेप की भाँति मेरे प्राण पर लगा हुआ है। यहाँ भी चाञ्चल्य अनुभव की पकड़ में नहीं आता, परीक्षा से पकड़ में आता है। इसलिये रूप, रस प्रभृति चाञ्चल्यहेतुक होने पर भी सब समय चाञ्चल्य के स्पष्ट प्रतीक नहीं हैं। किन्तु शब्द और चाञ्चल्य सिक्के के दो पृष्ठों की भाँति हैं। देखने पर सन्देह वा भ्रम हो भी सकता है

कि जिसे देख रहा हूँ, वह अस्थिर है या सुस्थिर, किन्तु पुकार सुनने पर फिर सन्देह नहीं रहता कि जो पुकार रहा है, वह अस्थिर है। इसीलिये शब्द चाञ्चल्य का खूब स्पष्ट और अव्यभिचारी संकेत है। कान में वायु-तरंग का धक्का बहुत कुछ धक्के जैसा ही लगता है, किन्तु आँख (retina) पर 'ईथर-' तरंग का धक्का प्रायः धक्के के रूप में हमारे अनुभव में नहीं आता।

शब्द की शक्ति भी अद्भुत है। अभिधा शक्ति, लक्षणा शक्ति, स्फोट प्रभृति को लेकर तार्किक लोग झगड़ा किया करें, हम आपाततः उस दिशा में नहीं भिड़ेंगे। एक मसृण काँच के ऊपर सूक्ष्म धूलिरेणु-समूह पड़ा हुआ है। मैं पास बैठ कर बेला (वायलिन) पर एक गत बजा रहा हूँ। शब्दतरंगें धूलिरेणुओं को धीरे-धीरे सजा कर एक निर्दिष्ट आकार में आकारित कर देंगी। शब्द में अपने छन्द (harmony) के अनुरूप एक मूर्ति-सृष्टि करने की शक्ति होती है। अतएव शब्द केवल चाञ्चल्य का संकेत नहीं है; उसमें गढ़ने व तोड़ने की शक्ति है। जगत् में गढ़ने और तोड़ने का अर्थ है चाञ्चल्य। शब्द भी गढ़ और तोड़ सकता है, अतएव शब्द चाञ्चल्य का आत्मीय एवं प्रतिनिधि है। रूप वा रस की सचमुच बाहर कुछ गढ़ने या तोड़ने की शक्ति का परिचय हमें विशेष कुछ नहीं मिलता। भीतर से रूप वा रस की तोड़ने व गढ़ने की शक्ति को अस्वीकार करने का मेरा साहस नहीं है। शब्द स्पष्टतः शक्तिस्वरूप (dynamic) एवं स्रष्टा (creative) है। केवल धूलिकणों को लेकर नहीं, अन्यान्य उपाय से भी शब्द का यह स्वरूप और सामर्थ्य परीक्षित हो सकता है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के सन्धिकाल में आविष्कृत 'रेडियम' नामक द्रव्य नियमित रूप से ताप-विकिरण करता हुआ देखा जाता है। इस ताप का भाण्डार मानो अशेष है। हम जानते हैं कि ताप किसी भी वस्तु के अणुओं का अस्त-व्यस्त-भाव से स्पन्दनमात्र (irregular molecular quiver) है, जिस वस्तु के दाने इस प्रकार काँपते हैं वह वस्तु हमारी अनुभूति में गरम मालूम देती है। 'रेडियम' को इतना ताप कहाँ से मिलता है? व्याख्या शायद इस प्रकार है—रेडियम के अणु (atoms) फट रहे हैं; सभी एक साथ नहीं, बारी-बारी से—विज्ञान का अणु सावयव और परिमित द्रव्य है, ध्यान रखिएगा। अणु के टुकड़ों को दहराणु अथवा अवमाणु (sub-atoms) कहा जा सकता है। उन अवमाणुओं में से कुछ-एक रेडियम के भीतर से भीषण वेग में बाहर दौड़ कर आते हैं, कुछ-एक रेडियम के अन्यान्य अणुओं से धक्का (collision) खाकर उन्हें कँपा देते हैं :

अणुओं का इस प्रकार दोलन ही ताप-रूप में अभिव्यक्त होता है। कुछ-एक समिध सजा कर 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग के ठीक निर्देशानुसार 'अग्निमीले' प्रभृति वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहा हूँ। इस शब्द के मूल में जो स्पन्द (vibration) रहता है, वह जिस प्रकार वायु को कँपा कर तुम्हारा-हमारा शब्दज्ञान उत्पन्न करता है, उसी प्रकार समिध के दानों को भी धक्का देता है। वह धक्का इस प्रकार से छन्दोवद्ध है कि उस धक्के के फलस्वरूप समिध के सूक्ष्म दाने फट भी जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, अणु के भीतर इलॅक्ट्रॉन एक निर्दिष्ट वेग व रीति से घूम रहे हैं; उनके घूमने का एक छन्दस् (harmonic motion) है। हमारे उच्चारित मन्त्रों के छन्दस् (supe -sonic शब्द-तरङ्ग के छन्दस्) इलक्ट्रॉन के गतिछन्दस् के अनुरूप अथवा अनुपाती होने पर उसके सहित संयुक्त (compounded) होकर उसे उपचित कर सकते हैं। दो वेला (वायलिन) यदि एक स्वर में बजाये जाएँ तो जैसे स्वर-द्वय का संयोग और उपचय होता है, उसी प्रकार। अब इलॅक्ट्रॉन का वेग यदि उपचय के फल से एक निर्दिष्ट सीमा (critical value) लाँघ जाय तो वे (इलॅक्ट्रॉन) कक्षच्युत होकर छिटक जायेंगे। उनके छिटक जाने पर ही अणु अंग फट जाता है; ग्रहों के कक्षच्युत हो कर छिटक जाने पर सौर जगत् की जो अवस्था होगी, उसी प्रकार। कक्ष-च्युत कुछ-एक इलॅक्ट्रॉन अवश्य ही प्रबल वेग से समिध के दानों को धक्का देंगे एवं उन्हें कँपाते रहेंगे। इस कम्पन की अभिव्यक्ति किसमें होती है? ताप में। पुनः-पुनः कुछ क्षण तक यह व्यापार चलने पर ताप क्रमशः उपचित होकर समिध को जला सकता है। इस क्षेत्र में मन्त्रशक्ति से समिध जल उठा। 'रेडियम' में अथवा अन्य दृष्टान्त में इस बात को नितान्त पागलपन कह कर उड़ाया नहीं जा सकता। समझ कर देखना होगा एवं परीक्षा करनी होगी। परीक्षणीय व्यापार में सुसंस्कार-कुसंस्कार की बात अवान्तर है - वहाँ विश्वासी और अविश्वासी दोनों को ही सावधान हो कर रास्ता टटोल कर चलना होता है। विज्ञान के परीक्षागार में अणु का 'केन्द्र' (nucleus) विदीर्ण कर के महाविपुल शक्ति को उन्मुक्त करने की जो नूतन पद्धति (टेकनीक) आविष्कृत हुई है, उससे एक क्षुद्रादपि क्षुद्र वस्तु के बीच केवल सामान्य अग्नि क्यों, प्रलयाग्निपर्यन्त के, कभी महात्रास रुद्र-रूप में और कभी सर्वतोभद्र विश्वशिल्पी के रूप में, आविर्भूत होने में बाधा नहीं है।

दहराणुओं को हिलाने का सामर्थ्य यदि शब्द में हो (होना असम्भव नहीं) तो उन्हें बिखेर कर, सजा कर शब्द अनेक अघटन-घटना कर सकता है।

'ईथर' के दानों को अथवा इलॅक्ट्रॉन-समूह को सजाकर, समेटकर शब्द देवता की तैजस मूर्ति गढ़ सकता है, इस बात की व्याख्या आप लोग हीरेन्द्र बाबू से पा सकते हैं। और भी एक बात, जलीय वाष्प के मेघ के दाना-रूप में परिणत होने के पक्ष में एक-एक घनीभाव-केन्द्र (centres of condensation) चाहिए; कम से कम उन्हें पाने से सुविधा होती है; किसी भी एक इलॅक्ट्राँन वा अन्य सूक्ष्म वस्तु को केन्द्रस्वरूप न पाने पर जलीय वाष्प-समूह बँध कर जलकण में परिणत नहीं होता। अब यदि हम मान लें कि यज्ञीय धूम के अलावा मन्त्रोच्चारण-जनित शब्द-स्पन्द-समूह उपयुक्त भाव में इलॅक्ट्रॉन प्रभृति को बिखेर कर घनीभाव के ऐसे केन्द्रों की रचना कर सकता है, तब मंत्रशक्ति के फल-स्वरूप पर्जन्य और वृष्टि होना विचित्र नहीं है। इस क्षेत्र में भी समझ कर देखने की बातें अनेक हैं। प्रथमतः, शब्दकी इलॅक्ट्रॉनादि पर्यन्त पहुँचने की सचमुच सम्भावना है या नहीं। अभिव्यक्त शब्द (sound) जिन वायु-स्पन्दों की सृष्टि करता है, केवल उन की बात नहीं कहते हैं; अभिव्यक्त शब्द के सूक्ष्मादपि सूक्ष्म पर्याय में (supersonic ग्राम-समूह में) एवं मूल में जो चाञ्चल्यात्मक परशब्द है, उसकी बात भी समझनी होगी। 'ह्लीं' अथवा 'क्रीं' उच्चारण करने जाएँ तो हमारे भीतर प्राणशक्ति का परिस्पन्द प्रथमतः होता है, पश्चात् वह उच्चारण-यन्त्र को उत्तेजित कर के वायु को चञ्चल करता है; वही वायु का चाञ्चल्य श्रवणेन्द्रिय प्रभृति को चञ्चल कर के तुम्हारे और हमारे शब्दज्ञान को उत्पन्न करता है।

आरम्भ में वही प्राणशक्ति का परिस्पन्द है। आपाततः और भी गहराई में जा कर देखना आवश्यक नहीं। अब प्रश्न है—प्राणशक्ति स्वरूपतः क्या है? उसका स्पन्द ईथर अथवा इलॅक्ट्रॉन-प्रभृति पर्यन्त पहुँचता है या नहीं? और मन्त्रशक्ति द्वारा यह सकल अघटन-घटना यदि सम्भवपर मान भी ली जाय, तथापि यह प्रश्न रह जायेगा कि वेदोक्त और तन्त्रोक्त मन्त्र ही वे शक्तिसंपन्न मन्त्र हैं या नहीं? इन्हें समझ कर देखना एवं परीक्षा में जाँच लेना आवश्यक है। मैं यहाँ कुछ-एक बातें प्रश्न के रूप में उठा कर परीक्षा और मनन के लिये एक नीची जमीन की ओर केवल सब की दृष्टि आकर्षित कर रहा हूँ। शेष पर्यन्त व्याख्या ऐसी भी हो सकती है, या अन्य प्रकार की भी हो सकती है। वस्तु के मोटे-मोटे दानों को शब्द सजा सकता है, सँवार सकता है, उन्हें एक विशिष्ट आकार दे सकता है, इस बात की परीक्षा

हम ने पहले एक धूलिधूसरित काँच के सामने वेला (वायलिन) पर गत बजा के कर ली है। कम से कम इन सब परीक्षित क्षेत्रों में भी हम शब्द को स्रष्टा (creative) कह कर पहचान पा रहे हैं। सूक्ष्म पर्याय (super-sonic) के शब्दों (silent sound) के रासायनिक, जैविक इत्यादि नाना क्षेत्रों में अद्भुत गठन और भंग करने की क्षमता हम जान चुके हैं। रोग-निरामय से आरम्भ कर के अनेक कुछ अन्यथा-सिद्धि-शून्य अघटन-घटन भी इसके द्वारा सम्भावित हुआ है, अथवा हो सकता है। इसलिये मैं कह रहा था कि शब्द जगत् के मौलिक स्पन्द (causal stress) का बहुत ही उत्तम संकेत है। आदि-कारण के कार्य-प्रवाह-रूप में, ब्रह्म के जगत्-रूप में आविर्भूत होने का जो उपक्रम और अवस्था है उसे 'शब्दब्रह्म' कहना बहुत ही सुसंगत है। यह मानो एक विराट् सुषुप्ति के पश्चात् विराट् जागरण है, महामौन व्रत के भङ्ग के पश्चात् प्रथम आलापन है। इसका उपक्रम एक चाञ्चल्य में है—"मैं एक हूँ, मेरे एक रहने से काम नहीं चलेगा, बहुत होना होगा" इस प्रकार 'ईक्षण' में। मौन की अवस्था अशब्द की अवस्था है, उसके पश्चात् आदिम चाञ्चल्य की जो प्रथमा वाक् अथवा वाणीमूर्त्ति है, वही प्रणव है। इस बात का आगे परिष्कार होगा।

सृष्टि प्रजापति महाशय की शौक की यात्रा है। वे दल के अधिकारी हैं। उन्होंने जो एक दिन 'एते' यह शब्द किया, तभी तैंतीस करोड़ देवता यात्रा के दल में छोकरों की तरह सजधज कर पास में आकर अवतीर्ण हो गए। अतएव देव-सृष्टि शब्द-पूर्विका है – वेद की ऐसी व्याख्या करने के दिन अब नहीं रहे। शब्दब्रह्म का अर्थ यह नहीं कि कोई एक जना रह-रह कर एक-एक शब्द कर रहा है और एक-एक पदार्थ सृष्टि के रूप में सामने प्रस्तुत हो रहा है। यह स्थूल बात भीतर की सूक्ष्म बात का संकेत मात्र है। हम देख चुके हैं, शब्द का सृष्टि-सामर्थ्य असम्भव नहीं है। किन्तु प्रजापति जिस शब्द की सहायता से सृष्टि करते हैं, वह शब्द कौन सा है? वेद में, पुराण में देख सकते हैं कि प्रथमतः उन के ध्यान में वेदशब्द आविर्भूत हैं। वेदशब्द कहने से क्या समझें? ऐसा एक शब्द जिसके साथ एक निर्दिष्ट अर्थ का एवं एक निर्दिष्ट प्रत्यय का नित्य सम्बन्ध है। 'गौः' शब्द सुना, मन में नैयायिक महाशय के दिये हुए लक्षण और आकृति से युक्त एक जन्तु की छवि उदित हुई; ताक कर देखता हूँ ठीक एक गौ स्वच्छन्द मन से घास खा रही है। प्रथम शब्द है, द्वितीय प्रत्यय है एवं अन्तिम अर्थ वा

विषय है। तुम्हारे-हमारे अनुभव में इन तीनों का सम्वन्ध घनिष्ठ होने पर भी पूरा-पूरा नित्य नहीं है। 'गौः' शब्द का अर्थ यदि हमें विदित नहीं हो तो उसे सुन कर हम में किसी विशेष प्रत्यय अथवा चित्तवृत्ति का उदय नहीं होगा। अपिच 'गौः' इस शब्द का वाच्य अथवा अर्थ गाय नामक जन्तु ही होगा ऐसा कोई वँधा हुआ कानून नहीं है। हम पाँच आदमी आज से परस्पर परामर्श कर के केवल असाक्षात् में नहीं, साक्षात् में भी यदि परस्पर को गाय कह कर पुकारना आरम्भ करें तो हमें कौन रोक सकता है ?

जिन की भाषा भिन्न है, वे लोग गाय को गाय न कह कर और कुछ कहते हैं। हम भी चाहें तो गाय को गाय न कह कर और कुछ कह सकते हैं। इसलिये शब्द और अर्थ, वाचक और वाच्य के मध्य नियत सम्वन्ध कहाँ है ? शब्द सुन कर प्रत्यय अथवा चितवृत्ति भी सव के मन में एक ही प्रकार की होगी, ऐसा नही है। 'गौः' शब्द सुन कर हमारे मन में आई वह श्यामला गाय, जिस का दूध प्रसन्न ग्वालिन बेच कर ही मरती थी, कभी पीती नहीं थी। एवं जिस का साक्ष्य देने के लिये स्वयं कमलाकान्त को कटघरे में खड़ा होना पड़ा था; तुम्हें शायद याद आयें कैलास के वे वृषराज, जो देवादि-देव के रजतगिरि-सम वपु को वहन कर के स्थावर-जंगम में सर्वत्र झूम-झूम कर घूम रहे हैं। प्रत्यय ठीक एकरूप नहीं हुआ। अतएव हमारा व्यवहृत कोई भी शब्द एक निर्दिष्ट प्रत्यय मन में जगा भी सकता है अथवा नहीं भी जगा सकता है; उसका एक चिरनिर्दिष्ट वाच्य अथवा अर्थ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। शब्द, अर्थ और प्रत्यय के सम्वन्ध में हम आगे विशेष रूप से आलोचना करेंगे। अभी प्रश्न यह है -- प्रजापति को ध्यान में जो वेदशब्द मिला, वह भी क्या ऐसा ही है ? उत्तर पाने के लिये कुछ बातें हमें स्पष्टतः मन में रखनी होंगी। प्रथम, प्रजापति अथवा ब्रह्मा के मन में सृष्टि करन की जो इच्छा या सिसृक्षा है वह शब्द विल्कुल नहीं है, वह चाञ्चल्यात्मक, उन्मेषात्मक परशब्दमात्र है। हम वार-वार कह चुके हैं, यही सृष्टि के आरम्भ की बात और मर्म-कथा है। तत्पश्चात् ध्यान में वेदशब्दों का आविर्भाव है। ये शब्द-समूह शब्दतन्मात्र हैं।

प्रजापति ने ध्यान में जो शब्द सुना, वह वही निरतिशय शब्द है जिस की बात हम पहले कह चुके हैं। उन का कर्ण पारमार्थिक कर्ण (absolute ear) है। हमारी, यहाँ तक कि योगियों की भी ठीक उस शब्द को सुनने की सम्भावना नहीं है। मैं जिस शब्द को 'गौः' रूप में सुनता हूँ,

प्रजापति के कर्ण में उसके श्रवण का निश्चय ही अन्य रूप है। उनका जो श्रवण है, वही 'गौः' इस शब्द की प्रकृति है। हमारा-तुम्हारा श्रवण उस शब्द की अल्पविस्तर विकृतिमात्र है। योगी उस शुद्ध शब्द के आस-पास जाते हैं, किन्तु स्वयं प्रजापति की भूमि पर उठ न पाने पर उन लोगों को भी ठीक शुद्ध शब्द का श्रवण नहीं होता। प्रणव, ऐं, ह्लीं, क्रीं, प्रभृति शब्द हम जिस प्रकार से सुनते या कहते हैं वह उनकी प्रकृति नहीं है, विकृति है। जितना ही ऊपर के स्तर (plane) पर चढ़ेंगे उतना ही शब्द स्व-स्व प्रकृति के अनुरूप होते जायेंगे। एक वर्तिका से आलोकरश्मि विभिन्न स्तरों के वाहन (medium) में से हो कर मेरी आँख पर आ कर गिर रही है; मान लें, स्तर क्रमशः ही घने (dense) होते जा रहे हैं। इस अवस्था में रश्मि ठीक सरल भाव से हमारी आँख में नहीं पहुँचेगी, टेढ़ी-मेढ़ी हो कर छिन्न-भिन्न हो कर आएगी। यही रश्मि का विकार (refraction) है। शब्द के विषय में भी बहुत कुछ इसी प्रकार है। इस बात को हम अन्य प्रबन्ध में विशेष रूप से दिखाने का यत्न करेंगे। प्रजापति अपनी पारमार्थिक शक्ति के द्वारा जो शब्द उच्चारण करते और सुनते हैं, उनके एक मानसपुत्र अविकल उसी का न उच्चारण कर सकते हैं और न उसे सुन ही सकते हैं, उनका बोलना और सुनना थोड़ा सा बेठीक होता है; यदि समझा जाय तो वे प्रजापति से एक स्तर नीचे हैं। और उनके बाद जिन्होंने बोला और सुना उनमें और भी एक दोष सम्भावित हुआ। इस प्रकार गुरुपरम्परा से उतर कर वही आदिम शब्द-माला जब हमारी रसना और कर्ण में पहुँचती है, तब उसकी निरतिशयता अपगत हो चुकती है, स्वाभाविकता बहुत अंश म नष्ट हुई रहती है। अत एव ब्रह्मा के ध्यान में जो वेदशब्द प्रकाशित हुआ है, वह हमारे-तुम्हारें श्रुत और उच्चारित शब्दों के साथ हू-ब-हू मिल नहीं पाता। नाना कारणों से हमारे स्तर पर आते-आते शब्द का संकर और विकार हो चुकता है। इस बात की आलोचना भी आगे होगी। हाँ, गुरु-पारम्पर्य के होने से, साङ्कर्य (confusion) और विकृति (degeneration) जितनी हो सकती थी, उतनी नहीं हुई है। प्रत्येक गुरु ने प्रयास किया है कि उनके शिष्य को उनकी अपनी शब्द-सम्पदा अक्षुण्ण भाव से प्राप्त हो जाय, यह काण्ड ही वेद का प्रथम अङ्ग है—शिक्षा। शिष्य की शिक्षा की व्यवस्था में इसका स्थान प्रथम है। सर्वदा ही यथायथ भाव में शब्दधारा प्राप्त करने और आगे बहा देने के लिये गुरुशिष्य-परम्परा सचेष्ट थी और है।

यह चेष्टा न होती तो और भी विकृति और गड़बड़ होती। परिशिष्ट में, १ सं० के चित्र में 'क' 'ख' रेखा द्वारा यदि हम शब्द की प्रकृति (pure, normal transmission) समझाते हैं तो दूसरी दो 'क' 'ग' और 'क' 'घ' वक्र रेखाओं में से बीच वाली गुरुपरम्परा में शब्दसन्तति (transmission of sounds) बताती हैं, एवं बाहर की वक्ररेखा, गुरु-परम्परा नहीं होने पर जितनी विकृति हो सकती है, उसे समझाती है। समा-न्तराल रेखाओं (horizontal lines) द्वारा विभिन्न स्तरों का अनुभव-सामर्थ्य दिखाया गया है।

केवल रमेशदत्त का वेद अथवा मैक्समूलर का वेद पढ़ कर नहीं, काशी जा कर रीति के अनुसार ब्रह्मचर्य पालन कर के वेदपारग आचार्य के निकट शिक्षा, कल्प प्रभृति अङ्ग के सहित जो वेदशब्द हम सुनते और पढ़ते हैं, वह वेदशब्द भी परिशुद्ध, अविकृत वेदशब्द नहीं है, हो भी नहीं सकता है। वेद-शब्द का विशुद्ध और निरतिशय रूप प्रजापति के ध्यान के बीच ही आविर्भूत हो सकता है; ऋषियों के दर्शन में शब्द का अथवा मन्त्र का जो रूप गृहीत होता है, वह भी प्रायः विशुद्ध (approximate) है; तुम्हारी-हमारी रसना में और कर्ण में वह बहुत कुछ विकृत है। इस विकृति के हेतु आगे आलोचित होंगे। अभी जो बात हम समझना चाहते हैं वह यही है। गङ्गा विष्णुपादोद्भवा हैं, सुतरां वैकुण्ठधाम में उनकी उत्पत्ति है। वैकुण्ठधाम भी गोलोकधाम है, एवं गो-शब्द का अर्थ है वाक्, यह आप लोग स्मरण रखेंगे। स्वयं शिवजी पता नहीं कौन सा नशा कर के गा रहे हैं और नाच रहे हैं? और "बजावत गजवदन लम्बोदर मृदङ्ग नन्दभरे।" इस विराट् नृत्य में सर्वभूतान्तरात्मा जो विष्णु हैं, उन्हें सात्त्विक भाव हुए, वे चञ्चल हुए। यह चाञ्चल्य क्या सहज चाञ्चल्य है? सृष्टि के आरम्भ में सर्वव्यापी चिच्छक्ति में जो दो होने के लिए, बहुत होने के लिये चाञ्चल्य देखा जाता है, यह वही चाञ्चल्य है। गोलोक की परावाक् पर-शब्द बन गई। परशब्द का जो लक्षण हम दे चुके हैं, उसे आप लोग मन में रखेंगे। "**तद्विष्णोः परमं पदं**"—वही विष्णुपद जब चञ्चल हुआ, तभी गङ्गा आविर्भूत हुई। यह कौन सी गङ्गा हैं? यह सनातनी वेदमयी, शब्दमयी गङ्गा हैं। इसकी तीन धाराएँ हम जान सके हैं—ऋक्, साम, यजुः; वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती। वास्तव में कितनी धाराएँ हैं, यह कौन जानता है? विष्णुपद से गङ्गा का उद्भव हुआ, तब प्रजापति ब्रह्मा ने उन्हें कमण्डलु में धारण कर लिया। यहाँ परा वाक् अपरा वाक् हो गई, परशब्द शब्द-तन्मात्र हो गया, शब्द का मूली-

भूत चाञ्चल्य विशुद्ध और निरतिशय शब्द-रूप में प्रकाशित हुआ। कहाँ ? प्रजापति के कमण्डलु (ध्यान) में, अथवा पारमार्थिक कर्ण में। ब्रह्मा में आ कर शब्द की प्रसूति शब्द की प्रकृति हो गई। नास्तिक महोदय ! इस व्याख्या पर क्रोध न कीजियेगा। हम आपाततः जिन्हें प्रजापति कह रहे हैं वे हमारे ही अनुभव-सामर्थ्य की पराकाष्ठा मात्र हैं। जीव में अनुभव-सामर्थ्य के नाना स्तर हैं (a variable magnitude, a series)। इस श्रेणी (series) की पराकाष्ठा (limit) कहाँ है ? इसका ही अनुसन्धान करते हुए प्रजापति को हम ने पकड़ लिया है। गणितशास्त्र और विज्ञान में इस प्रकार की पराकाष्ठा का अन्वेषण हमेशा चलता है। इसमें किसी को कुछ भी आपत्ति नहीं होती। मेरे प्रजापति को नास्तिक महोदय यदि केवल एक कल्पित पराकाष्ठा (conceptual limit) ही समझ लें, तब भी मैं आपाततः प्रतिवाद नहीं करूँगा। इस मामले में हम ने अब तक गणित और विज्ञानशास्त्र के नज़ीर का लंघन कर के राय नहीं दी है। इस बात को यहाँ अब तक खुलासा कर के नहीं कह पाया हूँ तो बङ्किमचन्द्र की भाँति वृथा ही बकता रहा हूँ। आस्तिक और नास्तिक दोनों को ही मैंने पत्तल परोस कर बैठा दिया है। जो जिस प्रकार ग्रहण करें, किया करें। रसगुल्ला पत्तल पर पड़ने पर जो विना नानुकर के उसे मुंह में डाल कर रसास्वादन करेंगे, उन्हें भी हम ने बुला कर बैठाया है, और जो पत्तल के रसगुल्ले की ओर देख कर "यह संज्ञामात्र है, कल्पनामात्र है अथवा सचमुच ही कुछ है" इस प्रकार विचार करते हुए हाथ बाँध कर बैठे रहेंगे, वे भी हमारे निमन्त्रण से वंचित नहीं हुए हैं। जो कुछ भी हो, प्रजापति के कमण्डलु में जो गङ्गा (पश्यन्ती) रहीं, वह ठीक हमारे मर्त्य की गङ्गा नहीं हैं। ज्ञान-शक्ति की पराकाष्ठा में जो शब्दराजि है, जो वेद है, हमारे कुण्ठित, कृपण ज्ञान में उस शब्दराजि की, उस वेद की ठीक रूप में और पूर्णरूप में रहने की सम्भावना कहाँ है ? अतएव—वेद की भी नाना श्रेणियाँ (Veda-series) हैं। कोई एक यदि चरम स्तर हो (हम अब भी गणित के नज़ीर के अनुसार चल रहे हैं) तो वही पूर्ण और विशुद्ध वेद (pure and perfect Veda) है। जो कहानी मैं ने शुरु की थी वह आगे चले।

ब्रह्मा के कमण्डलु से हरजटा में पहुँच कर सुर-शैवलिनी पथ खोकर कल-कल ध्वनि करने लगीं। यह हुई शब्द की एवं वेद की सूक्ष्म, अव्यक्त अवस्था (मध्यमा), जिस शब्द को योगी लोग दिव्य कर्ण से सुन पाते हैं। महादेव

योगेश्वर हैं; यह बात भी आप लोग याद रखियेगा। अन्त में गोमुखी में पतित-पावनी, शैलसुतासपत्नी वसुधाश्रृंगार-हारावली के रूप में वसुन्धरा पर उतर आयीं। यही शब्द की और वेद की स्थूल प्रकट मूर्ति (वैखरी) है। गोमुखी की 'गो' अर्थात् वाक्। कहानी यहाँ समाप्त हो गई। शब्द के पूर्व-व्याख्यात सभी स्तर आप लोगों को इस कहानी में मिल गये न! विष्णु का चाञ्चल्य परशब्द है; ब्रह्मा के कमण्डलु में गङ्गा का आविर्भाव शब्द-तन्मात्र अथवा शब्द की निरतिशय अवस्था है। हर-जटा-जाल में गङ्गा की अवगुण्ठितावस्था सूक्ष्म शब्द है, अन्त में गोमुखी से गङ्गा का पृथ्वी पर अवतरण शब्द की स्थूल अवस्था है।

ब्रह्मा के ध्यान में जो वेद-शब्द प्रादुर्भूत हुआ, उसका लक्षण कैसा है? किस लक्षण द्वारा विशुद्ध, निरतिशय शब्द को पहचानेंगे? पहले ही कह चुके हैं—अर्थ और प्रत्यय के साथ नित्य, अव्यभिचारी संपर्क होने पर विशुद्ध शब्द होता है। कान पकड़ कर खींचने पर जिस प्रकार मस्तक को आना पड़ता है, उसी प्रकार जो शब्द उच्चारित होने पर उसका वाच्य, विषय अथवा अर्थ तत्क्षणात् निर्मित होगा, वही शब्द-तन्मात्र, विशुद्ध, निरतिशय शब्द है। बाइबल में कहा है—ईश्वर ने कहा "आलोक हो जाय" और तुरन्त आलोक हो गया। वेद में भी देखते हैं, प्रजापति ने 'एते' प्रभृति शब्द किया और एक-एक जाति के सृष्ट पदार्थ आविर्भूत हो गए। जिस शब्द के होने पर तन्मूलीभूत अथवा तज्जन्य स्पन्द क्रिया एक विशिष्ट पदार्थ को तत्क्षणात् गढ़ डालेगी, वही समर्थ और स्रष्टा शब्द है, वही निरतिशय शब्द है। मान लीजिये 'गौः' यदि उस प्रकार का शब्द है तो जैसे ही 'गौः' शब्द होगा तुरन्त वह सचमुच ही एक गौ की सृष्टि कर डालेगा। यदि ऐसा कर सके तभी वह निरतिशय शब्द है, नहीं तो नहीं। निरतिशय शब्द और उसके विषय अथवा अर्थ के बीच ऐसा बन्धन है कि शब्द के होने पर अर्थ को निर्मित होना ही पड़ेगा। विशुद्ध शब्द हुआ, अथच उसका विषय अथवा अर्थ कहाँ है उसका ठिकाना न हो, ऐसा नहीं होता। कहना न होगा कि हमारे श्रुत अथवा उच्चारित किसी शब्द में भी यह लक्षण नहीं लगता। सुतरां कोई भी विशुद्ध शब्द नहीं है। अवश्य प्रत्येक शब्द की न्यूनाधिक तोड़ने तथा गढ़ने की शक्ति होती ही है। प्रत्येक शब्द ही छोटा-मोटा एक-एक ब्रह्मा और रुद्र है। किन्तु इतने से ही, ज्योंही मैं 'रुपया' इस शब्द का उच्चारण करूँगा त्योंही वे शब्द-स्पन्द अणु-परमाणुओं को 'समन' भेज कर पकड़ लायेंगे

एवं सजा-सँवार कर 'रुपया' गढ़ देंगे, टकसाल खोल बैठेंगे, ऐसी आशा कोई न करे। हमारे अभिप्रेत पदार्थ की रचना कर देने की शक्ति हमारे चालू शब्दों में नहीं है। कहते हैं कि ऋषि-मुनियों द्वारा उच्चारित शब्द में किसी हद तक यह सामर्थ्य—वस्तु को गढ़ कर प्रस्तुत कर देने की शक्ति थी। कपिञ्जल श्वेतकेतु के आश्रम में जाते समय शून्यपथ में विमानचारी किसी सिद्ध को जल्दी से ज्यों ही लाँघ कर गये, त्यों ही सिद्धपुरुष ने उन्हें शाप दिया—'घोड़ा हो जाओ'; कपिञ्जल को घोड़ा होना ही पड़ा। यहाँ शब्द-शक्ति है या और कुछ? दुर्वासा ऋषि ने कण्व-मुनि के द्वार पर खड़े होकर पुकारा – 'अयमहं भो'। शकुन्तला बेचारी स्वामी की चिन्ता में मग्न थी, सुन नहीं सकी। दुर्वासा ने क्रोध में भर कर 'आः अतिथिपरिभाविनि!' इत्यादि कह कर शाप दिया। शाप फलित हुआ। किसके जोर से? इन सब दृष्टान्तों में जो कुछ भी हो, हमारे शब्द साधारणतः ऐसे खोखले हैं कि 'वाक्सर्वस्व' की बात हमारे लिए कपोल-कल्पना ही रह गई है। शब्द होने से ही यदि अर्थ अपने आप जुट जाता तो बंगाली जैसा सार्थक और कौन होता ?

जो भी हो, अर्थ को गढ़ कर प्रस्तुत करने का सामर्थ्य-विशिष्ट जो शब्द है, वही निरतिशय शब्द है। यहाँ भी वही पराकाष्ठा (limit) की बात है। सभी शब्द कुछ-न-कुछ हिला-डुला कर तोड़ने और गढ़ने की चेष्टा करते हैं। वे वायु के तरंग हैं, स्नायुस्पन्द करना ही उनका काम है, कोई शब्द अधिक, कोई शब्द कम; सूक्ष्म-पर्याय (super sonic) के शब्दों में यह शक्ति खूब अधिक है। साधारणतः छन्दोबद्ध शब्द गढ़ने की ओर कुछ कृतित्व दिखाते हैं। छन्द ही है प्राण-व्याकरण। इसलिए वेद ने छन्द से सृष्टि बताई है। किन्तु इतने से ही ज्यों ही मैं जलद-गंभीर सुर से गाऊँगा—'वृष्टि पड़िछे टुप-टाप' (टप-टप वर्षा हो रही है), त्यों ही पर्जन्यदेव सचमुच ही एक बौछार बरसा जायेंगे, ऐसा मेघ-मल्हार मैं साध नहीं सका हूँ। हाँ, तानसेन दीपकराग से जल मरे थे यह बात भी स्मरण रखनी होगी। अर्थात् मेरे जो छन्दोबद्ध शब्द अनेक परिमाण में व्यर्थ हैं, गुणी व्यक्ति के सधे गले से निकल कर वही सार्थक होते हैं। इसलिये प्रश्न उठता है— शब्द का कुछ गढ़ डालने का सामर्थ्य कहां तक है ? यहाँ भी नास्तिक महोदय को मैं सिर हिलाने नहीं दूँगा। यदि शब्द के सृष्टि-सामर्थ्य (dynanic or creative functions) की एक पराकाष्ठा हो तो वही निरतिशय शब्द है। इसे ही स्वाभाविक शब्द (natural name) कहता हूँ। अंग्रेजी में कहने जायँ तो स्वाभाविक

शब्द का लक्षण (test) इस प्रकार होगा—The sound being given a thing is evolved, conversely, a thing been given, a sound is evolved. यदि शब्द है तो उसकी अभिधेय वस्तु गठित हो जायेगी, यदि वस्तु है तो उसका शब्द (अवश्य ही सुनने का कान रहने पर) अभिव्यक्त होगा। अर्थात् शब्द और अर्थ मानों मेरे हाथ के दोनों पृष्ठों की भाँति हैं (हथेली की दोनों ओर की सतह अथवा पन्ने के दोनों पृष्ठ की भाँति)।

सिर के ऊपर पंखा घूम रहा है, उसका शब्द मैं सुनता हूँ, किन्तु मेरे चश्मे के ऊपर एक जल-बिन्दु या धूलिकण पड़ा हुआ है। उसका शब्द क्या मैं सुन पाता हूँ? उसका भी शब्द है क्या? नहीं तो क्या? हमारे भौतिक कर्ण के निकट नहीं है, वैज्ञानिक अथवा योगी के दिव्य कर्ण के समीप शायद हो सकता है, पारमार्थिक कर्ण के समीप निश्चय ही है। किस रूप में? याद रखियेगा, चाञ्चल्य होते ही जो कर्ण निरतिशय रूप में सुन पाता है वही पारमार्थिक कर्ण है। इलॅक्ट्रॉन का संचलन ही हो, 'ईथर' की तरंगों का अभियान ही हो, अणु-परमाणुओं का कम्पन ही हो अथवा इन सब की अपेक्षा स्थूल-सूक्ष्म किसी प्रकार का चाञ्चल्य ही हो, पारमार्थिक श्रवण-सामर्थ्य में सभी श्रुत होगा। दिव्य कर्ण से भी इनमें से बहुत से सुने जा सकते हैं। अब देखा जाय, चश्मे के ऊपर का यह जलकण क्या है? बहुसंख्यक सूक्ष्म-सूक्ष्म जल के दानों ने एक दूसरे को बाँध-पकड़ कर इस जलकण को बना रखा है। प्रत्येक दाने (molecule) के बीच पुनः oxygen और hydrogen के अणु हैं; उनके भीतर इलॅक्ट्रॉन पुनः सौरजगत् में ग्रह-उपग्रह की भाँति चक्कर काट रहे हैं। दाने काँपते हैं; अणु अपनी एक व्यूहरचना करके (रसायनशास्त्र इसे space-representation कह कर समझाने का प्रयत्न करता है) स्पन्दित होते हैं, और इलॅक्ट्रॉन प्रभृति की तो बात ही नहीं। अत एव जलकणादि चाञ्चल्य-विशिष्ट हैं; विशेष रूप से गहराई में जाकर देखने से यह चिद्वस्तु के भीतर एक चाञ्चल्य-विशेष के अलावा और कुछ नहीं है। सुस्थिर जल में एक ढेला फेंका; एक केन्द्र बना, उत्तेजना की सृष्टि हुई। दूसरी जगह और एक ढेला फेंकने पर दूसरा एक उत्तेजना का केन्द्र हम पाते हैं। इस प्रकार बहुत से उत्तेजना-केन्द्र (centres of disturbance) हम पा सकते हैं। जगत् में जिन वस्तुओं को हम एक-एक द्रव्य कहते हैं, वे और हम स्वयं इस प्रकार के एक-एक उत्तेजना-केन्द्र हैं। आधार या उपादान क्या है, इसे आपाततः सोच कर देखने की आवश्यकता नहीं है; शास्त्र ने उसे चिद्वस्तु या

चित्सत्ता कहा है। विज्ञान भी उन्मुख है। कुछ-एक शक्तियों (forces) द्वारा एक-एक उत्तेजना-केन्द्र की सृष्टि और स्थिति होती है। जल में आवर्त उत्पन्न करने के लिये एवं उसे कुछ क्षण तक बनाये रखने के लिये कुछ-एक शक्तियों का समावेश आवश्यक है। ये शक्तियाँ ही आवर्त की सृष्टि और स्थिति की स्वामिनी हैं। उन्हें constituting forces कह सकते हैं। तुम मुझे खींचते हो, मैं तुम्हें खींचता हूँ; तुम एक शक्ति-प्रयोग करते हो और मैं दूसरा एक। किन्तु यदि इस खींचा-खींची के व्यापार को समस्त करके देखा जाय तो उसकी अंग्रेजी परिभाषा होगी stress (शक्तिगुच्छ या शक्ति-व्यूह); वर्तमान दृष्टान्त में शक्तिव्यूह के दो अंश (elements or partials) हैं—तुम्हारा खींचना और मेरा खींचना। अतएव शक्तिव्यूह शब्द का व्यवहार कर के हम कह सकते हैं कि जल के आवर्त के मूल में शक्तिव्यूह (causal st ess) है; तुम्हारे मूल में भी एक शक्तिव्यूह है, मेरे मूल में भी एक शक्तिव्यूह है; सभी वस्तुओं के मूल में एक-एक शक्तिव्यूह है। हम अपने प्रयोजन के अनुसार ब्रह्माण्ड का टुकड़ा-टुकड़ा देखते हैं; और समझते हैं कि एक टुकड़े के साथ दूसरे एक टुकड़े का सम्पर्क नहीं है, सब शक्तिव्यूह दुर्भेद्य और परस्पर के सम्बन्ध में निरपेक्ष, उदासीन हैं। किन्तु प्रकृत व्यापार उस प्रकार का नहीं है। यह ब्रह्माण्ड एक विराट् अविच्छिन्न शक्तिव्यूह (an infinite system of stresses) है; जिसे जल का या 'ईथर' का अथवा सम्मिलित देश-काल-सत्ता में आवर्त कहते हैं; वह उस विराट् व्यूह का एक अंग या अवयव (partial) मात्र है। अब जल-कण के कारणीभूत शक्ति-व्यूह ने जो चाञ्चल्य जगा रखा है—इलैक्ट्रॉनों के कहें अथवा स्थूलतर दानों के कहें—उसी चाञ्चल्य के पारमार्थिक कर्ण (absolute ear) में श्रुत होने पर जो शब्दाभिव्यक्ति होती है, वही शब्द जलकण का शुद्ध स्वाभाविक शब्द है। जलकण के लिये जो बात है, इस खड़िया के टुकड़े या अन्य किसी भी द्रव्य (चेतन-अचेतन उद्भिज् के लिये भी वही बात है) की सृष्टि और स्थिति के मूल में शक्तिव्यूह (constituting forces or causal stress) रहता है; निरतिशय शब्द-सामर्थ्य में उस शक्तिव्यूह की जिस शब्द वा रूप में अभिव्यक्ति होती है, वही पदार्थ का विशुद्ध स्वाभाविक शब्द है। जीव-कोष का संचलन होता है; ह्रास-वृद्धि होती है; उसके भीतर टूट-फूट (anabolism, katatbolism) चलता है; इस सर्वविध चाञ्चल्य के मूल में जो शक्तिव्यूह है, वही जब शब्दज्ञान उत्पन्न करता है, तब हम जीवकोष का स्वाभाविक शब्द पाते हैं। हम अवश्य इस शब्द को भौतिक कर्ण से सुन

नहीं पाते हैं, इलैक्ट्रॉन का संचलन, ईथर का अथवा अतिसूक्ष्मसत्ताक अन्य किसी का आवर्त हम किस प्रकार सुनेंगे ? वैज्ञानिक और योगी दिव्य कर्ण से अतीन्द्रिय शब्दों में से कुछ-एक को शायद सुन पाते हैं; हमने पारमार्थिक कर्ण की जो संज्ञा दी है, उससे ज्योंही शक्तिव्यूह किसी प्रकार का चाञ्चल्य जगाएगा त्योंही वह चाञ्चल्य पारमार्थिक कर्ण में शब्द-रूप में श्रुत होगा; एवं वही उस क्षेत्र में स्वाभाविक शब्द है। जिस वस्तु का जो स्वाभाविक शब्द है, वही उसका नाम रख देने पर हमें स्वाभाविक नाम (natural name) मिलता है।

स्वाभाविक शब्द वस्तु का वीजमन्त्र है। जैसे 'रं' अग्नि का वीजमन्त्र है। जिस वस्तु को हम अग्नि कहते हैं, उसके मूल में अवश्य शक्तिव्यूह (constituting forces) है; वही शक्तिव्यूह हमारे चक्षु को उत्तेजित कर के अग्नि का रूपज्ञान जन्माता है, त्वगिन्द्रिय के स्नायुओं को उत्तेजित करके तापज्ञान जन्माता है; किन्तु साधारणतः हमारी श्रवणेन्द्रिय को उत्तेजित करके कोई भी शब्दज्ञान उत्पन्न नहीं करता; किन्तु पारमार्थिक कर्ण में उसका एक शब्द है; दिव्य कर्ण भी उस शब्द को कुछ-कुछ पकड़ सकता है। दिव्य कर्ण ने उस शब्द को 'र' के रूप में सुना है; यह परीक्षणीय व्यापार है—जिस प्रकार कि रसायनशास्त्र के अनेक व्यापार हैं; हम जब तक परीक्षा करके मिला नहीं लेते हैं, तब तक गुरुमुख से और शास्त्रमुख से हमें केवल सुन कर ही रखना पड़ता है कि 'ल' 'वं' 'रं' 'यं' 'हं' ये यथाक्रम से क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योम के स्वाभाविक नाम एवं वीजमन्त्र हैं। पारमार्थिक कर्ण की संज्ञा हमने बना ली है, किन्तु उस कर्ण को स्पर्श करने का अधिकार हमें नहीं है; हम लोग अधिक से अधिक दिव्य कर्ण को लेकर कुछ हलचल कर सकते हैं। इस दिव्य कर्ण के नज़ीर से हम कहते हैं कि अग्नि अथवा व्योम के मूल में जो शक्तिसमूह है, उसकी जो शब्दरूप में अभिव्यक्ति (acoustic equivalents) है, वही अग्नि अथवा व्योम का बीजमन्त्र है—'रं' अथवा 'हं'। अवश्य दिव्य कर्ण का श्रुत शब्द प्रायः विशुद्ध, निरतिशय नहीं है; इस लिए 'रं' वा 'हं' हैं approximate acoustic equivalents of the underlying stresses or constituting forces of fire and ether. केवल पञ्चभूत का क्यों, जहाँ जीव वहाँ शिव, जहाँ शिव वहाँ शक्ति; क्योंकि जीवमात्र का एक निजस्व वीजमन्त्र है। हम दीक्षा के समय गुरु-मुख से जो मन्त्र पाते हैं, वह हमारे निजस्व बीजमन्त्र के अनुरूप अथवा अनुकूल होना चाहिए;

विरोध होने पर, हमारा भीतरी शक्तिव्यह (causal stress) अस्वस्थ, यहाँ तक कि व्याहत हो जायगा। गान में गले के स्वर और यन्त्र के स्वर का गैरमेल (disharmony, discord) होने पर जो होता है, बहुत कुछ वैसा ही। बीजमन्त्र की अथवा स्वाभाविक नाम की, और अधिक दृष्टान्त लेकर, आलोचना करने का अभी हमें समय नहीं है। बीजमन्त्र मौलिक (simple) और यौगिक (compound) हो सकता है। आपेक्षिक रूप से 'रं' मौलिक बीज है, 'हंसः' 'ह्रीं' 'क्रीं' प्रभृति यौगिक हैं। और एक बात। स्वाभाविक शब्द अथवा बीजमन्त्र को हम लोग भूल न जायें। मैंने शंख बजाया अथवा कौवा बोला। यहाँ शंख के शब्द अथवा कौए की पुकार को हम साधारणतः स्वाभाविक शब्द कहते हैं, किन्तु हमारे लक्षण के अनुसार वह ठीक स्वाभाविक शब्द नहीं है। जिस शक्तिव्यूह ने शंख को शंख बना रखा है, उसी की शब्द रूप में जो अभिव्यक्ति है (पारमार्थिक कर्ण में ही हो अथवा दिव्य कर्ण में ही हो) वही शंख का स्वाभाविक नाम व बीजमन्त्र होगा। अवश्य ही शंखध्वनि शंख की बीजशक्ति के साथ संबद्ध है, संबन्ध-शून्य नहीं है। काक की पुकार सुन कर हमने काक का नाम रखा है 'काक'; यह नाम काक का बीजमन्त्र नहीं है; हाँ, काक की आवाज़ काक के काकत्व से निःसृत हो रही है; इसीलिए काक के बीजमन्त्र का नाम यदि मुख्य (primary) स्वाभाविक नाम हो तो उसकी ध्वनि सुन कर उसका जो नाम हमने रखा है, उस नाम को हम कहेंगे गौण (secondary) स्वाभाविक नाम।

स्वाभाविक नाम अथवा बीजमन्त्र का मोटा-मोटी विवरण आप पा चुके। स्वाभाविक नाम का जो श्रेणीविभाग है, वह विशेषरूप से देखने का विषय है। वह श्रेणी-विभाग (classification) अन्य प्रबन्ध में विशेष रूप से आलोचित हो तो अच्छा। आज आप लोगों का कौतूहल निवृत्त करने के लिये नहीं, किन्तु जगा देने के लिये उस श्रणी-विभाग का मैंने उल्लेखमात्र किया। बीज-मन्त्र के आरम्भ की बातें (principles) हम इस प्रबन्ध में बहुत कुछ उलट-पलट कर देख चुके हैं; श्रेणोविभाग समझ लेने पर मूल की कुछ बातें समझने में हमें और भी सुविधा हो सकती है। आपाततः स्वाभाविक नाम अथवा बीज-मन्त्र के दो पहलू आप लोग स्मरण रखियेगा। किसी द्रव्य का मतलब है एक शक्तिव्यूह और चाञ्चल्य का केन्द्र; यह होने पर ही उसकी एक शाब्दिक प्रतिकृति (acoustic equivalent) होगी – पारमार्थिक कर्ण में हो अथवा दिव्य कर्ण में हो, यही उसका बीजयन्त्र है। यह एक पक्ष है।

पक्षान्तर में, बीजमन्त्र या स्वाभाविक शब्द के होने पर द्रव्य संजात अथवा आविर्भूत होगा ही; योगी लोग समर्थ रूप से 'रं' उच्चारण करें तो अग्नि के आविर्भाव की संभावना है। तुम-हम 'रं' अथवा 'अग्निमीले' प्रभृति यौगिक मन्त्र पुनः पुनः रीत्यनुसार छन्द में उच्चारण करें तो शक्ति की संहति (summation of stimuli, superposition of motions) होकर अग्नि ज्वलित हो सकती है, कम से कम जठरानल तो अवश्य ही। इलॅक्ट्रॉन पुनः पुनः धक्का देकर सिर पर स्थित इस तार में जैसे विजली की वत्ती जला दे सकते हैं, यहाँ भी उसी प्रकार है। हमारा उच्चारित मन्त्र विशुद्ध रूप से स्वाभाविक नहीं है, इसीलिये उसका फल दिखाने के लिये ध्वनि, छन्द प्रभृति को अक्षुण्ण रख कर बार-बार मुझे उसका जप-पुरश्चरण करना पड़ता है।

अन्तिम बात। मन्त्र की बातें परीक्षा करके देखने की हैं, विज्ञान की बातों की तरह ही। हो सकता है कि परीक्षा में वे सब 'हिं टिं छट्' (लौकिक छूमन्तर) के रूप में ही पकड़ में आएँ; किन्तु आपाततः वैसा ही मान लेने का कोई कारण नहीं है। वरन् सम्भावना दूसरी ओर ही अधिक है। यह भलीभांति विदित है कि भारत के ३० कोटि हिन्दुओं (केवल हिन्दुओं की बात ही कह रहा हूँ) के जीवन-मरण, विवाह-श्राद्ध, क्रियाकर्म और नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानों में जो मन्त्र अब भी इतना आधिपत्य रखता है, उसे हम दो चार जने वाचाल कूपमण्डूक बेकार आलोचना करके उड़ा देने का यत्न करेंगे तो उससे बड़ी 'काम की बात' कम ही देखने में आयेगी।

———

स्वाभाविक शब्द अथवा मन्त्र (२)

पिछली बार हम शब्द के मूल की बात की कुछ सीमा तक चर्चा कर चुके हैं। शब्द की ओर से देखने पर हम अपने जगत्-प्रत्यय (experience of the world) के पाँच स्तरों का आविष्कार कर पाये हैं—अशब्द, परशब्द, शब्दतन्मात्र, सूक्ष्मशब्द एवं स्थूलशब्द। अन्तिम तीन को हमने एकत्र अपरशब्द संज्ञा दी। मान लें, सामने विशाल जलराशि है। जल में यदि चाञ्चल्य का लेश भी न हो, जलराशि यदि एक प्रकार से स्फटिक के दर्पण की भाँति सम्मुख पड़ी हो, तब उसकी अवस्था अशब्द की अवस्था है। जल में चाञ्चल्य जाग उठा है, तरङ्गें दौड़-भाग रही हैं, टूट रही हैं और ऊपर उठ रही हैं, यह हुई परशब्द की अवस्था। मैं अथवा अन्य कोई उस ऊर्मि-चाञ्चल्य को सुनने के लिये उपस्थित न रहें तो भी वह परशब्द है। क्योंकि हमने ऐसा तय कर लिया है कि स्पन्द या चाञ्चल्य-मात्र को ही परशब्द कहेंगे, वह चाञ्चल्य श्रवणयोग्य और श्रुत हो या न हो। उसके बाद, प्रजापति महाशय ने अपने कर्ण में, अर्थात् निरतिशय श्रवणसामर्थ्य द्वारा जलराशि के उस चाञ्चल्य को अवश्य इस प्रकार सुना जिससे अधिक और शुद्ध रूप से सुनना हो ही नहीं सकता। यही हुआ शब्दतन्मात्र—वर्तमान क्षेत्र में, तरङ्ग-चाञ्चल्य की शुद्ध अविकृत वाणीमूर्ति। यही शब्द की प्रकृति और आदर्श (standard) है। तरङ्गें चाहे जितनी छोटी क्यों न हों, चाञ्चल्य कितना ही मृदु क्यों न हो, यहाँ तक कि बाहर स्पष्टतः किसी प्रकार का चाञ्चल्य न रहने पर भी यदि केवल अणु, परमाणु, इलेक्ट्रॉन प्रभृति का ही चाञ्चल्य रहे, तब भी वह प्रजापति के कान में अश्रुत नहीं रहेगा, क्योंकि हमारी संज्ञा के अनुसार वह कर्ण श्रवणशक्ति की पराकाष्ठा है, निरतिशय श्रवणसामर्थ्य है; जो इसे कल्पित पराकाष्ठा कहना चाहें वे वैसा ही कह कर तृप्त हों। पक्षान्तर में चाञ्चल्य चाहे जितना विराट्, विपुल क्यों न हो, उसे भी प्रजापति शब्द के रूप में सुन रहे हैं। किसी भी स्पन्द को तुम्हारे या मेरे श्रवणयोग्य बनने के लिये एक अधोरेखा-ऊर्ध्वरेखा के बीच की किसी अवस्था में रहना होगा। सूक्ष्मता की एक सीमा अतिक्रम कर जाने पर वह हमारे श्रवणयोग्य नहीं होगा, और विपुलता की एक सीमा लङ्घन करने पर भी वह हमारे कान में शब्द रूप में पकड़ में नहीं आएगा। प्रजापति के पक्ष में इस प्रकार की कोई सीमारेखा नहीं है। इस प्रकार, श्रवणसामर्थ्य की बात

की पूर्व-प्रबन्ध में हम विशेष रूप से आलोचना कर चुके हैं। जहाँ सीढ़ी पर सीढ़ी अथवा स्तर के ऊपर स्तर दिखाई देते हैं, वहीं पर एक पराकाष्ठा की बात, चरम की बात हम सोच सकते हैं। वह पराकाष्ठा की भूमि ही प्राजापत्य-पदवी – ऐश्वर्य है, योगशास्त्र ने जिसका लक्षण देते हुए कहा है "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम्" ।*

जो कुछ भी हो, अब अगस्त्य यदि एक गण्डूष में समुद्र-पान करने का सङ्कल्प कर के हमारे समुद्र-तट पर जा कर उपस्थित हों तब वे अपने दिव्य कर्ण से शायद समुद्र के इतने मृदु स्पन्दों की भाषा सुनेंगे जो हमारे-आप के भौतिक कर्ण में बिल्कुल भी प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न कर सकतो। आधुनिक वैज्ञानिक युग में भी वैज्ञानिक योगी अपने यन्त्ररूप दिव्य कर्ण के साहाय्य से जिन समस्त 'सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट' वस्तु-स्पन्दों को ध्वनि-रूप में पकड़ते हैं, उनकी भाषा किसी समय हम सुन सकेंगे, ऐसी बात पहले हम कल्पना में भी लाने का साहस नहीं करते थे। अब विज्ञान के कल्याण से यत्किञ्चित् दक्षिणा डाल देने पर ही टेलीफोन नामक यन्त्र की नली को कान के समीप ला कर उसे दिव्य कर्ण बना ले सकते हैं, एवं उसी दिव्य कर्ण के माहात्म्य से आप काशी में रह कर बात करेंगे और मैं इस तत्त्वविद्या-समिति के गृह में रह कर ध्यानस्थ (clairvoyant) हुए बिना ही उसे अविकल सुन सकूंगा। तत्त्वविद्या के अनुशीलन-कर्ता ध्यान-धारणा के प्रसाद से वह कार्य बिना द्रव्य-व्यय के कर सकते हैं; सुतरां उन्हें यहाँ खर्चा कर के टेलीफोन की व्यवस्था करनी नहीं पड़ी है। हाँ, मालूम होता है, विज्ञान भी तत्त्वविद्या का इङ्गित अनुसरण करके ही चलता है। टेलीफोन में हमारे-तुम्हारे बीच तार लगानी होती है। उस पर भी अनेक हंगामा है, अधिक व्यय होता है। हमें जिस परिमाण में जड़ की सहायता ले कर अभिलाषा पूर्ण करनी होगी, उसी परिमाण में जड़ के समीप हस्ताक्षर लिख कर देकर उसकी गुलामी करनी होगी। इच्छा की, और कार्य हो गया ऐसा नहीं होगा; कार्य करने जाने पर बाहर की जिन पाँच वस्तुओं के उपयोग पर मुझे निर्भर रहना पड़ता है, उनके अनुरूप योगायोग कर लेना होगा। इसलिए वैज्ञानिक का टेलीफोन हमारी अनेक सुविधाएँ सम्पन्न कर देने पर भी हमें स्वाधीन नहीं कर सका है। केवल टेलीफोन क्यों, वैज्ञानिक के और भी अनेक आयोजन हमें दास बना रहे हैं बाहर के सामने, पराये के पास। दीवाल पर बटन दबाते हैं और शिर पर सुसज्जित काँचपुरी (बल्ब) के

* पातञ्जल योगसूत्र १.२५।—अनुवादिका।

भीतर निमिष मात्र में बिजली बत्ती जल उठती है, बहुत आनन्द है। किन्तु जिस विराट् तार के व्यूह ने हमारे शहर के सिर पर आकाश को छा रखा है अथवा हमारे पैरों के नीचे २ सर्वंसहा धरित्री के कलेवर की शिरा-प्रशिरा की भाँति अपने को फैला रखा है, उस तार के स्थल-विशेष में यदि थोड़ा सा भी गोलमाल हो जाय तो मैं दीवार का बटन दबाना तो क्या, माथा फोड़ कर अपनी श्मशान-प्राप्ति की सम्भावना भी खड़ी कर लूं, तो मेरे घर के भीतर अन्धकार का जमाव बिल्कुल भी टूटेगा नहीं। आचार्य रामेन्द्रसुन्दर ने विज्ञान की मायापुरी से हमारी पहचान करा दी है; किन्तु वह गुलामखाना भी है, यह बात भी हमें याद रखनी होगी।

विज्ञान भी भीतर-भीतर इसे अच्छी तरह अनुभव करता है। इसीलिये टेलीफोन, टेलीग्राफ़ के खम्भों को उखाड़-फेंक कर विज्ञान ने सूक्ष्म और दूरवर्त्ती स्पन्दों को पकड़ने के और एक प्रकार के उपाय का आविष्कार किया है। इस क्षेत्र में मन्त्रद्रष्टा ऋषि आचार्य मैक्सवेल और हॉर्ज़ हैं। मार्कोनी नाम के पुरोंहित की कर्मकुशलता से उस मन्त्र का यथायथ विनियोग हुआ है, एवं उसके फलस्वरूप हमें मिला है तारहीन वार्तावह। समुद्र के गम्भीर जल में तार (cable) डाल रखने की अब वैसी आवश्यकता नहीं, लम्बे-लम्बे खम्भे गाड़ कर शत-शत योजन तार लटकाये बिना भी समाचार का विनिमय चल सकता है। इस दृष्टान्त में तार की हमारी गुलामी तो अवश्य कम हो गयी, किन्तु बाहर का जो यन्त्र हमें तैयार कर के रखना पड़ रहा है, समय-समय पर वह इतनो विशाल मूर्त्ति में दर्शन देता है कि उसके सामने हमारे जैसे अदरक के व्यापारियों के प्राण विस्मय और भय से बिल्कुल अभिभूत हो जाते हैं। तारहीन वार्तावह में एवं मूर्तिवह में हमारी शक्ति का विस्तार बढ़ गया है, एवं बाहर की गुलामी अपेक्षाकृत कम हो गई है, किन्तु शक्ति की पराकाष्ठा पर हम निश्चय ही नहीं पहुँचे हैं एवं हमारो गुलामी भी पूर्णतया अपगत नहीं हुई है। शक्ति की पराकाष्ठा जहाँ है, वही प्राजापत्य पदवी है; जिस भूमि तक उठने पर सब कुछ आत्मवश है, वही स्वाराज्य-सिद्धि है। यही लक्ष्य है। विज्ञान भी नाना भूल-भ्रान्ति, संशय-संस्कार के बीच से इस लक्ष्य के अभिमुख ही चल रहा है। तत्त्वविद्या और भारतवर्ष का अध्यात्मशास्त्र यदि ठीक है तो उसके अनुशीलन के फलस्वरूप मनुष्य इस लक्ष्य की ओर और भी समीप पहुँच सकता है। जिन 'ईथर'-तरंगों को तारहीन वार्तावह यन्त्र (cohearer) फैलाकर पकड़ता है, उन्हें एवं उनसे भी सूक्ष्म कम्पनों को यदि हम केवल ध्यान

से ही पकड़ सकें तो हम शक्ति की पराकाष्ठा की ओर अधिक अग्रसर तो हुए ही, अधिकन्तु वह शक्ति बाहर के सम्बन्ध से बहुत अधिक निरपेक्ष और स्वाधीन हो गई; दूर के सूक्ष्म स्पन्दों को ग्रहण करने के लिये बाहर एक यन्त्र बना कर रखना नहीं पड़ा। इस दृष्टान्त से पहले की बात का ही परिष्कार हुआ —दिव्य-कर्ण अथवा योगज शब्द-प्रत्यक्ष के नाना स्तर होते हैं, जैसा यन्त्र वैसा श्रवण; और ध्यान-धारणा जितनी गाढ़ी होती है, अनुभव भी उतना ही गम्भीर होता है। इस दिव्य कर्ण की चरम परिणति पारमार्थिक कर्ण में होती है; सकल योगज विभूति का पूर्ण विकास स्वयं योगेश्वर में है। कहना न होगा, तुम्हारे-हमारे स्थूल कर्ण के शब्द-ग्रहण-सामर्थ्य का भी तारतम्य होता है, विभिन्न जाति के जीवों की तो बात ही नहीं।

जलराशि का दृष्टान्त ले कर हम ने अब तक पूर्व-प्रबन्ध में व्याख्यात कुछ मुख्य बातें दोहरा लीं। शब्द के पाँच स्तर एवं शब्द-ग्रहण-सामर्थ्य के तीन स्तर, यही एक प्रधान बात है। और एक बात है, स्वाभाविक शब्द अथवा बीजमन्त्र का लक्षण। द्रव्य एक शक्तिव्यूह है। वह शक्तिव्यूह जिस चाञ्चल्य को जगाये रखता है, वह यदि किसी भी निरतिशय श्रवणसामर्थ्य द्वारा शब्दरूप में गृहीत हो, तब वही शब्द उस द्रव्य का स्वाभाविक नाम अथवा बीजमन्त्र है।

इस प्रकार के विशुद्ध बीजमन्त्र में अपने द्रव्य अथवा अर्थ को गढ़ लेने की शक्ति है। हम गुरुमुख से अथवा साधना में जो बीजमन्त्र पाते हैं, वे अल्पविस्तर परिमाण में विकृत और संकीर्ण हैं। इस प्रकार होने का जो कारण है, उसका हम संक्षेपतः पूर्व-प्रबन्ध में निर्देश कर चुके हैं। हमारे चलित अर्थात् प्रयोगगत बीजमन्त्र विशुद्ध नहीं हैं इसलिए उन की स्वाभाविक शक्ति (अर्थ गढ़ लेने की शक्ति) एक प्रकार से सुप्त है, ऐसा कहा जा सकता है। मन्त्रोद्धार और मन्त्रचैतन्य एवं जप-पुरश्चरण प्रभृति द्वारा उस शक्ति को धीरे-धीरे जगा लेना पड़ता है। दृष्टान्त और युक्ति दिखा कर इन कुछ-एक बातों को हम ने पूर्व प्रबन्ध में प्रतिपन्न करने का प्रयास किया है।

जड़ जगत् के 'सविता' ग्रह-उपग्रहों की आदिम अवस्था के रूप में एक विपुल नीहार-समुद्र की कल्पना करना वैज्ञानिकों को अभी भी अच्छा लगता है। ऋषियों ने भी जगत् के (केवल जड़ जगत् के नहीं) आदि कारण अथवा उपादान को कारण-सलिल के रूप में समझा है। ऋषि लोग और कुछ हों या न हों, कवि अवश्य हैं। उनके वेदपुराण काव्य-सम्पद् में अतुल-

नीय हैं, यह अत्युक्ति नहीं है। अब, इस अपूर्व चित्र की आप लोग परीक्षा कर के देखेंगे क्या? कारण-सलिल में अनन्त शेष-शय्या पर लेटे हुए भगवान् विष्णु योगनिद्रा में आच्छन्न हैं। उनके नाभिकमल पर पद्मयोनि ब्रह्मा समासीन हैं। ऐसे समय विष्णु के कर्णमल से उत्पन्न मधु-कैटभ नामक दैत्य-द्वय प्रादुर्भूत हो कर-'**ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतौ**'* ब्रह्मा को मारने के लिए उद्यत हो गए। ब्रह्मा ने विपन्न हो कर योगनिद्रा का स्तव कर के विष्णु को जगाया। विष्णु ने जाग कर दोनों दैत्यों के साथ युद्ध किया। दोनों दैत्य प्रसन्न हो कर विष्णु से बोले – "हम प्रसन्न हुए, तुम हम से वर ले लो।" विष्णु ने कहा—"तुम हमारे वध्य बनो।" इस गल्प का रहस्य क्या है? हम जिस शब्द-विज्ञान की आलोचना इन दो दिनों से कर रहे हैं, उस के ही मूल की बातें इस गल्प के भीतर छिपी हैं। विष्णु सर्वव्यापी आत्मा अथवा चैतन्य हैं। वे एक के अलावा दो नहीं हैं। किन्तु अकेले-अकेले रहने पर तो सृष्टि नहीं होती। सृष्टि के लिए अपने को मानो विभक्त कर के दो बना लेना होता है। उसका एक भाग या प्रकार (aspect) हुआ आधार वस्तु दूसरा भाग या प्रकार हुआ आधेय वस्तु। अनन्त शेष-शय्या—यह जागतिक आधार-वस्तु का संकेत है; एवं वह विराट् आधार वस्तु एक अपरिसीम शक्ति-व्यूह (an infinite system of stresses) है। हम समझते हैं, इस जलविन्दु को दो-चार शक्तियों ने गढ़ कर इसे धारण कर रखा है; हमारे हिसाब की संभावना और सुविधा के लिये हमें किसी भी व्यापार को नितान्त छोटा कर के देखना पड़ता है; किन्तु प्रकृत प्रस्ताव में जो आधार-शक्ति जलबिन्दु के अणु-परमाणु प्रभृति को घर-बाँध कर रखती है, वह ब्रह्माण्ड के निखिल शक्ति-व्यूह को छोड़ और कुछ नहीं हो सकती। जलबिन्दु क्या जलविन्दु के रूप में बना रहता, यदि उसे पृथ्वी, हवा प्रभृति के कण खींच कर, दबा कर और पकड़ कर न रखते? पृथ्वी और उसका यह साज-सरंजाम क्या सम्भव था, यदि सौरजगत् और ब्रह्माण्ड के अपरापर द्रव्य उसे खींच कर, दबा कर या सम्हाल कर न रखते? इस प्रकार खींच कर और दबा कर रखने का नाम हम ने एक शब्द में दिया है, शक्तिव्यूह (stress)। अतएव जगत् में ऐसा कुछ भी छोटा या अल्प नहीं है, जिस की आधारशक्ति को हम अनन्त शेष-शय्या के रूप में समझ न सकें। कारण, हम देखते हैं, कि उसकी आधार-शक्ति (constituting forces) निखिल शक्तिव्यूह

*दुर्गासप्तशती १.६८।—अनुवादिका।

से एक तिल भी कम नहीं हैं। हम-तुम अल्प ही देखना सीखे हैं, इसीलिये अल्प के मूल में और अल्प को घेर कर जो भूमा और विराट् स्थित है, उसे सहज में पकड़ या छू नहीं सकते। विज्ञान ने बहुत माथापच्चीं कर के पृथिवी और शरीफ़े (सीताफल) की खींचतान का एक विवरण दिया है; विवरण अच्छा ख़ासा बना है, यह देख कर हम लोग आह्लाद से आठगुने हो रहे हैं (फूले नहीं समा रहे हैं)। किन्तु भूल जाते हैं कि केवल एक गणित के फ़र्माइशी शरीफ़े और पृथ्वी को ले कर ही इस विश्व का काण्ड-कारखाना नहीं चल रहा है। दो को छोड़ कर तीन वस्तुओं का परस्पर आकर्षण समझने में 'लाप्लास' के समान सिर भी चकराने लगता है, निखिल शक्तिव्यूह का विवरण देगा कौन? विवरण दे सकें या न दे सकें, किन्तु वह छोटे, वड़े, मँझले, सभी के मूल में है, आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्त ब्रह्माण्ड को विष्णु ने आधार-शक्तिरूप में धारण कर रखा है। उसी आधार-शक्ति का संकेत अनन्तशय्या है। नव विज्ञान का 'मिथुनीभूत देश काल' इस अनन्तशय्या का एक आस्तरण है।

तत्पश्चात् नाभिकमल है। उस पर ब्रह्मा रहते हैं; ब्रह्मा कौन? वे शब्दब्रह्म या ब्रह्म की शब्द-प्रवाह के रूप में अभिव्यक्ति हैं। यह अभिव्यक्ति जिन्हें आधार और आश्रय करके होती है, वह सर्वव्यापी आत्मा, अथवा विष्णु की अनन्तशय्यास्तीर्ण मूर्ति है,—वह निखिल शक्तिव्यूह (*'सहस्रशीर्ष' 'सहस्राक्ष' 'सहस्रपात्') है, जिसकी वात हम इतनी देर से कह रहे हैं। घड़ी बज उठी; इस वजने के व्यापार के मूल में घड़ी के भीतर के चक्रों की, दोलक प्रभृति की शक्तियाँ (forces) हैं; केवल भीतर का हिसाब देकर ही हमारा छुटकारा नहीं है; बाहर का ताप, आलोक, ताडित चुम्बकशक्ति और अन्यान्य द्रव्यों का आकर्षण, इस वजने के व्यापार के पीछे अवश्य ही हैं। तभी घड़ी जव वजती है उस समय, उसके मूल में वह अनन्तदेव ही रहते हैं, जिनके सहस्र-शीर्ष' 'सहस्र अक्षि' प्रभृति को वेदवाणी हमें वार-वार सुनाया करती है। इस दृष्टान्त को समझने पर हमें विदित होगा कि क्यों शब्द-ब्रह्म-रूप ब्रह्मा को अनन्तशय्यास्तीर्ण विष्णु के नाभिकमल में बैठाया गया है। यह गल्प सुनने में बड़ी अदभुत है, किन्तु यह सृष्टि की अथवा अभिव्यक्ति-प्रवाह की मूल कथा का दिव्य प्रतीक है, यह वात हमें भूलनी नहीं होगी। नाभिविवर से पद्ममृणाल उद्गत होकर हमें यह संकेत करता है कि ब्रह्मा शब्द-ब्रह्म हैं; क्य कि

---

* ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त का प्रथम मन्त्र।—अनुवादिका।

सकल प्रकार की शब्दाभिव्यक्ति के मूल में जो नाद या प्रणवोच्चार है, वह तो नाभिस्थान को विशेषतः आश्रय कर के ही हुआ करता है। नादध्वनि निखिल ध्वनि-वैचित्र्य का मूल उत्स जो है। प्रणव की आलोचना के प्रसंग में इस बात की हम विशेष रूप से आलोचना करेंगे। आपाततः, नाभिकमल में शब्द-ब्रह्म-रूप ब्रह्मा ने क्यों निवास किया, इसकी एक कैफियत हम ने पाई। सर्वव्यापी आत्मा अथवा चिद्वस्तु अपने को मानो दो भागों में विभक्त कर के, एक भाग में निखिलशक्तिव्यूह-स्वरूप आधार या आश्रय हुआ, अपर भाग में निखिल वेदशब्दात्मक कलेवर धारण करके आधेय या आश्रित हुआ। शब्द का स्रष्टृत्व हम पहले अनेक दृष्टान्तों द्वारा समझाने का यत्न कर चुके हैं। शब्द का ऐसा सृष्टि-सामर्थ्य ध्यान रखने पर हमें समझने में कठिनाई नहीं होगी कि क्यों विष्णु के नाभिकमल के ऊपर स्थित शब्दब्रह्म को सृष्टि का स्वामी बना दिया गया है। इसीलिये ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं। उनके ध्यान में निखिल वेद-शब्द आविर्भूत होता है, उसी वेद-शब्द से सृष्टि होती है—जगत् उसी शब्द से उद्भूत है। वेदशब्द अर्थात् स्वाभाविक शब्द है; यह याद रखना चाहिये। अर्थात् किसी भी पदार्थ का मूलीभूत चाञ्चल्य जब पारमार्थिक कर्ण में श्रुत होता है तब जो विशुद्ध, निरतिशय शब्द होता है, वही वेद है, हम जिन्हें वेदशब्द कहते और सुनते हैं, वे ठाक वैसे नहीं है। हमारे आप्त (inspired, revealed) शब्दों में भी थोड़ी बहुत विकृति और सांकर्य हो गया है।

ब्रह्मा केवल आधार-कमल में बैठे रहते हैं, ऐसा नहीं; उनका एक वाहन भी हम ने जुटा दिया है; वह है हंस। हंस क्या है? किसी भी प्रकार के शब्द का उच्चारण और श्रवण करने जाएं तो प्राणशक्ति का परिस्पन्द (vital functioning) आदि में होता ही है, इस बात में आज का विज्ञान सन्देह नहीं करता। उसी प्राणन-व्यापार का स्वाभाविक शब्द और बीजमन्त्र 'हंस' है, प्राणिमात्र में ही, केवल मनुष्य में नहीं। गम्भीर रात्रि में जाग कर, स्थिर होकर बैठकर सुनने पर हमारे श्वास-प्रश्वास का शब्द मोटामोटी (roughly) हंस जैसा ही लगता है। साधक के दिव्य कर्ण में प्राणन-क्रिया की जो प्रायः विशुद्ध ध्वनि (approximate acoustic equivalent) पकड़ में आती है, वह सचमुच 'हंस' ही है; इस विषय में शास्त्र, गुरु और महाजन एक वाक्य से साक्ष्य दे रहे ह। यह अपने हाथ से परीक्षा करके देखने की वस्तु है; सुन कर ही सिर हिलाकर विश्वास या अविश्वास प्रकट करने से कोई लाभ नहीं। वाहन का

परिचय तो हम पा चुके। वाग्देवी सरस्वती का भी वाहन हंस है—यह आपको स्मरण रखना है। फिर विरञ्चि के हाथ में अक्षसूत्र है। यह वर्णमाला, अर्थात् शब्दसमूह के मौलिक अंश (units or elements of sounds) हैं। जैसे 'गौः' इस शब्द में 'गकारौकारविसर्जनीयाः'—ग्, औ, :। (यह वर्णमाला) महामेघ-प्रभा, घोरा, मुक्तकेशी, चतुर्भुजा है, जो अन्य किसी देवता के गलदेश में मुण्डमाला के रूप में लटकती है। किन्तु वास्तव में यह मातृकावर्णमयी है। कमण्डलु, चतुरानन प्रभृति का विवरण देने जायेंगे तो हमारी पोथी फिर पूरी नहीं होगी। आपाततः शब्द की ओर से मोटी-मोटी कुछ और भी दो-एक बातें हम समझ कर देखेंगे। नादध्वनि प्रधानतः नाभि-स्थान में उत्तेजना-विशेष से उत्पन्न होती है, एवं वाहन हंस प्राणन-क्रिया की शाब्दिक मूर्त्ति है—ये दो बातें ध्यान में रखने पर हमें फिर यह समझना बाकी नहीं रहेगा कि शब्दब्रह्म अथवा ब्रह्मा शब्दतन्मात्र-शरीर हैं, अर्थात् निरतिशय और विशुद्ध शब्दसमष्टि ही ब्रह्मा का कलेवर है; और वे जिसके ऊपर आश्रय करके एवं जिसे वाहन बनाकर रहते हैं, वही नाभिकमल और हंस स्पन्दात्मक परशब्द की प्रतिमूर्ति है। अत एव स्पन्दात्मक परशब्द को मूल बनाकर शब्दतन्मात्र, सूक्ष्मशब्द और स्थूल शब्द—इस त्रिविध अपरशब्द की जो व्याख्या हमने दी है, उसका एक सांकेतिक विवरण (symbolic representation) गल्प के बीच में हम पाते हैं। आपाततः इसे गल्प कहा जाता है, किन्तु यह ठीक गल्प नहीं है। विष्णु सर्वव्यापी और सर्वाधार आत्मा हैं। ब्रह्माण्ड में जिस किसी की भी अभिव्यक्ति होती है, उसका मूल विष्णु में है। विष्णु ही अभिव्यक्त हो रहे हैं। हम जिन्हें विष्णु का नाम देते हैं, उन्हें प्राचीन वैज्ञानिकों के प्रतिनिधि वकील हर्बर्ट स्पेंसर शायद 'अज्ञेय शक्ति' (Inscrutable power) कहकर छोड़ देंगे। नाम जो भी दिया जाय, विष्णु कहें या आदिशक्ति कहें, इस विश्वाभिव्यक्ति के मूल में और अन्तराल में कुछ रहता है, निखिल सृष्टि की सम्भावना, सूचना और प्रेरणा उसी के भीतर है। वही वस्तु शब्दतन्मात्र के रूप में, शब्द-पराकाष्ठा के रूप में अभिव्यक्त होती है—अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा उस मूल वस्तु से आविर्भूत होते हैं। उस प्रकार के आविर्भाव के लिए परशब्द की आवश्यकता है, यह पहले ही हम कह चुके हैं। किन्तु परशब्द होने से ही काम नहीं चलेगा; दो-एक बाधा या अन्तरायों का अतिक्रम किये बिना उस प्रकार की अभिव्यक्ति नहीं होगी। मैं शब्द सुनता हूँ; मेरा सुना हुआ शब्द निरतिशय शब्द अथवा शब्दपराकाष्ठा नहीं है। क्यों नहीं है? पूर्व-प्रबन्ध में हमने शब्द-श्रवण के जिन सब उपादानों व निमित्तों की आलोचना की है, उससे इस

बात का परिष्कार होता है कि मेरे श्रुत शब्द में विकार (deformation) और संकर (confusion) है, ये दो दोष थोड़े बहुत रहेंगे ही।

हमारा स्थूल, भौतिक कर्ण अविकृत एवं असङ्कीर्ण शब्द ग्रहण करने योग्य नहीं है। हमारे भीतर जो विष्णु रहते हैं, यही उनका कर्णमल है। इस कर्णमल के रहने के कारण हमारे श्रवण-सामर्थ्य में यह त्रुटि और दोष है, इसलिए हम निरतिशय शब्द या स्वाभाविक शब्द नहीं सुनते; इसलिए हमारा श्रुत शब्द स्थूल शब्द है, शब्द-तन्मात्र नहीं; हमारा कर्ण भौतिक कर्ण है, पारमार्थिक कर्ण (absolute ear) नहीं। शब्द सुनने का सामर्थ्य मुझ में पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच सका है, न पहुँच सकने का प्रमाण यह है कि कान पर यन्त्र लगा कर अथवा ध्यानस्थ हो कर अतीन्द्रिय सूक्ष्म शब्द सुनने पड़ते हैं। अभिव्यक्ति की धारा किसी एक बाधा से धक्का पा कर मानों थम गई है, अन्त तक नहीं पहुँच सकी है। सर्वभूतों में ही अभिव्यक्ति की यह दशा दिखाई देती है। जितनी अभिव्यक्ति होने पर सम्पूर्णता वा पराकाष्ठा होगी, वह अभी कहीं भी नहीं दिखाई देती। पता नहीं कौन प्रतिबन्धक है, जो सोलह आने खिल उठने नहीं देता? हमारे श्रवण-सामर्थ्य का यह जो दोष या प्रतिबन्धक है, उसे कर्णमल कहना ठीक नहीं है क्या? विष्णु अर्थात् सर्वव्यापी; इसलिये जहाँ कर्ण या श्रवण-सामर्थ्य का आयोजन या व्यवस्था है, वहीं विष्णु का कर्णमल है। अर्थात् केवल तुम्हारे-हमारे घर की बात नहीं है, यह एक जागतिक व्यवस्था है। हाँ, तुम्हारे-हमारे दृष्टान्त में मूल तथ्य समझने की सुविधा हमें हो सकती है। अब हम यदि श्रवण-सामर्थ्य की पराकाष्ठा में उपनीत होना चाहते हैं, तब हमें कर्णमल का परिष्कार कर लेना होगा। हमारे भौतिक कर्ण को पारमार्थिक कर्ण बना लेना होगा। कर्ण के निर्मल न होने पर श्रवण निरतिशय ओर विशुद्ध नहीं होगा। हम ने जो लक्षण और परिभाषा बना ली हैं, उनके अनुसार ये सब बातें कह कर हम एक ही बात को केवल घुमा-फिरा कर देख रहे हैं। कर्ण-मल या श्रवणशक्तिनिष्ठ दोष दो कारणों से हो सकते हैं अथवा उनकी विवृति दो प्रकार से दी जा सकती है। आवरण और विक्षेप—तमस् और रजस् है। शब्द हुआ, दूसरे सुन पाये, मैं नहीं सुन पाया। यहाँ न जाने किस ने शब्द को मेरे प्रति ढक रखा है। इस आवरण के कारण हम बहुत सूक्ष्म शब्द नहीं सुन पाते, अनेक विपुल शब्द भी हम नहीं सुनते; दो सीमारेखाओं के मध्य में, एक घेरे के भीतर शब्द आ कर हाजिर हो, तभी मैं उसे सुन पाता हूँ। इस

की परिभाषा की जाय – तामसिक कर्णमल। और शब्द सुनने पर भी ठीक रूप में सुनने की सम्भावना हमें नहीं है। एक ही समय में नाना वस्तु की उत्तेजना नाना शब्द उत्पन्न करती है। बागीचे में बैठा हुआ हूँ - काक का स्वर, झींगुर का स्वर, चील का स्वर प्रभृति सैकड़ों शब्द एक साथ जुड़कर कन्धे से कन्धा भिड़ा कर मेरे कान में आ रहे हैं, उन का हिसाब कौन देगा ? स्थूल भाव से उन्हें हम अलग कर के पहचानते हैं; किन्तु वास्तव में वे घुल मिल कर संकीर्ण हो कर आ रहे हैं, इस बात में सन्देह है क्या ? जल में एक ढेला फेंका; एक उत्तेजना का केन्द्र बना एवं उस से चारों ओर तरंगें फैलती जा रही हैं; और एक ढेला फेंका, एक नवीन उत्तेजना का केन्द्र बना एवं उसे घेर कर और भी एक तरंग-पंक्ति बिखर गई, किन्तु पहले की तरङ्गें तब तक भी लीन नहीं हुई हैं। नूतन के साथ पुरातन का संघर्ष हुआ, फलस्वरूप नूतन और पुरातन दोनों ही निजस्व प्रकृति और शृङ्खला से थोड़ा बहुत विच्युत हुए। यह उनका साङ्कर्य (inter erence of waves) है। हमारे श्रुत शब्दों की यही दशा है। किसी एक वस्तु की निजस्व प्रकृति शब्द में हम लोग इसीलिये नहीं पकड़ पाते हैं कि जिसे हम किसी वस्तु का शब्द कहते हैं, वह निश्चय ही उसका निजस्व और स्वाभाविक शब्द नहीं है। इस विश्व के हाट में सभी चिल्ला-पुकार रहे हैं; इस चीख-पुकार के बीच अपने खोये हुए मामा का कण्ठस्वर चुन लेना मेरे लिये एक प्रकार असम्भव ही हो गया है। हाँ, अवश्य ही "अध्येतृ-वर्ग-मध्यस्थ-पुत्राध्ययन-शब्दवत्" मामा की पुकार बिल्कुल ही नहीं सुन रहा हूँ, ऐसा भी नहीं है। वह पुकार अन्य पाँच पुकारों के साथ घुलमिल कर अपने को ढके हुए है। जगत् की निखिल सामग्री के जिस क्षेत्र में भीड़ में पृथक् रूप से अलक्षित 'हरिबोल'* कहने की व्यवस्था है, उस क्षेत्र में मैं विकृत, मिश्र शब्द सुनने

* बंगाल में मन्दिरों में ऐसी प्रथा है कि प्रसादरूप बताशे 'हरि बोल' कह कर लुटाये जाते हैं। उस 'लूट' में सभी लोग 'हरि बोल' कहते हैं। उस सम्मिलित उच्चरव में किसी का कण्ठस्वर पृथक् रूप से लक्षित नहीं होता। इसलिए जिस व्यापार में समूह ही प्रमुख रहे, व्यक्तिगत विशेषता लक्षित न हो, उसे लक्षणा द्वारा 'गोल में हरि बोल देना' कह देते हैं। संगीतकारों में इसी प्रकार से 'शामिलबाजा' कहावत प्रचलित है, जिसका प्रयोग तब किया जाता है जब कोई गायक या वादक सामूहिक गायन-वादन में अपना कण्ठ-स्वर अथवा वाद्य-स्वर अलक्षित रख कर दोषप्रच्छादन का यत्न करे।—अनुवादिका।

को बाध्य हूँ। मिश्र (मिलावटी) को पकड़ कर संशोधन कर लेने का सामर्थ्य मेरे कान में नहीं है। यह कर्ण का एक और दोष है। इसका नाम दे लें-- राजसिक कर्णमल। इस कर्णमल के कारण श्रुत शब्द भी चक्कर काट रहे हैं प्रकृति या स्वभाव से विच्युत, विक्षिप्त हो रहे हैं। इस दो प्रकार के कर्णमल में पहला मधु है, दूसरा कैटभ; एक तमस्, दूसरा रजस् है। इस कर्णमल का संस्कार (शोधन) न होने पर, क्या मुझ में, क्या तुम में, क्या प्रजापति में,—पारमार्थिक कर्ण अथवा शब्दग्रहण-शक्ति की पराकाष्ठा अभिव्यक्त नहीं हो सकती। विष्णु प्रजापति अथवा ब्रह्मा के रूप में निखिल स्वाभाविक अथवा वैदिक शब्दराशि को अभिव्यक्त किए जा रहे हैं; उस प्रकार अभिव्यक्त होने की कोई सम्भावना नहीं है, जब तक कर्णमल बना हुआ है। रूपक के बहाने कह लें, बात किन्तु सीधी है, एवं उसमें आपत्ति करने लायक कुछ नहीं है। अभिव्यक्ति-धारा (stream of evolution) को पराकाष्ठा में पहुँचने के लिये सब घेरों, बन्धनों का अतिक्रम कर के जाना होगा, यह बात कहना पूर्वोक्त की पुनरुक्ति करना मात्र है। जो निर्मल बनना चाहेगा, उसे मैला धो कर पोंछ देना होगा, यह कहने पर कोई नवीन बात कही जाती है क्या? तुम जल में ढेला फेंक दो तो उस का शब्द सुनने के लिये मुझे कान से उंगली हटा लेनी होगी; उसी प्रकार कारण-सलिल में जो चाञ्चल्य है, उसे निरतिशय भाव से सुनना हो तो श्रवण-सामर्थ्य की कुण्ठा और कृपणता, अर्थात् कर्णमल के रहने से तो काम नहीं चलेगा न! इसलिये प्राजापत्य अधिकार को निरुद्वेग करने के लिये कर्णमल दूर करना ही चाहिये। इस कारण शास्त्र कहते हैं— मधु व कैटभ 'विष्णु-कर्णमलोद्भूतौ ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतौ'*। दैत्यद्वय के विनष्ट न होने पर अर्थात् कर्णमल के दूर न होने पर ब्रह्मा की पदवी अर्थात् निरतिशय श्रवण-सामर्थ्य अक्षुण्ण और चरितार्थ नहीं हो सकती। साथ ही विष्णु की योग-निद्रा न होने पर दोनों दैत्यों का प्रादुर्भाव नहीं होता।

बीज के भीतर जो कुछ प्रसुप्त और प्रच्छन्न भाव से रहता है वह यदि जाग्रत् और परिस्फुट हो कर रहता तब तो बीज वृक्ष हो कर ही रहता। बीज से धीरे-धीरे वृक्ष होता है इस क्रमिक और धारावाहिक व्यापार का फिर कोई अर्थ ही नहीं रहता। अभ्युदय अथवा क्रमविकाश नामक प्रवाह फिर निरर्थक हो जाता। बीज के भीतर जो विष्णु हैं, जो वैष्णवी शक्ति है,

*दुर्गाशप्तशती १.६८—अनुवादिका।

वह निद्रित हैं, इसीलिए बीज आपाततः बीज ही बना रहा है; उस शक्ति की निद्रा अर्थात् मूर्च्छितावस्था (potential condition) जैसे-जैसे अपगत होगी, बीज की पादप-रूप में परिणति भी वैसे-वैसे प्रकृत होती जायेगी। इसलिए सर्वभूतान्तरात्मा विष्णु के न सोने पर और न जागने पर किसी भी वस्तु के घटने-बढ़ने, उदय-विलय का प्रसङ्ग ही अर्थहीन हो जाता है। वस्तु की ह्रासवृद्धि का अर्थ ही है उसके भीतरी शक्ति-व्यूह की विभिन्न अवस्था। विश्व का उदय-विलय होता है यह देख कर हम समझते हैं कि जो वस्तु विश्व के बीज अथवा मूल-रूप में है, उसका एक प्रकार का संकोच और विकास अवश्य है। ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति ये तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं, अथवा सभी शक्तियों के आश्रय जो जगन्निवास हैं, उनके अनन्त शक्तिव्यूह के सभी समय में ठीक एक भाव में रहने पर किसी प्रकार का संचलन, ह्रास-वृद्धि, उदय-विलय संभव नहीं है, सुतरां सृष्टि अथवा जगत् कहने पर हम जो समझते हैं वह बिल्कुल सम्भव नहीं हो सकता। यह विज्ञान की परीक्षित और स्वीकृत बात है, दर्शनशास्त्र की दुर्बोध्य पहेली नहीं है। विज्ञान जिसे कार्यकरी शक्ति (energy) कहता है, उसकी दो अवस्थाएँ हम देखते हैं। एक प्रच्छन्नावस्था (potential अथवा static condition), दूसरी उदार अथवा व्यक्त अवस्था (kinetic condition) है। जल की कणिकाओं के नूतन भाव में विन्यस्त और सज्जित होने पर बर्फ़ होती है, इस अभिनव विन्यास (new configuration) के फलस्वरूप बर्फ़ की उत्पत्ति में प्रचुर ताप प्रच्छन्न भाव से रहता है; पुनः बर्फ़ जब गल कर जल होने लगेगी तब वही प्रच्छन्न ताप-शक्ति हिसाब में पकड़ी जा सकेगी। पुनश्च, जल जब वाष्प में परिणत होता है, तब भी इस प्रकार की एक अवस्था होती है। जल के भीतर जो विष्णु हैं, उनके सब समय ठीक एक अवस्था में रहने पर जल जल ही रह जाता, बर्फ़ या बाष्प नहीं बन पाता। इस प्रकार देखने पर हमारे भीतर भी विष्णु हैं, तुम्हारे भीतर भी हैं। जो मेरे भीतर हैं, वे यदि सब समय ठीक समवस्थ रहते तो मैं भी सब समय समवस्थ ही रह जाता; मेरे ज्ञान और कर्म सब समय ठीक इसी प्रकार होते; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये समझता हूँ कि मेरे मूल में एक परिवर्तन और क्रमिकता की व्यवस्था है; मेरा ज्ञान और शक्ति अल्प और संकीर्ण होकर रहते हैं, इससे भी समझता हूँ, अथवा इस व्यापार को यह कह कर बताता हूँ कि विष्णु मेरे भीतर योगनिद्रा में आच्छन्न होकर पड़े हुए हैं। मेरी अभि-

भूतावस्था ही मेरे विष्णु की योगनिद्रा है। मेरा जो क्रमिक विकास अथवा अभ्युदय है वही मेरे विष्णु का जागरण है। केवल मेरे लिये नहीं, निखिल ब्रह्माण्ड में ही इस प्रकार की व्यवस्था है। वह है; इसीलिये जगत् जगत् है। वह है; अतः सृष्टि है, विकास है। इस जागतिक रहस्य और सृष्टि के मूल की बात को स्मरण रखने पर विष्णु की योगनिद्रा और प्रबोध की इस पौराणिक गल्प को सुनकर हम हँसेंगे नहीं। कार्यकरी शक्ति (energy) की व्यक्तावस्था और अव्यक्तावस्था सुन कर वैज्ञानिक हँसा करते हैं क्या? सोये हों, तभी जागना होता है; उतरे हुए हों, तभी चढ़ना होता है। विष्णु कारण-सलिल में योगनिद्रा में निद्रित हैं; यह मानो विश्वशक्ति की एक मग्न एवं मूर्छित अवस्था (static condition) है। यही भाव सर्वदा रहने पर कोई भी परिणति या परिवर्तन नहीं हो सकता। जिस धारा को सृष्टि कहते हैं, वह फिर बिल्कुल नहीं चलती। तब विष्णु ब्रह्मा के रूप में, सृष्टिकर्ता के रूप में दिखाई नहीं दे सकते। ब्रह्मा में शब्द-ग्रहण-सामर्थ्य की जो पराकाष्ठा है, विशुद्ध स्वाभाविक शब्द अथवा बीजमन्त्र सुनने और बोलने की शक्ति का जो चरमोत्कर्ष है, वह सम्भव ही न होता, यदि विष्णु योगनिद्रा से उत्थित न हों। बीज की शक्ति की व्यक्तावस्था का अर्थ ही है अङ्कुरादि का उद्गम। योगनिद्रावस्था में ही कर्णमल सम्भव है; उसी अवस्था में मधुकैटभ का प्रादुर्भाव है। ब्रह्मा ने स्तुति करके योगनिद्रा को भङ्ग किया—प्रच्छन्न (potential) को उदार (kinetic) बना लिया। योगनिद्रा के भङ्ग होने पर कर्णमल, अर्थात् श्रवणसामर्थ्य की अल्पता और कृपणता अपगत हो गई। मधुकैटभ का संहार हुआ। मधु-कैटभ शब्द के विकार और संकर हैं। शब्द के विकार और संकर के नष्ट हो जाने पर ही शब्द विशुद्ध और स्वाभाविक हो गया। बीजमन्त्रों का उद्धार और चैतन्य हुआ। इस प्रकार के समर्थ (dynamic और creative) बीजमन्त्रों के न प्राप्त होने पर सृष्टि नहीं होगी, ब्रह्मा का अधिकार ही सिद्ध नहीं होगा। मधु-कैटभ के विनाश के पश्चात् ब्रह्मा निरुद्वेग एवं चरितार्थ हो गये।

मधु-कैटभ की आख्यायिका के भीतर शब्दसम्बन्धी पूर्वालोचित सभी मौलिक बातें मिल गईं न! आख्यायिका की इस प्रकार की व्याख्या ही हम क्यों देते हैं? किसी आख्यायिका का रहस्योद्घाटन करने बैठें तो पहले धीर-भाव से परीक्षा करके देखना होता है, उसके बीच कोई भी निर्देश-सूत्र, स्पष्ट संकेत अथवा दिग्दर्शन (pointer) प्रच्छन्न भाव से दिया हुआ है या नहीं।

वर्तमान आख्यायिका में इस प्रकार के संकेत तीन हैं। प्रथम संकेत है कि ब्रह्मा के ध्यान में निखिल वेद-शब्द प्रादुर्भूत हो रहे हैं। इसीलिये ब्रह्मा शब्द-सम्पर्कीय शक्ति की पराकाष्ठा है; वेदशब्द अर्थात् विशुद्ध और निरतिशय शब्द हैं। इस प्रकार शब्द को अर्थात् बीजमन्त्र को पुरोहित बना कर ही ब्रह्मा का सृष्टियज्ञ आरम्भ हुआ करता है, अन्यथा नहीं। मधु-कैटभ कौन हैं, यह समझाने के लिये अति स्पष्ट संकेत है **'विष्णुकर्णमलोद्भूतौ'**। वस्तुतः 'कर्णमल' यह शब्द ही इस महा-रहस्यपेटिका की चाबी है। उसके बाद ब्रह्मा ने योगनिद्रा के प्रबोधन के लिये जो स्तव किया, वह मुख्यतः वाग्देवता का, शब्दब्रह्म का स्तव है; ब्रह्मा शब्दब्रह्म होने के लिए परमा वाक् की स्तुति करते हैं—साधक अपनी सिद्धि का वरण कर रहे हैं।

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारस्वरात्मिका।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः।*

इत्यादि स्तव सुन कर फिर संशय रहता है क्या कि किसका यह स्तव है, क्यों यह स्तव है?

उस दिन हमने गङ्गा की गोलोकधाम में उत्पत्ति, ब्रह्मा के कमण्डलु में स्थिति, हर-जटा-जाल में अवगुण्ठन एवं अन्त में गोमुखी द्वार से भूतल पर अवतरण—इस आख्यायिका की भी शब्द-पक्ष में व्याख्या की थी। गोलोक और गोमुखी का 'गो' शब्द तब हमारा निर्देशसूत्र (guiding clue) था; और भगीरथ ने शङ्ख बजाकर अग्रसर होते हुए इस महारहस्य की घोषणा कर दी है कि गङ्गा वेदशब्दमयी है; भगीरथ की यह शङ्खध्वनि शब्दसङ्केत है, एवं वही गङ्गा-माहात्म्य की मर्मकथा हमें पुकार कर सुनाती जा रही है। गुरु-शिष्य-परम्परा-क्रम से वेदशब्दधारा, बीजमन्त्रसमष्टि कुछ-कुछ तुम्हारे-हमारे कानों में आ कर पहुँचती रही है; कर्णमल के कारण उसकी विकृति और सङ्कर अवश्य ही कुछ है, किन्तु गुरु-शिष्य का अविच्छिन्न सम्प्रदाय न होने पर बीजशब्दों की जितनी विकृति और संकर होता, सम्प्रदाय रहने से उतना नहीं हो सका है। हमारे प्रचलित शब्दों को नाना कारण से विकृत और संकीर्ण होने का एक रोग है। उस दिन †चित्र अंकित करके इस रोग का एक निदान देने की चेष्टा की

* दुर्गासप्तशती १. ७३, ७४। अनुवादिका।
† द्रष्टव्य परिशिष्ट चित्र सं० १ – अनुवादिका।

थी। कर्णमल और रसनामल के माहात्म्य से हमारे श्रुत और उच्चारित शब्द चक्कर काट कर क्रमशः मिलावटी और अस्वाभाविक होते जा रहे हैं।

शब्द जितना अस्वाभाविक होगा, उतना ही वह अशक्त-असमर्थ होता जायेगा। शब्द होगा, अथच विषय का कोई ठिकाना नहीं रहेगा; बक के मर जाऊँगा, किन्तु अर्थ भाग्य में नहीं जुटेगा। इस प्रकार के असमर्थ (uncreative) शब्द को लेकर जीवन-यापन झकमारी है, साधन और सिद्धि तो दूर की बात है। धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होने पर भगवान् युग-युग में धरा-धाम पर अवतीर्ण होते हैं, यह बात उनके अपने मुख से सुनी है। धर्म और सदाचार का एक आदर्श (standard) पुनः स्थापित कर देने के लिये उनका हमारे इस कर्मक्षेत्र में पदार्पण होता है। विष्णु आये, किन्तु उनके चरण से उत्पन्न गङ्गा नहीं आईं, ऐसा नहीं होता। धर्म की ग्लानि दूर करके आदर्श की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए विष्णु आये, और शब्द-विभ्राट् दूर करके स्वाभाविक और समर्थ शब्द-समष्टि की धारा पुनः वहा कर जीव के लिए सुखदा-मोक्षदा वनने के लिये आईं गङ्गा। स्वाभाविक शब्द और वीज-मन्त्रों को गँवा देने से जीव अपने अन्तरात्मा में इष्टदेवता के लिए मणिमण्डप, रत्नसिंहासन किससे घड़ेगा? आदि विद्वान् कपिल ने श्रुति कही है; उनसे गुरुशिष्य-परम्परा में स्वाभाविक शब्दराशि, वेद प्रवाहित हो रहा है; उस धारा को अक्षुण्ण रख सकने में ही कल्याण एवं चरितार्थता है। सगर-पुत्रों ने मदोद्धत होकर उसी आदि-विद्वान् की अवमानना की, घर्षणा की, मनुष्य ने उसी आदि-विद्वान् से आरम्भ करके जो स्वाभाविक शब्दधारा गुरुशिष्य-परम्परा में बह कर आ रही है, उसकी उपेक्षा की, उससे भ्रष्ट हुआ; कहने लगा—"हम श्रुति-स्मृति को क्यों मानने जाएँ? वेद जिसे स्वाभाविक शब्द कहते हैं वही सचमुच स्वाभाविक शब्द है, उसका प्रमाण नहीं है; हमारे प्रचलित शब्दों का ही क्या दोष है? हम उन्हीं के द्वारा अपना काम चलाएँगे"। इस अविचार-पूर्वक, अपरीक्षापूर्वक विद्रोह के फलस्वरूप शब्दसङ्कर और शब्द-विभ्राट् सीमा लाँघ कर भयानक हो गया है। सम्प्रदाय (tradition) में भी शब्दसंकर था; किन्तु बहुत बढ़ नहीं सका था एवं उसे ठीक कर लेने की भी एक व्यवस्था थी। किन्तु सम्प्रदाय नहीं मानेंगे ऐसा कहने से, शब्दसंकर और भी फैल गया। उस प्रकार के शब्दसंकर का फल है निष्फलता, वैयर्थ्य। यही सगर-पुत्रों की भस्मत्व-प्राप्ति है, जीव-साधारण का पातित्य है। भगीरथ तपस्या करके उसी वीज-शब्दमयी सनातनी वेदवाणी को मङ्गल-भैरव शङ्खध्वनि करते-करते इस

पतित धरा पर वरण करके ले आए। मार्ग में जह्नु मुनि ने एक बार उसी पुण्यतोया को पान करके फिर बाहर निकाल दिया; पद्मासुर पथ भुलाकर दूसरे पथ पर ले जाने लगा। स्वाभाविक शब्दराशि मर्त्य में बहाल रहकर हमारे चतुर्वर्ग का साधन करे—इस पथ में ये दो प्रधान अन्तराय या विघ्न हैं—विस्मृति और विकृति। भूल जाने से नहीं चलेगा, और रूपान्तरित या विकृत कर डालने से भी नहीं चलेगा। जह्नु मुनि प्रथम के संकेत हैं, पद्मासुर दूसरे का संकेत है। हाँ, जह्नु मुनि कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। उनकी विस्मृति योगविस्मृति है। निर्बीज समाधि में, तुरीयभाव में जिस प्रकार की विस्मृति होती है, उसी प्रकार की विस्मृति उनकी है। वह तो अशब्द की अवस्था है; उस अवस्था में शब्द का, यहाँ तक कि स्वाभाविक शब्द का भी स्मरण रहता है क्या? यह हुई अन्तिम स्तर की अनुभूति। इसके साथ नीचे के स्तरों की अनुभूतियों का सम्बन्ध परिशिष्ट में २ संख्यक चित्र की सहायता से समझने की चेष्टा करने पर लाभ ही है, हानि नहीं।

क–रेखा हमारी साधारण-अनुभूति की द्योतक रेखा (curve of normal experience) है। ख–रेखा योगियों की अनुभूति की द्योतक रेखा (curve of yogic experience) है। ग–रेखा ऐसी एक उच्च स्तर की अनुभूति को समझाती है, जहाँ से फिर पुनरावृत्ति नहीं भी हो सकती; आत्मा सत्य रूप का सन्धान पा कर उसमें ही 'शरवत् तन्मय'* होकर रह गया, उसका संवाद वहन करके निम्न-लोक में फिर नहीं उतर सका। और कोई-कोई आत्मा अमृत का आस्वाद पा कर हमें उसकी बात सुनाने के लिए साध करके मानो हमारे स्तर पर उतर आये, शास्त्र रचकर जीव शिक्षा में प्रवृत्त हुए। यही मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रवक्ता ऋषि हैं। यही गुरु हैं। ग–रेखा द्वारा ऐसे एक आत्मा की गति और पदवी हमने दिखा दी जो फिर उतर कर नहीं आया। घ–रेखा में हम पाते हैं ऋषि, पूर्वाचार्य और गुरुवर्ग को। अनुभूति की एक मुख्य धारा शब्द है। सुतरां शब्द के अनेक स्तर समझाने के लिये भी इस चित्र का व्यवहार चलेगा। जह्नु मुनि वेदशब्दराशि की स्वयं उपलब्धि करके यदि उसे शिष्य-प्रशिष्य क्रम में चला नहीं देते, तब तो धारा वहीं पर रुक जाती; हम जैसे भस्मत्वप्राप्त सगरसन्तति-गणों के उद्धार की तो कोई व्यवस्था नहीं रह

---

* प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥
(मुण्डकोपनिषत् २.४)—अनुवादिका

जाती। इसीलिये जह्नु मुनि को जंघा चीर कर गङ्गाजी को बाहर निकाल देना पड़ा। 'जंघा' कहने से उत्तमाङ्ग से अवमाङ्ग में अवतरण—उच्च स्तर से शिष्यसंप्रदाय की कल्याण-कामना से निम्न स्तर में उतर आना समझाया गया। पद्मासुर के पीछे-पीछे जाकर हमें पथभ्रष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। साधक-सम्प्रदाय-प्रवाह को अविच्छिन्न रखने के लिये, वेदशब्द की ग्लानि और शब्द-संकर का अभ्युत्थान निवारण करने के लिये, भगीरथ की तपस्या को सूत्र एवं उपलक्ष्य बनाकर सनातन शब्दमाला का हमारे लोक में जो अवतरण है, वही गङ्गा का आविर्भाव है—यह मूल बात उपाख्यान के भीतर से स्पष्ट नहीं होती क्या? परशब्द, शब्द-तन्मात्र, सूक्ष्म शब्द और स्थूल शब्द —इन कुछ-एक सीढ़ियों या स्तरों में शब्द हमारे लोक (plane) में उतर आता है, इस बात का सन्धान इस आख्यायिका में से हम पहले ही आविष्कार कर सके हैं। 'सनातन शब्दमाला' सुनकर नास्तिक महाशय कहीं चौंक न पड़ें। यह एक संज्ञा है, जैसे कि गणितशास्त्र की अनेक संज्ञायें हैं। संज्ञा यह है—कि किसी भी द्रव्य के मूल में अवश्य एक शक्तिव्यूह (system of constituting forces) रहता है। यदि वह शक्ति-व्यूह-जनित चाञ्चल्य किसी पारमार्थिक श्रवणसामर्थ्य के समीप शब्द-रूप में पकड़ में आ जाये तो वही शब्द उस द्रव्य का स्वाभाविक शब्द, वीज-मन्त्र अथवा वैदिक शब्द है। कहना न होगा कि यह लक्षण मानने पर यह भी मानना ही पड़ेगा कि इस प्रकार के शब्द के सहित उसके विषय का अथवा अर्थ का सम्बन्ध नित्य अथवा सनातन है। किसी द्रव्य के तीन विंदु संयुक्त करके देखो, एक सरल रेखा मिलेगी; अब द्रव्य स्थिर रहे अथवा चलता-फिरता रहे, उसके तीन बिन्दु यदि एक सरल रेखा में ही बार-बार रह जायें, तब उस द्रव्य को गणित की परिभाषा में कठिन द्रव्य (rigid body) कहते हैं। सचमुच ही वैसा कोई जड़ द्रव्य है कि नहीं, यह अलग बात है। उसका कोई भी मनगढ़न्त (*a priori*) उत्तर नहीं दिया जा सकता; परीक्षा करके देखना होगा। वर्तमान क्षेत्र में भी अपने-अपने अर्थ के साथ नित्य-सम्बन्ध के बन्धन में बद्ध (**'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'** *उपमा देने की वस्तु है) कोई स्वाभाविक शब्दमाला सचमुच ही है कि नहीं, उसका भी कोई मनगढ़न्त उत्तर नहीं दिया जा सकता। इसकी सत्यता भी परीक्षा-सापेक्ष है। किन्तु हमें लक्षण और परिभाषा करने में कोई बाधा नहीं है। क्यों इस प्रकार की परिभाषा कर रहे हैं, उसकी कैफ़ियत पूर्व-प्रबन्ध में शायद कुछ-कुछ स्पष्ट हुई

---

* रघुवंश का प्रथम श्लोक।—अनुवादिका।

थी। नास्तिक महाशय के साथ आपाततः हम और बात-चीत नहीं करेंगे। मधु-कैटभ-वध और गङ्गा का भूतल पर अवतरण, इन दो वृत्तान्तों में से हमारे शब्दतत्त्व की अनेक मर्मकथायें हम खींच कर बाहर निकाल सके हैं। उपाख्यान के जिस-जिस अंश में शास्त्रकारों ने रहस्योद्घाटन की चाबी रख छोड़ी है, उस-उस अंश को टटोल कर हम बिल्कुल विफल-मनोरथ नहीं हुए हैं। पहले उपाख्यान में 'कर्णमल' शब्द एवं दूसरे उपाख्यान में 'गोमुखी' प्रभृति शब्द न पाने पर, हमारा तथ्यान्वेषण सफल और सहज न होता। **"गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि"** — गङ्गा-सलिल में अवगाहन करके इस मन्त्र का स्मरण करते-करते गङ्गा की मन्त्रात्मिका मूर्ति ही उज्ज्वल होकर हृदय में जाग पड़ती है; मन्त्र का विशुद्ध भाव से उच्चारण कर सकने पर ही वह अर्थ-सफलता से धन्य हो उठेगा, यह महासत्य ही हमारी बुद्धि में प्रकाशित हो उठता है। यन्त्र-शुद्धि एवं तन्त्रशुद्धि उसके लिये आवश्यक है। तब आशङ्का होती है, कलि के प्रभाव से, शब्द-संकर, शब्दविकार और शब्दसङ्कोच जिस मात्रा में बढ़ते जा रहे हैं, उससे गुरु-परम्परागत स्वाभाविक शब्दमाला गङ्गा-रूप में इस मेदिनी-मण्डल के कलुष-कलङ्क का क्षालन करने के लिए, साधक का योगक्षेम वहन करने के लिये, शायद अब अधिक दिन नहीं रहेंगी। भगवान् के मीनकलेवर में, वराह-मूर्ति में जो पुनः-पुनः वेद-समुद्धार हुआ है, प्रलय-पयोधि-जल में वट-पत्र पर 'शयान' होकर उनके द्वारा जो वेद की रक्षा हुई है — उन सभी बातों की गहराई में जा कर आलोचना करनें जाएँ तो भी हम शब्द-तत्त्व में ही जा कर उपनीत होंगे। हाँ, उस आलोचना का अवसर आज हमें नहीं है। मोटा-मोटी दोनों उपाख्यानों की जितनी-सी आलोचना हम कर पाए हैं, उससे, आशा है, हमारे वेद-पुराणों की आख्यायिकाएँ अफीमचियों के अड्डे में रची गई हैं—ऐसा सोचने में नास्तिक महोदय को भी कुछ-कुछ द्विधा अब अवश्य होगी।

हमारे दिए हुए शब्द के विवरण शास्त्रसिद्धान्त के कितने समीप अथवा दूर हैं, उसे अभिज्ञ व्यक्ति विवेचना करके देखेंगे। हमारा अपना विश्वास है कि बहुत अधिक दूर नहीं है। दो-एक परिभाषा पंडित महाशय की दी हुई परि-भाषा के साथ शायद ठीक मेल न भी खायें। परशब्द को 'परशब्द' कहने की भित्ति क्या है? हमने जिसे शब्द-तन्मात्र कहा, वही क्या हमारे पूर्वाचार्य-गणों का अनुमोदित शब्द तन्मात्र है? इस प्रकार की दो-एक परिभाषा के सम्बन्ध में प्रश्न का ठीक उत्तर क्या दें, उस विषय में शायद कुछ चिन्ता हो सकती है, किन्तु प्रधानतः विज्ञान की ओर से अग्रसर होकर वेद-शब्द का और

मन्त्र का जो लक्षण और व्याख्यान मिला, उसने शास्त्र की दिशा में बिल्कुल पदार्पण नहीं किया · यह बात कहने पर, मुझे लगता है, कुछ अनाड़ी जैसी बात हो जाएगी। दर्शनों के सम्बन्ध में जो भी हो, उपनिषद् अथवा अध्यात्म-शास्त्र ठीक नैयायिक महाशय की फ़र्माइश के अनुसार नहीं चले हैं। शिशु ने पूछा—"पृथिवी कैसे पथ से सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती है?" मैंने उससे कहा—"वृत्त की तरह गोलाकार पथ में।" किन्तु पथ तो ठीक वृत्त की तरह नहीं है। शिशु बड़ा हुआ, उसकी बुद्धि और भी परिपक्व हुई, तब मैंने भूल का संशोधन कर दिया, कह दिया कि यह पथ वृत्त नहीं है, वृत्ताभास (ellipse) है। विशेषज्ञ लोग जानते हैं कि यहाँ भी अव्याहति नहीं है, प्रयोजनानुसार और भी संशोधन कर लेना पड़ता है। अध्यात्मशास्त्र में भी इसी प्रकार है। शिष्य को ब्रह्म-जिज्ञासा हुई; गुरु ने कहा 'तुम जो अन्न खाते हो वही ब्रह्म है'। बाद में संशोधन करके कहा, 'प्राण ब्रह्म है'; इस प्रकार शिष्य की अध्यात्म-दृष्टि जितनी ही प्रस्फुटित और प्रसारित होने लगी, उतना ही गुरु उसे ब्रह्म की नूतन-नूतन मूर्तियाँ दिखाने लगे; 'ब्रह्म' शब्द को बहाल रखा, किन्तु उसके लक्षण क्रमशः बदलने लगे; अन्त में शिष्य ने स्वयं ही उपलब्धि कर ली कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। एक ही शब्द के ये पाँच लक्षण एक-साथ पास-पास रख देने से नैयायिक महाशय की शिरःपीड़ा का गुरुतर कारण अवश्य घटित होगा, किन्तु जहाँ साधक की बुद्धि धीरे-धीरे विकसित होकर एक के बाद एक, व्यापक से व्यापकतर लक्षण आविष्कार कर लेती है, वहाँ आदि से अन्त तक एक ही शब्द को बहाल रखने में हानि नहीं है; वरं वही स्वाभाविक है। ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है?—यही मैंने जानना चाहा है; मेरा जानना शायद क्रमशः गम्भीरतर और व्यापकतर होता चलेगा; किन्तु मेरे अनुसन्धान, अन्वेषण की वस्तु तो एक ही रही, केवल इतना ही है कि क्रमशः उसे अच्छी तरह पहचान एवं पकड़ पा रहा हूँ। इस क्षेत्र में मेरे अन्वेषण की सामग्री का नाम न बदलना ही अच्छा है। इसलिए अन्न ही समझूँ, प्राण ही समझूँ, या मन ही समझूँ, मैं खोज रहा हूँ आत्मा को, ब्रह्म को। जैसा समझ रहा हूँ, वैसा लक्षण देता हूँ। अध्यात्मशास्त्र की यही रीति है - 'अरुन्धती-दर्शन-न्याय' से। नवोढ़ा वधू को पातिव्रत्य के निदर्शन-स्वरूप अरुन्धती नक्षत्र दिखाने की प्रथा पहले थी। किन्तु अरुन्धती छोटा तारा है, सहज में दिखाई नहीं देता। इसीलिए उसके निकट एक स्थूल, उज्ज्वल तारा की ओर अङ्गुलि-निर्देश करके स्वामी ने वधू से कहा—"यह देख अरुन्धती है"। जब वधू की दृष्टि उस पर सुस्थिर हुई, तब फिर स्वामी ने कहा—"नहीं, वह नहीं,

उसके निकट जो छोटा तारा है. वही अरुन्धती है"। अध्यात्मविज्ञान इसी रीति से हमारे आत्मसाक्षात्कार का पथप्रदर्शक बना करता है। शब्द एक है, उसकी परिभाषा पाँच प्रकार की है। जिन्होंने उपनिषदों का भली-भाँति आलोड़न करके देखा है वे जानते हैं कि 'आकाश' 'प्राण' 'वायु' प्रभृति शब्दों की परिभाषा और प्रयोग पूर्वोक्त अरुन्धतीदर्शन के अनुसार हैं। शेष-पर्यन्त ब्रह्म वस्तु ही लक्ष्य है। किन्तु उसके सूक्ष्मादपि सूक्ष्म होने से, इन शब्दों के स्थूल-स्थूल लक्षण आरम्भ में हमारे सम्मुख उपनीत किये गए हैं। इस दृष्टान्त के अनुसार चैतन्य की सस्पन्द चञ्चल अवस्था को परशब्द कहने में क्या अपराध हुआ ? विशेषत: श्रुति ने जगत्-प्रवाह के मूल में जिस शब्द को कहा है, वह मूलत: स्पन्द अथवा चाञ्चल्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। साम्यावस्था (cosmic equilibrium) के अवसान में जो वैषम्य का प्रथमोन्मेष (initial cosmic dis-equilibrium) है, उसे चाञ्चल्य के सिवा और क्या कहेंगे ? सांख्यकार ने प्रकृति एवं शब्द-तन्मात्र के बीच महत्तत्त्व और अहंकार नामक जिन दो तत्त्वों को रखा है, उन दोनों को मिला कर, परशब्द कहने में कोई दोष नहीं है; कारण, वे दोनों तत्त्व वैषम्यात्मक एवं विक्षोभात्मक हैं; एवं हमारी परिभाषा के अनुसार विक्षोभ अथवा चाञ्चल्य ही परशब्द है; श्रुति ईक्षण-पूर्वक शब्द-तन्मात्र और आकाश की सृष्टि कहती है; हम उसी ईक्षणा को परशब्द एवं 'पश्यन्ती वाक्' इन दो पर्यायों से क्या नहीं ग्रहण कर सकते ? कहना न होगा कि हम शब्द की ओर से ही हिसाब कर रहे हैं, यही सृष्टि के आरम्भ की बात है। हमने इसे परशब्द कह कर नैयायिकों के समीप तो शायद अपराध किया है, किन्तु श्रुति की रीति-पद्धति का उल्लंघन किया क्या ? शब्दतन्मात्र के सम्बन्ध में कैफ़ियत देने की चेष्टा अब नही करूँगा। हाँ, स्मरण रखिएगा, हमारे लक्षणानुसार यह विशुद्ध स्वाभाविक शब्द निरतिशय श्रवण-सामर्थ्य द्वारा गृहीत शब्द है।

स्वाभाविक शब्द की कैसे परीक्षा लेनी होगी, उसे हमने पूर्व-प्रबन्ध में विशेष रूप से कहा है। द्रव्य और अर्थ के रहने पर ही जो शब्द रहता है (अवश्य, पारमार्थिक कर्ण में श्रुत), एवं जिस शब्द के रहने पर ही उसका अर्थ निर्मित हो जाता है (अवश्य, विशुद्ध रूप में उच्चारित होने पर), वही शब्द स्वाभाविक शब्द है। यही स्वाभाविक शब्द की परीक्षा (test) है। स्वाभाविक शब्द के सम्बन्ध में और दो असली बातें कह कर हम आपातत: विदा लेंगे। प्रथम बात यह है - लट्टू घूम रहा है, उसका घूमना अवश्य ही

एक अक्ष (axis of rotation) के अवलंबन से होता है। हमारी पृथिवी भी एक अक्ष का अवलंवन करके चक्कर खा रही है। चुरुट का धुआँ चक्कर खाते हुए ऊपर उठता है। इस प्रकार का चक्कर खाना भी अवश्य एक अक्ष को आश्रय करके ही होता है। हेल्महॉल्ट्स और लॉर्ड केल्विन समझते थे कि अणु 'ईथर'-सागर में इसी प्रकार के एक-एक आवर्त हैं। यदि यही हो तो उनके आवर्तन भी एक-एक अक्ष को आश्रय कर के ही होते हैं। इलेक्ट्रॉन अणु (atom) के भीतर चक्कर खाते हैं यहाँ भी हमें अक्ष को मान लेने का अधिकार है। जहाँ गति केवल एक ओर सीधे-सीधे चली जाती है, वहाँ उस गति की रेखा ही अक्ष है। जहाँ आवर्तन (rotation) हो रहा है, वहाँ अक्ष वही रेखा है, जिसके चारों ओर एवं जिसके आश्रय में आवर्तन हो रहा है। जैसे गाड़ी के चक्के का अक्ष है। जो दो प्रकार को गति कही गयी है उन दोनों के विविध सम्मिश्रण से सब प्रकार की गति हो रही है। इसलिए अक्ष की सहायता से ही सब प्रकार की गति का हिसाब हमें लेना पड़ता है। गणित-शास्त्र ने अक्ष की सहायता से (co-ordinate axis की सहायता से) गति (curve of motion) का विश्लेषण और विवरण देकर ऐसा कुछ नितान्त अद्भुत काम नहीं किया है। इसीलिए हमें कहने का साहस होता है कि अक्ष की बात इस गत्यात्मक जगत् के मूल की बात है। गति की परीक्षा करके हमने यही पाया है। पदार्थसमूह की, विशेषतः सजीव पदार्थ-समूह की उत्पत्ति किस प्रकार हो रही है, इसे यदि हम परीक्षा करके देखें तो अक्ष (axis of generation) वस्तु को ही अधिक स्पष्ट करके देख सकते हैं। वृक्ष क्या है?—एक मूलकाण्ड का अवलम्बन करके शाखा-प्रशाखा चारों ओर फैल रही हैं; एक पत्ते को परीक्षा करके देखें, एक मुख्य शिरा का अवलम्वन लेकर शत-शत शिरा-प्रशिराएं पत्रावयव में फैली हुई मिलेंगी। अतएव यहाँ अक्ष की व्यवस्था है। एक लता इस वर्षा के रस में बढ़कर पेड़ पर छा गई है। परीक्षा करने पर देखेंगे कि एक मूल अक्ष के आश्रय में लता के नाना ओर नाना प्रशाखायें निकली हुई हैं। एक मूल (primary) अक्ष है; उससे और कितने ही गौण (secondary) अक्ष निकले हुए हैं। उच्च श्रेणी के जीवदेह की परीक्षा करके देखते हैं, कि मेरुदण्ड (spinal axis) का आश्रय लेकर स्नायुजाल सर्वाङ्ग में फैल कर प्राणन-व्यापार का निर्वाह करता है। Wiseman प्रभृति जीवतत्त्वज्ञों ने हमसे कहा था कि वंशपरम्परा में एक ही बीज पदार्थ (germplasm) बराबर चलता

हैं; हम में, तुम में उसकी अल्पविस्तर विभिन्न मूर्तियाँ तो प्रकाश पाती हैं, किन्तु हमारे भीतर वंशगत वीज, अपनी निजस्व प्रकृति को प्रायः अविकृत और अविच्छिन्न रखकर ही चलता रहता है। मेरे पितामह, पिता और मैं – एक ही अक्ष का आश्रय करके लता की नाना प्रशाखाओं की भाँति इस ओर, उस ओर फैल गये हैं। किन्तु हम सभी को एक सूत्र में सम्बद्ध करके रखते हुए वंशधारा, लता के मुख्य अक्षदण्ड की भाँति अविच्छिन्न भाव से बहती जा रही है। मेरी उत्पत्ति, मेरे पिता की उत्पत्ति इस अक्ष को आश्रय करके ही हुई है; 'Mendelism, Emergent evolution' प्रभृति ने इस तत्त्व का नाना रूप से विस्तार किया है। और दृष्टान्त नहीं लेंगे; हाँ वात यह ठहरी कि अक्ष नाम की वस्तु सृष्टि या अभिव्यक्ति-व्यापार में मूल की वात है। अक्ष मुख्य या गौण हो सकता है—लता के दृष्टान्त में, मूल अक्ष के अतिरिक्त प्रशाखाओं के भी छोटे-छोटे अक्ष होते हैं। यहाँ समस्या यह है - जगत् में विचित्र शब्द हैं; नाना जीवों के नाना शब्द हैं; नाना जातियों की नाना भाषाएँ हैं; तुम्हारे-हमारे शब्द भी ठीक एक नहीं हैं; विश्व में इस शब्द-वैचित्र्य की उत्पत्ति—नाना प्रकार की भाषा की उत्पत्ति - क्या किसी अक्ष को आश्रय कर के नहीं हुई है? ध्वनि-वैचित्र्यों की अच्छी तरह खोज-वीन करके देखने पर उनमें क्या हम किन्हीं मूल शब्दों (primaries) का आविष्कार नहीं कर सकते हैं? फूरियार की रीति से गणितविद् चाहे जिस जटिल छन्दोबद्ध गति (complex harmonic motion) को सरल छन्दोबद्ध गति (simple hormonic motion) में पृथक् करके दिखा दे सकते हैं, यह बात आप भूलें नहीं। विराट् शब्द-वैचित्र्य के भीतर हम क्या एक अविच्छिन्न मौलिक शब्द-धारा का आविष्कार करने की आशा कर सकते हैं? लता को खींच कर उसके मुख्य मेरुदण्ड को जिस प्रकार हम ढूँढ कर निकाल सकते हैं, उसी प्रकार? इस प्रश्न का उत्तर है,—हमारा उस प्रकार का आविष्कार कर पाना ही उचित है; एवं वही यदि हो तो यह हमें ध्यान रखना होगा कि शब्द की इस विराट् विश्वरूप मूर्त्ति का जो मेरुदण्ड (axis of generation) है, निखिल शब्द-राशि की जो मूल प्रकृति है, वही वह स्वाभाविक शब्द-प्रवाह, वेदशब्द-धारा, गङ्गा का आविर्भाव है, जिसकी वात हम अब तक दो-तीन दिन से समझने की चेष्टा कर रहे हैं। **'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'*** इस अव्यय अश्वत्थवृक्ष को हम अब तक समझ सके हैं क्या? प्राजापत्य भूमि से हमारी ओर शब्दप्रवाह

* श्रीमद्भगवद्गीता १५.१—अनुवादिका।

उतरा चला आता है, वही 'ऊर्ध्वमूल अधःशाख' यह वृक्ष है। वृक्ष के एक मूलकाण्ड का अवलम्बन करके चारों ओर नाना शाखा-प्रशाखाएं निकल पड़ती हैं, पत्र-पुष्पादि उद्गत हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रजापति के स्वाभाविक शब्दों या बीज-मन्त्रों ने निम्नभूमि (lower plane) में उतर कर आते समय मेरुदण्ड का आश्रय लिया है – उस मेरुदण्ड को आश्रय करके ही निखिल शब्दवैचित्र्य एक महापादप की भाँति विश्व में फैल गया है; वही मेरुदण्ड स्वाभाविक शब्दधारा है, जो गुरुपरम्परा-क्रम से कुछ परिमाण में हमारे पास भी पहुँची है। यह स्वाभाविक शब्दधारा ही सभी शब्दों की प्रकृति या आश्रय है। जो इस अश्वत्थ वृक्ष को पहचान पाया है, उसने वेद को पहचाना है - 'यस्तं वेद स वेदवित्'†। समस्त शब्दों के साथ स्वाभाविक शब्द का सबम्न्ध इसी प्रकार है।

और एक बात है। एक चुम्बक को ले कर परीक्षा करें। वह चुम्बक जिस शक्तिव्यूह (field lines of force) की रचना किये हुए है, हम परीक्षा द्वारा उस शक्तिव्यूह (line of forces) की एक प्रतिकृति अंकित कर सकते हैं। विज्ञानागार में प्रत्येक बालक को इस प्रकार की परीक्षा कर के चुम्बक शक्ति और तड़ित् शक्ति के समावेश या संस्थान का नक्शा आँक डालना पड़ता है। जो नक्शा हम पाते हैं वह उसी शक्तिव्यूह की चाक्षुष प्रतिकृति (visual representation) है। अब देखिए, 'रं' अथवा 'हं' एक-एक बीजमन्त्र हैं। ये एक-एक शक्तिव्यूह की शाब्दिक प्रतिकृति हैं। इस तत्त्व को पहले ही समझा चुका हूँ। किन्तु उस-उस शक्तिव्यूह की एक-एक चाक्षुष प्रतिकृति (visual or optic equivalent) भी रहेगी, जिस प्रकार चुम्बक की रहती है। हम पकड़ सकें या न सकें, वह है ही। चुम्बक के विषय में जैसा है, वैसा ही इस क्षेत्र में भी है; परीक्षा द्वारा उसी चाक्षुष प्रतिकृति को हमें खोज लेना होता है। निष्कर्ष यह कि शब्द की ओर से देखने पर शक्तिव्यूह जिस प्रकार स्वभाविक शब्दरूप में व्यक्त होता है, रूप की ओर से देखने पर वह उसी प्रकार स्वाभाविक 'रूप' के भाव में व्यक्त होता है। शब्द के विषय में जिस प्रकार पारमार्थिक कर्ण, दिव्य कर्ण और भौतिक कर्ण होते हैं, रूप के विषय में भी उसी प्रकार पारमार्थिक चक्षु, दिव्य चक्षु और भौतिक चक्षु होंगे। स्वाभाविक शब्द को हम मन्त्र कहते हैं और स्वाभाविक रूप को हम कहते हैं यन्त्र— जैसे श्रीयन्त्र। वैदिक यज्ञ एवं तान्त्रिक होम

† वही—अनुवादिका।

प्रभृति के अनुष्ठान में जिस प्रकार मन्त्र चाहिए, यन्त्र भी उसी प्रकार चाहिए। मन्त्र और यन्त्र के 'कुसंस्कार' इतनी देर में हम कुछ समझ सके हैं क्या ?

हमने अब तक केवल शुद्ध स्वाभाविक शब्द की आलोचना की। किन्तु स्वाभाविक शब्द के अर्थ को स्थितिस्थापक (elastic) मान कर उसका एक अच्छा खासा श्रेणी-विभाग भी किया जा सकता है। पूर्व प्रवन्ध में इसका उल्लेखमात्र करके छोड़ दिया था, आज भी हमें अवकाश नहीं है। उस श्रेणी-विभाग का एक सामान्य नमूना दिखा कर ही आज भर के लिए क्षान्त हो जाऊँगा। अपरशब्द को लेकर श्रेणी-विभाग करता हूँ।

अपर-शब्द दो प्रकार का है—स्वाभाविक और अस्वाभाविक (artificial)। किसी एक पदार्थ को समझाने के लिए हम अनेक बार यदृच्छा-क्रम से (arbitrarily) किसी एक वाचनिक सङ्केत (vocal sign) का व्यवहार किया करते हैं; जिस सङ्केत का व्यवहार करते हैं, उस सङ्केत का व्यवहार न करके अन्य सङ्केत का व्यवहार करने पर भी चलता; जिस नाम से बुला रहे हैं उस नाम से ही पुकारने का कोई नियत हेतु नहीं है, जिस प्रकार हम किसी व्यक्ति को 'यदु' या 'हरि' इस नाम से बुलाया करते हैं। यह नाम अस्वाभाविक या कृत्रिम या मनगढ़न्त नाम है। कहना न होगा कि हमारे स्वाभाविक शब्द अथवा नाम का जो लक्षण है, वह इन सब क्षेत्रों में नहीं है। नाम को स्वाभाविक होन के लिए पदार्थ की सत्ता और स्वरूप के साथ किसी प्रकार का एक सम्पर्क रखना ही होगा। जो नाम रखा जाए, उसका एक हेतु, अथवा कैफ़ियत रहेगी ही। सुतरां इस प्रकार का नाम हम अपने खामख्याली के अनुसार नहीं दे सकते।

तत्पश्चात्, स्वाभाविक नाम पुनः दो प्रकार का है—निरतिशय और सातिशय; प्रकृत और विकृत (pure एवं approximate)। पारमार्थिक कर्ण में श्रुत शब्दतन्मात्र ही निरतिशय शब्द है; वही शब्द की प्रकृति है। श्रवण-सामर्थ्य की जो पराकाष्ठा नहीं है, कर्ण में इस प्रकार का श्रुत शब्द सातिशय शब्द है, वह थोड़ा-बहुत विकृति-प्राप्त है; बिल्कुल शुद्ध शब्द नहीं है। दिव्यकर्ण और लौकिक कर्ण इस शब्द को सुनने में समर्थ हैं। निरतिशय शब्द की परिभाषा करके छोड़ देने के अतिरिक्त हमारी दूसरी गति नहीं है। सातिशय शब्द का श्रेणी-विभाग हम करते हैं। कोई पदार्थ है, उसका मूलीभूत शक्तिव्यूह समष्टिभाव में (as a whole) दिव्यकर्ण में जो शब्द उत्पन्न करता है, वही शब्द उस पदार्थ की मुख्य (primary) संज्ञा है। यह पदार्थ

का बीजमन्त्र है। जिस प्रकार अग्नि का मुख्य नाम 'रं' है; आकाश का 'हं' है; प्राणन क्रिया का 'हंस' है, इत्यादि। ये सब मौलिक अथवा यौगिक (simple अथवा compound) हो सकते हैं। 'रं' पूर्वोक्त प्रकार का है और 'ह्रीं' वा 'श्रीं' शेषोक्त प्रकार का है। मौलिक बीजों के संयोग या सम्मिश्रण से यौगिक बीज होते हैं। प्रकारान्तर से, पदार्थ के शक्तिव्यूह व्यष्टिभाव में (specifically) आंशिक भाव में, क्रिया करके जो शब्दानुभूति जन्माते हैं, उस शब्द को उस पदार्थ का गौण (secondary) नाम कहा जा सकता है। यह नाम बीजमन्त्र नहीं है। मान लें काक ने आवाज़ की, उसकी आवाज़ सुन कर हम उसका नाम 'काक' रखते हैं; यहाँ जिस शक्तिव्यूह ने काक को 'काक' बना रखा है, उसकी ही एक आंशिक अभिव्यक्ति उसकी आवाज में है; काक का चलना-फिरना, खाना-रहना प्रभृति अपरापर अभिव्यक्ति भी होती है; काक शब्द भी नाना प्रकार से करता है। अतएव हम कह सकते हैं कि 'काक' यह शब्द काक का गौण स्वाभाविक नाम है। और काक स्वयं ही बोलता है, कोई उससे बुलवाता नहीं है, अतएव उसका शब्द स्वतःसम्भूत है। ढाक (ढोल) पर लकड़ी मार कर उसकी आवाज सुन कर उसका नाम रखा 'ढाक'। यह उसका गौण स्वाभाविक नाम है। हाँ, इस क्षेत्र में शब्द स्वतःसम्भूत नहीं है, परतःसम्भूत है। इन दो स्थलों में भी शक्तिव्यूह व्यष्टिरूप से साक्षात् सम्बन्ध में श्रवणेन्द्रिय को उत्तेजित कर रहा है; काक का शब्द अथवा 'ढाक' का शब्द मैं सुनता हूँ और सुन कर नाम रखता हूँ।

किन्तु हमारे अधिकांश शब्द अन्य प्रकार के हैं। अग्नि का मुख्य स्वाभाविक नाम व बीज 'रं' है। किन्तु उसे अग्नि क्यों कहते हैं? अग्नि के ज्वलित होने पर उसकी लेलिहान शिखा एवं कुण्डलाकार में ऊर्ध्वगामी धूम्र हम देखते हैं; इस वक्रगति अथवा आवर्त-जैसी गति को हम समझाना चाहते हैं; वैसा करने के लिये हम 'अग्' धातु का आविष्कार करते हैं, उसके ऊपर यथायोग्य प्रत्यय लगा कर 'अग्नि' शब्द पाते हैं। यह 'अग्नि' शब्द हमारी आँखों देखी अग्नि के एक धर्म अथवा सम्बन्ध का बोध कराता है। केवल 'रं' कहने पर यह धर्म अथवा सम्बन्ध विशेष रूप से सूचित नहीं होता। 'अग्' धातु 'अ' और 'ग्' इन दो वर्णों के समावेश से बनी है; 'अ' और 'ग्' सम्भवतः दिव्य कर्ण में श्रुत गतिविशेष के मुख्य स्वाभाविक नाम के उपादान हैं। प्रत्येक वर्ण एक-एक अर्थ का (योगभाष्यकार के अनुसार निखिल अर्थ का) मुख्य नाम अथवा बीज है; एवं उसके विविध संयोग और संस्थान द्वारा किसी एक पदार्थ का अथवा क्रिया

का मुख्य स्वाभाविक नाम होना विचित्र नहीं है। इस सम्वन्ध में विस्तृत आलोचना अन्यत्र करेंगे। एक धर्म अथवा सम्वन्ध समझाने के लिए 'अग्नि', अपरापर धर्म अथवा सम्वन्ध समझाने के लिये उसी प्रकार 'वह्नि', (हुत द्रव्य को देवता के उद्देश्य से वहन करता है) 'हुताशन' 'वैश्वानर' (विश्वनर अथवा सभी जीवों में पाचकाग्नि रूप में वर्तमान) प्रभृति नाम हैं। काक की आवाज़ के अनुसार ये साक्षात् सम्वन्ध से कान में श्रुत शब्द के अनुरूप नहीं हैं। शक्ति-व्यूह व्यष्टिभाव में चक्षु, त्वक् प्रभृति अपरापर इन्द्रियों को उत्तेजित करके अनेक धर्म और सम्बन्धों का ज्ञान हमें दे पाता है—जैसे अग्नि के दृष्टान्त में वक्रगति प्रभृति का। इस धर्म और सम्वन्ध को समझाने के लिए धातु, उपसर्ग, प्रत्ययादि लेकर हमें एक-एक नाम गढ़ लेना होता है—हम स्वयं ही गढ़ लेते हैं, अथवा परम्परा-क्रम से पा लेते हैं। ये सब भी खूब प्रयोजनीय शब्द हैं। ये भी यथायथ संयोग और संस्थान में समर्थ वेदमन्त्र अथवा तान्त्रिक मन्त्र हो सकते हैं। इस विराट् व्यापार की आलोचना में आज हम प्रवृत्त नहीं होंगे।

वहुत वर्ष पूर्व दिए हुए दो भाषण यहीं समाप्त हुए। वीच में कुछ दिन के व्यवधान से दोनों भाषण दिये गये थे, एवं श्रोतृमण्डली के उभयक्षेत्र में ठीक एक ही न होने के कारण, एक बात बार-बार भी कहनी पड़ी है। जो सतर्क, सारग्राही हैं, वे इन सब पुनरुक्ति, रूपक, आख्यायिका और वहुधा पल्लवित प्रसंगों के वीच भी सार वातों को सहज ही संग्रह कर ले सकेंगे, ऐसी आशा है। आलोच्य विषय दुरूह और नीरस है, उसे यथासम्भव प्राञ्जल और सरस करके उपनीत करने की चेष्टा की गई है। रूपक और आख्यायिकाएँ भी मूल उद्देश्य की ही अनुवादक हैं। वहिर्विज्ञान-विद्या वर्तमान शतक में तेजी से अग्रसर हुई है और हो रही है। जिस वैज्ञानिक ढाँचे में ऊपर की ये दो चर्चायें हुई थीं, वह ढाँचा भी कुछ-कुछ बदल गया है, किन्तु साधारण रूप से कहा जा सकता है कि हमारे आलोचित सिद्धान्त के साथ विज्ञान-विद्या की (जड़, प्राण और मानस क्षेत्रों में) 'सहयोगिता' एवं मैत्री बढ़ ही रही है, घट नहीं रही है। प्राचीन आध्यात्मविज्ञान एवं नवीन पदार्थ-विज्ञान अव सर्वथा विभिन्नमुखी (divergent) नहीं हैं, तथ्य, तत्त्व, लक्ष्य, पद्धति - सब ओर ही व्यवधान क्रमशः छोटा होता जा रहा है। 'नैमिषारण्य' और 'लेवोरेटरी' का मिलन अव अवास्तव स्वप्न नहीं है। मिलन न होने पर जगत् का कल्याण नहीं है। इसीलिए मिलन के लिए दोनों ओर से आग्रह और प्रस्तुति आवश्यक है। अथच, अपने मौलिक स्वातन्त्र्य और शुद्धि की रक्षा कर के ही मिलन को घटित करना

होगा। कोई भी किसी का 'तल्पिवाहक' (पालकी उठाने वाला) बनेगा तो नहीं चलेगा। भारत की स्वाधीनता के आरम्भ से ही 'समर्थ' मिलन-मन्त्र उच्चारित होगा, ऐसा लगता है। उसके लिए, स्वाधीन भारत को अपने 'स्वभाव' में प्रतिष्ठित, समर्थ रहना होगा। 'लेबोरेटरी' को भी अपने सत्यानुसन्धान के 'ऋत' को स्वभाव में रखकर ही शिव और सुन्दर के साधन और उपलब्धि में प्रवृत्त होना पड़ेगा।

अन्त में और एक बात। पूर्व की चर्चा से "स्वाभाविक शब्द" को सभी लोग अपनी पहुँच के बाहर एक 'कल्पित पराकाष्ठा' (theoretical possibility or limit) समझ कर छोड़ न दें। निरतिशय श्रवण अथवा उच्चारण-सामर्थ्य में ही शब्द का श्रेष्ठ सामर्थ्य है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु वह सामर्थ्य हमारे भी अर्जन की वस्तु है। उसका साधन ही जपादि है। प्रधानतः वाग्-यन्त्र अथवा श्रवण-यन्त्र का अभ्युदय-साधन करके यह सिद्धि अर्जित नहीं होती। जैसे गुणी तानसेन की संगीत-साधना में सिद्धि केवल गले की कसरत के हिसाब में नहीं है। देह, प्राण और मन -- इन तीन को लेकर एक यन्त्र है। सुतरां साधन का उद्देश्य है -- इन तीनों (देह, प्राण, मन) का श्रेष्ठ भाव से योग्यता-संपादन। इसके लिये बहुत कुछ आध्यात्मिक सम्पदा का अनुशीलन आवश्यक है। श्रद्धा, भाव-भक्ति, विशेषतः प्रेम। क्योंकि यन्त्र को शुद्ध, एकतान, उन्मुख, एकाग्र करने में, सनातन गङ्गा प्रवाह को अपने आधार पर धारण करने में—इन सबके समान और क्या है ?

———

स्वाभाविक रूप अथवा यन्त्र

इस नाम से भी दो भाषण बहुत वर्ष पूर्व दिए गए थे, एवं एक प्रकाशित भी हुआ था। दूसरा, सम्भवतः प्रकाशित नहीं हुआ है, एवं उसकी पाण्डुलिपि भी अब दुर्लभ है। जो प्रकाशित हुआ था वही, प्रायः उसी रूप में, यहाँ सन्निवेशित है। 'यन्त्र' का रहस्य क्या है, यह समझने के लिए इसकी उपयोगिता कुछ हो सकती है। जपादि के साधन में मन्त्र के समान यन्त्र का भी उपयोग है।

जिस 'वैज्ञानिक ढाँचे' को सामने रख कर बहुत दिन पहले यह चर्चा हुई थी वह ढाँचा अब ठीक वैसा नहीं है। मूर्त पदार्थों के क्षेत्र में वह 'ढाँचा' अब नवीन 'शक्तिकणावाद' आपेक्षिकतावाद (सामान्य और विशेष), केन्द्रीण विज्ञान (Nuclear Physics) मौलिक ऊर्मिविज्ञान (Wave Mechanics), सम्भाव्यता-अनिश्चयतावाद (probability-cum-uncertainty), व्योम-विज्ञान (Astral Physics) इन सब विभिन्न "अवयवों" में विभक्त होकर उन्हें परस्पर सुसमञ्जस करने का प्रयत्न कर रहा है। हिसाब (calculation) और परीक्षा (experiment) दोनों ओर से ही प्रयास चल रहा है। पूर्ण समन्वय अभी नहीं हो पाया है। किन्तु वह (प्रयास) जितनी दूर अग्रसर हो चुका है, उससे आशा है united field physics अब सुदूरवर्ती आदर्शमात्र नहीं रह सकता। हाँ, 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' —अतर्कित 'अन्तराय' दिखाई देकर हिसाब को उलट-पलट कर दे यह भी विचित्र नहीं है। इस विश्व को हमारी बुद्धि के दरबार में बेढब बनते कितनी देर लगती है; जभी ऐसा सोचते हैं कि अब शायद काम ढर्रे पर आ गया है, तभी न मालूम कहाँ से सब कुछ व्यर्थ कर देने वाला कोई आकर हाजिर हो जाता है। जो कुछ भी हो, पदार्थ-विज्ञान अध्यात्म-विज्ञान के साथ मैत्री करने की ओर अग्रसर हो रहा है—यह निःसंशय रूप से मानने का समय आ गया है। 'मन्त्र' 'यन्त्र' प्रभृति की जो 'वैज्ञानिक' भित्ति है, वह भित्ति दृढ़तर ही हो रही है। विज्ञान परीक्षा-समीक्षा में जो यन्त्र व्यवहार करता है, उसका नाम apparatus अथवा instrument है। अन्वीक्षा अथवा विचार के क्षेत्र में वह (विज्ञान) बुद्धि (logic) का जो विशेष यन्त्र व्यवहार में लाता है, उसका साधारण नाम है गणित—Calculus। इन दो प्रकार के यन्त्रों की सहायता से विज्ञान

सृष्टि के सर्वावयव (क्या अणु क्या महान्) में जो मौलिक यन्त्र है, उसे ही पकड़ने की चेष्टा कर रहा है। यन्त्ररूप कहने से तीन को ही समझना होगा-- आकृतिरूप (form pattern), क्रियारूप (function pattern) एवं शक्तिरूप (force or power pattern)। अणु के भीतर नाभि, अर, नेमि—इन तीनों का सन्धान बहुत दिन से मिल चुका है। सम्प्रति 'नाभि' अथवा केन्द्रनिष्ठ जो यन्त्र है, उसी में अधिक मनोयोग है। फलतः नाभि में महाशक्ति-व्यूह का आविष्कार और प्रयोग भी सम्भावित हुआ है। उस प्रयोग ने हमें वर्तमान में आश्वस्त नहीं किया है, सन्त्रस्त किया है। जो कुछ भी हो, सूक्ष्म के दहराकाश में विन्यस्त यह विपुल शक्तियन्त्र ही असली बात है। उस यन्त्र की एक प्रतिकृति (graphic representation) आँकने की चेष्टा भी न होती हो ऐसा नहीं है। किन्तु प्रतिकृति निर्धारित नहीं हो पायी है। उस प्रतिकृति के हमारे 'कल्पनायोग्य' (picturable) न होने पर भी क्षति नहीं है। पूर्व शतक में लार्ड केल्विन् की भाँति हम ऐसा हठ अब नहीं करते— कि किसी भी 'तथ्य' के वास्तविक होने के लिए उसका एक 'यांत्रिक आदर्श' (mechanical model) बना सकना हमारे लिये आवश्यक है। mechanical क्यों, mental image की भी बला अब वैसी नहीं है। रादरफोर्ड का आणविक ढाँचा अब सब ओर पूरा उतरने में अयोग्य है। फिर भी इतना सही है कि अणु की नाभि में एक शक्तिव्यूह रूप है ही। वह व्यूह ठीक कैसा है, यह भले ही अभी हम न जान सके हों।

अध्यात्मविज्ञान की दृष्टि से ऐसा लगता है—जिसे अणु की नाभि समझते हैं, वह भी उसके बाहर का ही खोल—disposition of crustal or shell forces है। मूल से सृष्टि की धारा ने यहाँ उतर कर मानो अपनी व्यक्त शक्तिराशि को 'जमा' करके रखा है; भीतर में प्राण रूप से, मन रूप से, चैतन्य और आनन्द रूप से शक्ति के 'अन्तर्भवन' अपनी-अपनी स्वाभाविक भङ्गी में (अर्थात् यन्त्र में) सजे हुए हैं। उन सबका सन्धान अभी भी हमें नहीं मिला है। क्रमशः, अन्य उपाय से, मिलेगा। क्योंकि जड़यन्त्र को आयत्त में लाने का जो उपाय, जो कौशल है; प्राणादि के यन्त्र को आयत्त में लाने का ठीक वह उपाय, वह कौशल नहीं है। उसकी विद्या (technique) अलग है। उस विद्या को अध्यात्म-विज्ञान से पाना होगा।

विराट् के क्षेत्र में भी, space की सान्तता, वक्रता, वस्तु और वक्रता का सम्पर्क, स्थूल विश्व की वर्धिष्णुता—इत्यादि विराट् के आलेख्य को भी कल्पना

की सीमा से बाहर ले जा रहा है। हाँ, अन्वीक्षा में पदार्थसमन्वय और संगति की सुविधा ही हो रही है, ऐसा लगता है। विराट् का भी निश्चय ही एक 'यन्त्र' रूप है—आकृति, क्रिया एवं शक्ति-विन्यास इन तीनों रूपों में। वह रूप कल्पना द्वारा आँकने योग्य न होने पर भी है तो सही। जैसे हिसाब में अत्यन्त जटिल हो जाने से अथवा परीक्षा की 'धुलाई' में न टिक पाने से पहले वाले 'ईथर' को हमने छोड़ दिया। किन्तु स्वगत-संस्थान-विशिष्ट Space (intrinsic geometry of space) ने विराट् की जो यन्त्रमूर्ति है, उसे नूतन करके दिखा दिया। यन्त्र द्वारा ही मध्याकर्षणादि (gravitation) की व्याख्या उसने की है। आलोक के गतिवेग को ध्रुव-संख्या मानकर विश्व का सब कुछ 'समीकरण' में लग गया। काल्पनिक संख्या (i) सब मौलिक गिनाई (जैसे हाईजनवर्ग-समीकरण) में प्रविष्ट हो गई। इससे ठीक ही हो रहा है, ऐसा लगता है। यन्त्र कह रहा है कि अब वह यन्त्र 'यान्त्रिक' (mechanical) नहीं रहेगा और मानसिक (mentally picturable) भी नहीं रहेगा। ठीक ही कह रहा है। मूल में जो आद्याशक्ति हैं, वह यदि अनन्त चिच्छक्ति लीलाशक्ति हों, तब किसी 'वस्तुतान्त्रिक' खोल में उस शक्ति को भरेगा कौन? 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्'†—सर्वत्र सर्वतोभाव से प्रविष्ट होकर भी वह सब का अतिक्रम करके जो रहती हैं! उनके 'एकांशेन स्थितं जगत्'*। अतएव यन्त्र के सम्बन्ध में हमारी समस्त विवृति - अधिक से अधिक नैकटिक (approximate) है। हाँ, मूल यन्त्र कैसा है—इसका अनुसन्धान चलेगा ही। पदार्थ-विज्ञान में वह जितना दूर चले, चला करे। प्राण और मनोविज्ञान में चाहे जितनी दूर चले। यहाँ भी पहले की अपेक्षा आग बढ़ आये हैं ऐसा लगता है, किन्तु अन्तिम लक्ष्य के पास भी अभी नहीं फटक पाये हैं।

यह बात ध्यान में रखनी होगी कि यह मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र का 'कु-संस्कार' मनुष्य का आदिमतम संस्कार है। सभी देशों में, सभ्य, असभ्य सभी मानव-गोष्ठी में यह संस्कार बद्धमूल था। 'मैजिक' (जादू) कह कर उड़ा देने से भी तो नहीं चलेगा। 'मैजिक' गम्भीर रूप से विवेचित होने योग्य प्रतीत हुआ

---

† सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्। (ऋग्वेद—पुरुषसूक्त, प्रथम मन्त्र)—अनुवादिका।

* श्रीमद्भगवद्गीता १०.४२—अनुवादिका।

हैं। आदिम पर्वत-गुहा-गात्र में भी 'यन्त्र' थे, मिस्र-बेबिलोन-मोहेञ्जोदड़ो में भी 'यन्त्र' थे। वैदिक यज्ञ में, तान्त्रिक अनुष्ठान में भी 'यन्त्र' थे। और, वतमान सभ्यता तो 'यन्त्र'-सभ्यता ही है। यह यन्त्र क्या छोड़ देने योग्य है? इसकी मूल बात ठीक से समझ लेनी होगी। वह मूल बात केवल साधन-विशेष की घरेलू बात नहीं है; वह बात स्थूल से ही आरम्भ करनी पड़ती है अवश्य, किन्तु 'एहो बाह्य आगे कहो आर'*—इस प्रकार भीतर आगे बढ़ना होगा। जितना गहरे जायेंगे, उतना 'स्वाभाविक' और 'समर्थ' यन्त्र का सन्धान पायेंगे। जड़ विज्ञानादि थोड़ी दूर तक 'गाइड' का काम भली-भाँति करेंगे। किन्तु उसके बाद ? अध्यात्मयोग में ही आश्रय लेना होगा। उससे बहिर्विद्या का पूरण भी होगा, मार्जन भी होगा।

भाषण साधारण श्रोतृमण्डली को उद्देश्य करके देने की बात थी। भाषा और भङ्गी इसीलिए कुछ 'फेनिल' हैं। सतर्क सारग्राही जन असहिष्णु न होंगे। फेन में भी दैवयोग से दो एक सीपी मिल सकती है। सावधानी से खोल कर देखिएगा--उसमें क्या है, क्या नहीं है।

एक-न-एक चेहरा हम सभी लोग एवं सृष्टि के सभी पदार्थ पहन कर बैठे हुए हैं। चेहरा अर्थात् ऐसी एक व्यवस्था, जिसके फल-स्वरूप हम कोई भी अपने ठीक स्वाभाविक रूप को नहीं जान पा रहे हैं; जो रूप जानते हैं वह भी पूरा-पूरा नहीं। इस व्यवस्था के फल से ही हमारे लिए रूप देखा और अदेखा सच्चा व झूठा, खुरदुरा और चिकना—इन सब प्रकार का बना हुआ है। संसार-व्यवहार की खातिर ही शायद ऐसी व्यवस्था हुई होगी। हमें व्यावहारिक या कारोबारी जीव होने का क्या प्रयोजन था—यह प्रश्न पूछने पर "यह उसी मूल कारोबारी की लीला है" यह कहने के अतिरिक्त अधिक स्पष्ट करके कहने का कोई उपाय नहीं दिखाई देता। इस लीला का कहाँ आदि है, कहाँ मध्य है, कहाँ अन्त है—इस प्रश्न का उत्तर देने जायें तो हमें किसी वृत्त की परिधि का सिरा खोजने जाने की भाँति मुश्किल में पड़ जाना होगा। एक साँप

* श्रीचैतन्य महाप्रभु का राय रामानन्द के साथ जो संवाद 'श्रीचैतन्य-चरितामृत' (मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद) में उल्लिखित है, उसमें 'साध्य' के विषय में महाप्रभु के प्रश्न के उत्तर में राय रामानन्द जो कुछ कहते हैं, उसके प्रत्युत्तर में महाप्रभु का यह वचन प्रसिद्ध है—"यह बाह्य है, आगे और कहो"।

अपनी पूँछ को मुँह में डाल कर गोल होकर पड़ा है; कौन सा उसका मुख है और कौन सी पूँछ है, यह तय करने का मानो कोई उपाय नहीं—यही मानो इस दुनिया की व्यवस्था का चेहरा है। प्राचीन लोग जिन सब साङ्केतिक रूपों अथवा यन्त्र का व्यवहार करके हमें इस अजब दुनियादारी का हाल समझाना चाहते थे, उन सब में, मैंने ऊपर साँप का जो चित्र अंकित किया है, वह भी एक अन्यतम प्रसिद्ध यन्त्र है। इस संकेत के बीच शायद और भी गूढ़ रहस्य छिपा है। मैंने एक ऊंपर का परदा थोड़ा सा हटा कर आप लोगों को रहस्य का सीधा-सीधा रूप मात्र दिखाया है। स्वस्तिक, पद्म, चक्र, प्रभृति के सम्वन्ध में भी यह बात है। साधारणतः 'यन्त्र' (mystic diagram or apparatus) तीन प्रकार के हैं—(१) वास्तव (realistic), (२) साङ्केतिक (symbolic), एवं (३) तात्त्विक (ideal)। इन तीनों के मूल में रहता है मौलिक (basic) अथवा स्वाभाविक यन्त्र। पूर्वोक्त तीनों के और अवान्तर भेद हैं। जैसे वास्तव यन्त्र (क) कारणीभूत जो शक्तिविन्यास है उसका आधार अथवा प्रतिकृति; अथवा (ख) कार्याभिव्यक्ति की प्रतिकृति इत्यादि हैं। जो कुछ भी हो, आप लोग असली वातों का ख्याल रखियेगा। मैं समझता हूँ कि मेरे देखे हुए पेड़ के पत्तों का हरा रंग और विचित्र चेहरा वाहर 'ईथर'-सागर में (पहले का वैज्ञानिक ढाँचा ही ले रहा हूँ)—अणु-परमाणु के राज्य में एक छन्दोवद्ध नृत्य अथवा उत्तेजना का फल है। वाहर एक शक्ति का खेल हो रहा है, वह शक्ति का खेल मेरे 'रेटिना' (नेत्रान्तःपटल) स्नायु, मस्तिष्क और मन को चेता कर मुझे जिस प्रकार प्रतिभात हुआ, मेरे लिये वही पत्ते का चेहरा और रंग है। वाहर 'ईथर' के स्थान-विशेष में इस प्रकार के शक्ति के विन्यास और विलास को हमने अन्यत्र शक्तिकूट अथवा शक्तिव्यूह कहा है। अनेक वैज्ञानिक आजकल 'ईथर' मानने को राजी नहीं हैं। यहाँ तक कि अन्त तक अणु-परमाणु मानने में भी 'नीम-राजी' या 'गैर-राजी' हैं। किन्तु किसी भी वैज्ञानिक का शक्ति के विना चलता है क्या? शक्तिकूट तो चाहिये ही। वैज्ञानिक मात्र ही 'शाक्त' होते हैं। हम इस देश में आजकल देखें या न देखें, वे देखते हैं कि वस्तुमात्र में ही शक्ति-मूर्ति या शक्ति-विग्रह है। हमारे प्राचीन लोग शैव भी थे; वस्तु मात्र को ही (केवल जीव को ही नहीं) शिव-विग्रह अथवा सच्चिदानन्द-विग्रह रूप में वे देख गए हैं। प्रत्येक वस्तु को ही (एक धूलिकण हो या इन्द्र-चन्द्र हों) वे शक्ति और शिव इन दो रूपों में देखते थे; प्रत्येक पदार्थ की शक्तिकूट मूर्ति एवं शुद्ध निरञ्जन 'शान्तं शिवमद्वैतं' मूर्त्ति वे पास-पास रख कर एवं अभिन्न करके देखते थे; पदार्थ का यही अपरूप रूप

उनकी दृष्टि में युगल अथच अभिन्न अर्ध-नारीश्वर-मूर्ति है। वैज्ञानिकों ने शक्तिमूर्ति को देखना शुरू किया है। उस युग के वैज्ञानिकों के आम वकील दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर ने इस मूर्ति को एक विराट् Inscrutable Power (अचिन्त्य शक्ति) कह कर प्रणिपात भी किया है; किन्तु अभिन्न युगलमूर्ति, यह अर्धनारीश्वरमूर्ति अभी भी वैज्ञानिकों की दृष्टि में प्रकट नहीं हुई है। किन्तु कुछ सब्र कीजिये, देरी भी शायद अधिक नहीं है; एडिंग्टन, जिम्स प्रभृति जिन्होंने विज्ञान की तरफ़ से नई वकालत की है, वे इस महाशक्ति को 'जड़' अथवा अज्ञेय समझने की अपेक्षा चेतन बुद्धिशक्ति समझने की ओर ही अधिक झुके हैं। प्राचीन लोग केवल इस प्रकार शाक्त-शैव ही थे ऐसा नहीं, वैष्णव भी थे। निखिल पदार्थ के बीच जो अद्वैत स्वरूप कहीं कुछ व्यक्त, कहीं प्रायः अव्यक्त भाव से रहता है, वह केवल शिव, शान्त, शुद्ध हो—ऐसा नहीं है; वह ह रस, वह है आनन्द, वह है सुन्दर, वह है मधुर। नारियल का छिलका चबाने में व्यस्त रह कर उसके भीतर के रस का सन्धान हमने नहीं रखा। भोग के स्थूल रूप को भोग कर हम सुख के साथ-साथ बहुत कुछ व्यथा पाते हैं, तृप्ति के साथ-साथ बहुत कुछ खेद वक्ष के भीतर भर लेते हैं। वस्तु का सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बिल्कुल भीतर का वह मर्म का रूप यदि हम वक्ष में रख सकते तो देखते कि वह निविड़ घन-रस-स्वरूप है; विश्वभुवन के महाव्रज में किसी नीप-कुञ्ज में छिप कर अपनी मुरली की ध्वनि से सबका मन-प्राण आकर्षण कर रहा है; सब की मर्मवासिनी नित्य-रस-पिपासा को विरह-विधुरा गोपिकाओं की भाँति अपने अन्वेषण में इस चराचर मधुवन में अभिसारिका बना कर उसने भेजा है। सब का मर्मस्थलवासी अथच सबके मन को आकुल करने वाला यह जो निविड़-घन-रस-स्वरूप है, वही कृष्णरूप है। उस रसस्वरूप कृष्ण-रूप के पीछे पागल केवल जीव वा प्राणी ही हों, ऐसा नहीं है; इस महाव्रज में कोई भी ऐसा एक रजस् वा धूलिरेणु भी नहीं है, जो उन व्रज-सुन्दर के 'दरस-परस' के लिए कंगाल नहीं बना हुआ है। सच बात है। प्रत्येक 'एटम' अथवा अणु के भीतर एक लीला, एक रसानुभूति और रसान्वेषण चलता है, जिसकी खबर गतिविज्ञान (dynamics) के बड़े-बड़े equation (समीकरण) या formula (सूत्र) को नहीं मिली है; इसीलिए पदार्थविद्या ने अभी उस दिन तक पदार्थ को पुतली या कल (यन्त्र) बना छोड़ा था, किन्तु इस बीसवीं शताब्दी में पदार्थविद्या का दम्भ टूटना शुरू हो गया है—नहीं क्या? उस विद्या के भवन के फर्श के नीचे किसी अज्ञात 'सुन्दर' के द्वारा सुरङ्ग खोदे जाने का शब्द अभी से सुनाई दे रहा है, एवं आघात

के कम्पन के साथ-साथ गर्विणी विद्या का भी हिया इसी बीच थर-थर काँपने लगा है। ऐसा लगता है कि इस बार जड़ विद्या का कुल, शील, मान सभी टूट जायेगा। सो जाय तो भले जाय,—जिस दिन इस विद्या-सुन्दर का मिलन होगा—पश्चिम की पदार्थविद्या निखिल पदार्थों में ओत-प्रोत रस और आनन्द के लीला-विलास का सन्धान पाएगी—उस दिन 'बलिहारी' जा कर पुराने पद-कर्त्ताओं के सुर में सुर मिला कर हम भी गायेंगे—'ननदिनि, बोलो नगरे, डूबेछे राई राजनन्दिनी आज कृष्ण-कलङ्क-सागरे' ('हे ननद ! नगर में कह दो कि राजनन्दिनी 'राई' यानी राधा आज कृष्ण-कलङ्क-सागर में डूब गई हैं।') कृष्ण-कलंक-सागर ही तो निविड़-घन-रस-सागर है। उस कलंक में कलंकिनी होने की साध तो सभी को है। उस रस से वंचित होना कौन चाहेगा ? और श्रीराधा ! वे इस निविड़ घन-रस की ही लीला-मूर्त्ति हैं; जो लीला करते समय अपने विश्व-भुवन-मय-स्वरूप ह्लादिनी शक्ति की विचित्र भङ्गिमा में उछली पड़ रही हैं। इसीलिये वे व्रज-विलासिनी हैं; जिन्होंने लीला करते हुए विश्व के विविध व्यवहार की गण्डी में स्वयं को स्वेच्छा से बाँध लिया है; अज्ञान के घर में जटिला-कुटिला का गृहिणीत्व संभाल कर वहू बनी बैठी हैं; व्यावहारिक जीव के छोटे-मोटे घर में घरनी बनी हुई हैं; उसके रस वा आनन्द के व्यावहारिक कूप वा गर्त्त को भरे हुए हैं। ऐसा क्यों न समझ लें कि जटिला-कुटिला अविद्या और भेद वा द्वैतदृष्टि हैं। अविद्या दुर्ज्ञेया, गहना, अनिर्वचनीया, अघटनघटनपटीयसी है; इसीलिये जटिला है; व्यवहारी जीव को उसने गर्भ में धारण किया है। और भेद-दृष्टि बड़ी ही मुखरा है। लगाना-तोड़ना (चुगलखोरी से सन्धि-विग्रह) उसका स्वभाव है। वह जीव की सहोदरा है। जीव के साथ-साथ रहती है। उसे अंगुली से लगा कर घूमती है। जीव के पक्ष में भी इस सास-ननद के घर में जो रसमयी रसिका वधू होकर गृहिणी बनने आती हैं, उन्हें उठते-बैठते लांछना मिलती है; उन्हें तीक्ष्ण खाँड़े की धार पर वास करना पड़ता है, जो हिलते ही काट डालेगी। किन्तु मेरे अन्तर में जटिला-कुटिला के शासन में जो रसिका, जो ह्लादिनी शक्ति की एक कणिका वधू बन कर घर सँभाल रही हैं, उन्हें तो किसी भी प्रकार मेरे भीतर ही समाप्त होकर, निश्चिन्त और चरितार्थ होकर रहने का उपाय नहीं है ! किसी गण्डी (सीमा) में भी उसे बाँध कर रखने का पथ नहीं ! जो व्रज-विलासिनी हैं उन्हें अज्ञान की घरनी होकर रहना क्योंकर चलेगा ? समस्त विश्व-भुवन में ओत-प्रोत जो रस वा आनन्द है, जिससे सकल सृष्टि की प्रेरणा

सकल गति का आवेग आ रहा है, उस रूप वा आनन्द के सागर से विच्छिन्न होकर सम्पर्कशून्य होकर मेरे अन्तर की रसधारा रह सकती है क्या ? मेरे अन्तर की रस-कणिका 'रसो वै सः' के लिए उतावली हुए विना रह सकती है क्या ? व्रज वा विश्व के अभ्यन्तर में बहने वाली जो विपुल रसधारा है, वही तो यमुना है। मेरे अन्तर की वधू को इस यमुना से जल लाने के लिए साँझ-सवेरे जाना ही पड़ता है। मेरे रस का कलश लेकर वह इस विश्व के विचित्र रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, भाव, वेदना की नाना भंगियों से तरङ्गायित यमुना का जल भरने न जाय तो चलता जो नहीं है। जल लेने जाकर 'विधि जे बड़ोई साधिलो वाद' (विधि ने बड़ा ही'वाद' या रार ठान लिया है—विधि मेरे बड़ा ही विपरीत हो रहा है) ऐसा कहती है। यमुना के घाट पर जाकर मेरी रसमयी अपने उस स्वाभाविक रूप, निविड़ घन रस-स्वरूप का सन्धान शनैः शनैः पाया करती है। पहले वाँसुरी के सुर से परिचय होता है, तब उस परिचय के भीतर से जीव की रसात्मिका, रागात्मिका वृत्ति का अपने ही नित्य, पूर्ण, स्वाभाविक रूप अर्थात् कृष्ण की ओर पूर्वराग होता है। इस पूर्व-राग से शुरू करके क्रमशः व्रज की सब लीलायें होती हैं; इसकी साधिका और सहायक गोपी और ग्वाल साथ-साथ हैं। जिनकी यह लीला है, उनकी मुरली-ध्वनि से, कहते हैं कि यमुना उल्टो बहती हैं। विश्व की रसधारा वह कर केवल विशेष नाम-रूप में व्यवहार की गण्डी (सीमा) के बीच अपने को कृपण और कुण्ठित कर डालती है; जो चिर-पूर्ण मधुर हैं, उनका आकर्षण अन्तर में समझ पाने पर यह 'अधःस्रोतः' 'ऊर्ध्वस्रोतः' हो जाता है; 'धारा' उलट कर 'राधा'-भावानुगा हो जाती है। अरसिक हम लोग —इस अपूर्व रसतत्त्व को समझने वाला प्राण हम में कहाँ है ? पश्चिम के वैज्ञानिकों ने निखिल वस्तुओं की आड़ में शक्तिमूर्ति को इसी वीच कुछ-कुछ देखा है; किन्तु यह शक्ति स्वरूपतः शिव और रस से अभिन्न है, यह बात वे लोग अभी भी पकड़ नहीं सके हैं। इसी-लिए स्वाभाविक रूप का जो चरम वा परम भाव है, जिस भाव को पकड़ पाने पर स्वयं श्रुति की आश्वास-वाणी है 'अपाम सोमममृता अभूम'* उस भाव के स्तर पर अभी तक विज्ञान नहीं चढ़ सका है। किन्तु न चढ़ सके, जितना सा चढ़ा है, उतने से में ही उसकी शक्ति-यन्त्र में दीक्षा हो गई है। आप लोग घबड़ाइयेगा नहीं, समय आने पर विज्ञान का 'पूर्णाभिषेक' भी होगा। 'कारण'

---

* अथर्वशिरउपनिषत् ३। अनुवादिका।

में पक्षपात तो उसका है ही, साक्षात् शक्ति-स्वरूप 'कारणानन्द' के आस्वाद से वह और कितने दिन वंचित रहेगा ?

पेड़ के एक हरे पत्ते की परीक्षा करते हुए हमने इतनी बातें लपेट लीं, इसकी कैफ़ियत हमें आज भी देनी होगी क्या ? हरा पत्ता ही हो, धूलि-कण ही हो या जीव ही हो प्रत्येक वस्तु ही, गहराई में उतर कर देखने से एक-एक शक्ति-विग्रह (system of forces), अथवा एक शब्द में stress system है। इस बात में विज्ञान का सम्पूर्ण अनुमोदन है। गहराई में देखने पर नाद, बिन्दु, कला भी मूल में स्पन्द हैं। इस मूल स्पन्द का स्थूल स्पन्दन-रूप भी विज्ञान-सम्मत है। और भी गहराई में देखने पर वह शान्त, शिव, अद्वैत मूर्ति है, योगी लोग समाधि में सच्चिदानन्दघन रूप में जिसे प्रत्यक्ष करते हैं। यहाँ पत्ते में, मुझ में और धूल में कोई भेद नहीं है। यह निर्विशेष निरंजन सत्ता है। रसिक लोग इस परम सत्ता को रस के रूप में और रस के विलास के रूप में, लीला के रूप में, प्राण में अनुभव करना पसन्द करते हैं। शहनाई बजाते समय एक जना केवल 'पों' पकड़ कर बैठा रहता है, दूसरा जना उसी के ऊपर नाना परदों में राग-रागिनी का अलाप करता है। किन्तु दोनों ही स्वरूप में 'सुर' हैं। ज्ञानी की निरञ्जन सत्ता शहनाई की 'पों' है, रसिक का राधा-कृष्ण-लीलाविलास उस 'पों' के ऊपर नाना सुरों में मनोहारी करतब है। पश्चिम के विज्ञान ने जिस शक्ति-रूप को देखा है या देख रहा है, उसकी आड़ में भी ऐसी ही शहनाई की 'पों' और करतब की आलापचारी चल रही है। उस आलापचारी को सुनने के लिये कान अभी भी 'तैयार' नहीं हुआ है।

जो कुछ भी हो, हरे पत्ते पर ही लौट आइये। इस चर्मचक्षु से पत्ते को मोटा-मोटी एक प्रकार से मैंने देखा है। आप की आँख यदि अधिक अच्छी हो तो आप मेरी अपेक्षा और भी भली प्रकार देखेंगे। एक magnifying glass (अणुवीक्षक काँच) लेकर परीक्षा करें। पत्ते में पहले जो कुछ नहीं दिखाई दिया था, वह अब कुछ-कुछ दिखाई देने लगा है; कितनी सूक्ष्म-सूक्ष्म शिरायें, कितने छोटे-छोटे दाग, कितने छोटे-छोटे प्राणियों के समूह उस पत्ते पर हैं, इत्यादि। अधिक प्रबल अणुवीक्षण होने पर और भी बहुत कुछ अनदेखी चीज़ें उसमें दिखाई देती हैं। हमारे विश्व-विश्रुत आचार्य जगदीशचन्द्र वसु ने अपने 'क्रेस्कोग्राफ़'—प्रभृति यन्त्रों की सहायता से पेड़-पौधों, लता-पत्तों में ऐसे सूक्ष्म व्यापार चक्षु-प्रत्यक्ष द्वारा दिखाये थे कि जिन सबको देखने की कल्पना भी हमें किसी काल में नहीं थी। एक-आध मिनट में पौधा कितना

वढा; थोड़े से विष-प्रयोग से अथवा अन्य प्रकार की उत्तेजना से उसमें कहाँ कितनी-सी क्रिया-प्रतिक्रिया हुई; ये सव व्यापार इतने सूक्ष्म हैं कि इन्हें लाखों गुना वढ़ाकर न देखने पर ये चक्षु-गोचर नहीं हो सकते। अथच यन्त्र की कृपा से ये सव अतीन्द्रिय घटना हम लोग देख पाते हैं। किन्तु यहीं पर शेष है क्या ? पत्ते के प्रत्येक जीवनकोश वा 'cell' को भले ही मैंने अणु-वीक्षण की सहायता से परख लिया; किन्तु जिन सव यौगिक अणुओं (molecules) की संहति अथवा संघात से एक-एक cell (कोश) का दाना गठित हुआ है, उस molecular (आणविक) मसाले को हमें कौन दिखायेगा ? रासायनिक परीक्षा ? रासायनिक परीक्षा molecular (यौगिक अणुओं का) हिसाव निकाल देती है, जमा खर्च खतिया कर हमें समझा देती है; किन्तु किसी भी रासायनिक प्रयोगशाला में जल के एक molecule अथवा कार्वोहाइड्रेट के एक molecule को मैंने कभी भी आँख से नहीं देखा है। एक बूँद जल में इतने molecule हैं कि उनका हिसाव देने वैठें तो एक-एक तारा के दूरत्व की वात याद आ जाती है, जिन सव तारागण से प्रकाश एक सेकण्ड में प्रायः दो लाख मील की गति से दौड़ता हुआ हमारे पास हज़ारों वर्षों में आकर पहुँचता है। इसीलिये मैं कह रहा था कि अणुवीक्षण से हम पत्ते का थोड़ा सा अनदेखा अंश-मात्र देख पाते हैं, पूरा नहीं।

किन्तु मान लीजिये कि एक आदर्श अणु-वीक्षण लेकर मैंने देखना शुरू किया, यहाँ तक कि 'इलेक्ट्रॉन-माइक्रोस्कोप' भी उसके सामने हार मानता है। पत्ते के सभी molecule (यौगिक अणु) अव मुझे दिखाई देने लगे। किन्तु पत्ते के ये सव सावयव, परिमित, परिच्छिन्न, जटिल, सूक्ष्म और 'अनिष्ठ' अंश ही क्या चरम हैं ? और इन्हें देखना ही क्या चरम देखना है ? ऐसा तो नहीं है। वैज्ञानिक एक molecule (यौगिक अणु) को तोड़ कर उसके देह का मसाला यानी atom (अणु) समूह मुझे दिखायेंगे; अवश्य ही आँख से नहीं, यन्त्र से भी नहीं,—हिसाव से, लेखे-जोखे से। पत्ता जिस प्रकार molecules (यौगिक अणु) की संहति व संघात है, उसी प्रकार molecule (यौगिक अणु) भी atom (अणु) का संघात है। संघात का अर्थ है व्यूह। atom वा molecule की इस प्रकार की व्यूह-रचना परस्पर शक्ति-विन्यास का फल है। परस्पर यानी एक दूसरे की शक्ति-द्वारा विधृत होकर ये इस प्रकार की व्यूह-रचना करते हैं। जैसे कि वाहर सौर जगत् में 'श्रीमान्' सूर्य और उसके (आश्रित) ग्रह-उपग्रह 'वावाज गण' रहते हैं। एक molecule

(यौगिक अणु) में atom (अणु) गण शक्तिविन्यास करके किस प्रकार व्यूह-रचना करते हैं, उसका अंदाज रसायनशास्त्र की एक शाखा (Physical Chemistry) में खूब भलीभाँति मिल जाता है। एक-एक 'वेंज़ीन मोलिक्यूल' (benzene molecule) के व्यूह का नक्शा न जाने कितना विचित्र है! किन्तु ये सब अनदेखे रूप हैं। आज हम आदर्श अणु-वीक्षण से अनदेखे रूप भी देखने चले हैं। molecule (यौगिक अणु) में पहुँच कर दो व्यापार देखता हूँ। प्रथम रूप में ये सब वामनावतार हैं; बालखिल्य भूतों के रूप हैं। पत्ते के रूप, रस, गन्ध उनमें भी हैं, ऐसा कहते हैं। पश्चिम की Psychology (मनोविज्ञान) में जिन सबको secondary qualities (गौण लक्षण) कहा जाता था वे सब इन बालखिल्यों में हैं। इसलिये हमारे आदर्श अणु-वीक्षण में उनके रूप देखने में आये। उसके बाद और एक व्यापार है। यह बालखिल्य-दल किसी पेड़ की डाली में पैर लटका कर तपस्या-निरत नहीं हुए हैं। बाउलों* की भाँति इनके अशेष नाच का कहीं विराम नहीं है। एक दूसरे के हाथ पकड़कर और एक दूसरे की जटा में गाँठ लगाकर व्यूह रचकर क्या अविश्रान्त नृत्य है उनका! पत्ते के cell में जब जैव पदार्थ (protoplasm) चक्कर काट रहा है, तब उस चक्कर के साथ-साथ वे लोग भी घूम रहे हैं। सूर्य-किरण के सम्पात से पत्ते का हरित अंगराग (chlorophyl) जब वायु में oxygen छोड़ कर 'कार्बन' (carbon) का भाग ही लेकर अपनी श्रीवृद्धि कर रहा है, तब उस नीरव शान्त दैनन्दिन व्यापार के अन्तराल में कितना बड़ा जटिल और रहस्यमय शक्ति का एक खेल चल रहा है, उसे भी मान लें कि हमने इस आदर्श अणु-वीक्षण की महिमा से देख लिया। सूर्य-किरण से ताप चुराकर अपने-अपने molecule (यौगिक अणु) के व्यूह के बीच भर कर रखना—यह रोग भी मान लें कि लता-पत्तों में विलक्षण है; कुरु की सेनाओं ने जिस प्रकार विराट् के राज्य में गायों के झुण्ड को अटका लिया था उसी प्रकार। ताप, आलोक, तड़ित् शक्ति, रासायनिक क्रिया प्रभृति में उन सब व्यूहों का चेहरा किस प्रकार बदलता है, यह भी मान लें कि हमारे आदर्श अणु-वीक्षण ने हमें दिखा दिया। यहाँ तक देखकर ही—शक्तिमन्दिर के मणि-मण्डप में रत्नवेदिका के पीछे खड़े होकर हमने जो कुछ देखा—उसी से

---

* बंगाल के एक गायक-भिक्षु-संप्रदाय का नाम 'बाउल' है। 'वातुल' के अपभ्रंश के रूप में 'बाउल' पागल का वाचक भी है।

हमारे विस्मय का अन्त नहीं है। किन्तु देखने का क्या अन्त हो गया है ? नहीं, वैसा तो नहीं है।

रत्नवेदिका के और भी निकट, और भी ज़रा पास आकर देखा कि व्यूह के भीतर फिर से व्यूह है, चक्र के भीतर फिर से चक्र है, पद्म के भीतर फिर से पद्म है। molecule (यौगिक अणु) छोड़ कर अब हमने atom (अणु) देखे। यहाँ, कहते हैं कि रूप नहीं है, रस नहीं है, गन्ध नहीं है, शब्द नहीं है—अर्थात् secondary qualities (गौण लक्षण) यहाँ नहीं हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि primary quality (प्राथमिक लक्षण) ही अब रह गया है, अर्थात् सावयव गुरुत्वविशिष्ट, गतिमान्, परस्पर व्यावर्तक (impenetrable) सूक्ष्म रेणु-पुञ्जमात्र ही रह गये हैं। उन्होंने पत्ते का हरा रंग नहीं पाया, पत्ते का रस और गन्ध भी नहीं पाया है। रंग, गन्ध, रस और अन्य सब गुण, molecule (यौगिक अणु) को लाँघ कर और भी सूक्ष्म पर्यायों में जाने पर नहीं मिलते। आदर्श अणुवीक्षण से molecule (यौगिक अणु) में भी रग हमें दिखाई देगा, किन्तु उसके भी भीतर atom (अणु) के राज्य में अथवा प्रदेश में घुसने पर फिर रंग नहीं रह जाता। यह अवश्य ही शिष्ट वैज्ञानिकों का अन्दाज़ है। हम लोग आपाततः उन्हीं का दिया हुआ यन्त्र हाथ में लेकर उन्हीं की फर्माइश के अनुसार चल रहे हैं। तथास्तु, मान लें कि उन्हीं का अन्दाज़ ठीक है। गतिशील, गुरुत्वविशिष्ट, परस्पर व्यावर्तक atom (अणु) के इलाके में अब हम आ पहुँचे हैं। इस राज्य में कुछ-एक गुण (जैसे वर्ण, गन्ध, रस) नहीं हैं, किन्तु अन्य कई-एक हैं। केवल इतना ही नहीं, गुण-कर्म-विभाग के अनुसार इनके विभिन्न ग्राम और श्रेणियाँ भी निरूपित हैं। एक molecule के बीच उसकी गोष्ठी के अन्तर्गत atom (अणु) ने एक शक्ति-व्यूह रच रखा है। ये लोग भी और भी छोटे-छोटे वालखिल्य—'बाउल' हैं। इनके नाच का, हिलने-डुलने का, चलने फिरने का, विराम नहीं है। यह जो atoms का शक्तिव्यूह और शक्ति-विलास है, यह molecules (यौगिक अणु) के शक्तिव्यूह और शक्ति-विलास की अपेक्षा सूक्ष्मतर और मौलिकतर है। यह शक्तिव्यूह और भी मूल की बात है।

जाने दीजिये—आदर्श अणुवीक्षण ने यहाँ तक दिखा कर ही क्या छुट्टी पा ली ? नहीं। पिछली शताब्दी में शायद पा जाता, जब atom को ठोस वर्तुल समझ कर ही विज्ञान का व्यवहार चलता था। अब और भी भीतर घुस पाने की व्यवस्था हो गई है। हम ने जान लिया है कि atom भी ठोस

मौलिक पदार्थ नहीं है। उसके भी भीतर एक विचित्र जगत् है। कहते हैं कि यह तड़िदणु वा इलॅक्ट्रॉन-प्रोट्रोन आदि का जगत् है। ये तड़िदणु एक-एक अणु (atom) के वीच ग्रह-उपग्रह की भाँति चक्कर काट रहे हैं। उनका वेग अद्भुत है, शक्ति भी प्राय: अपरिसीम है। atom में घुस कर शक्ति का जो चेहरा हमने देखा उसे देखकर अवाक् होना पड़ता है। हमारे इस विराट् ब्रह्माण्ड में कौन सी शक्ति इस क्षुद्र ब्रह्माण्ड के अणु के अन्त:पुर में स्थित (intra-atomic) शक्ति के साथ तुलना में ठहर सकती है? 'वेद और विज्ञान' इस शीर्षक से अनेक भाषणों में ये सब वातें विस्तार से कह चुका हूँ। आज हमने atom (अणु) निगूढ़ शक्ति-व्यूह को केवल एक वार कटाक्ष से देख लिया! जिस आदर्श अणु-वीक्षण को लेकर देखना शुरू किया है, उसकी क्या यहीं पर छुट्टी हो जाती है? कहाँ?-छुट्टी कहाँ? तड़िदणु भी सावयव हैं, परिमित पदार्थ हैं, इसीलिय उनका भी एक अन्त:पुर होना चाहिये। यदि हां तो वहाँ पुन: शक्ति को रत्नवेदी प्रतिष्ठित है। इस प्रकार चल कर कहाँ पहुँच कर विश्रान्ति होगी? एक पत्ते को देखना शुरू करके यदि इस प्रकार द्वार के वाद द्वार खोल कर उसकी सहस्र-महल पुरी के विल्कुल वीचों-वीच पहुँच कर, उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पूर्ण शक्ति-मूर्ति को मैं देख सकूँ, तभी मेरा देखना पूरा अथवा चरम देखना होगा। आदर्श अणुवीक्षण उतनी दूर तक मुझे न दिखा कर छुट्टी पायेगा क्या? वैज्ञानिक का देखना अव भी वहुत कुछ कुहरे से घिरा हुआ है। वे कुछ दिन पहले भी 'ईथर'-समुद्र में electron को लेकर चक्कर खिला रहे थे; 'इलॅक्ट्रॉन' को भी शायद 'ईथर' की अवस्था-विशेष (intrinsic strain centre अथवा gyrostatic strain) समझ रहे थे; 'ईथर' के वीच नाना प्रकार के तरङ्ग उठा कर उन्हें चारों ओर विखेर कर हम लोगों को रंग-विरङ्गा दृश्य दिखा रहे थे; अव भी रेडियो सुना रहे हैं, और भी कितना कुछ अनुभव करा रहे हैं। मूल के हिसाव में आजकल पूर्व शताब्दी का 'ईथर' एक प्रकार से छूटा जा रहा है, किन्तु कार्य-करी शक्ति-कणा (energy quanta, point-event, four-dimensional continuum, intrinsic geometry of space) इत्यादि माने विना उपाय नहीं दिखाई देता, यह वैज्ञानिक दर्शन जो है। वह भी अणु-वीक्षण से सचमुच का दर्शन नही; कल्पना की आँख से, अन्दाज़ की आँख से, लेखे-जोखे की आँख से दर्शन है। हम लोग इस आदर्श अणुवीक्षण को हाथ में लेकर वैज्ञानिक की कल्पना के साथ ही सम्मति देने गये थे। उसे पीछे छोड़

कर आगे बढ़ जाने में भी हमें नितान्त अविश्वास नहीं था। चरम में उपस्थित हुए जाकर एक सूक्ष्मतिसूक्ष्म पूर्णशक्तिमूर्ति के समक्ष। यहाँ सूक्ष्मता की भी पराकाष्ठा है, और पूर्णता की भी पराकाष्ठा है। हमने अन्यत्र जिसे चरम वा परम चक्षु कहा है, आज अन्य भङ्गी से उसे ही आदर्श अणुवीक्षण कह रहे हैं। हाँ, परम चक्षु—स्थूल-सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट आदि सब रूप देखने का निरतिशय सामर्थ्य है, बाहर का कोई भी यन्त्र नहीं, यहाँ तक कि जिसे आँख कहते हैं, वह भी नहीं। जिस सामर्थ्य द्वारा हम देखते हैं उसी का पूर्ण विकास यह परम चक्षु है। कहना न होगा कि यह चक्षु स्वयं प्रजापति का चक्षु है। यह चक्षु 'भौतिक चक्षु' नहीं; जैसा-तैसा 'दिव्य चक्षु' भी नहीं है।

शक्ति-कूट-मूर्ति (stress system) को यदि 'यन्त्र' कहने की प्रतिज्ञा आरम्भ में ही कर लें तो हम देखते हैं कि 'यन्त्र' के भी नाना स्तर हैं, नाना पर्याय हैं। पत्ते का जो स्थूल रूप है, वह भी एक प्रकार से शक्तिरूप है। पत्ते के स्थूल शिरा-प्रशिरा के बीच अविरत रस-संचार कर रही है यह शक्ति; उन्हें ताप और आहार जुटा रही है यह शक्ति; उद्भिद् cell के बीच 'प्रोटो-प्लाजम' (जैव पदार्थ) को चक्कर खिला रही है यह शक्ति; इस शक्ति से पत्ता बढ़ता है, घटता है, हरा होता है, फिर पीला होकर, सूख कर झड़ जाता है। पत्ते के बीच यह सब व्यवस्था बनाये रखने के लिए, पत्ते को एक बड़ का पत्ता वा आम का पत्ता बनाये रखने के लिये, शक्तिव्यूह (constituent forces or stess system) स्वीकार करना ही होता है। इसे हम ठीक आँख से नहीं देखते; काम देखकर अनुमान करते हैं। पत्ते में यह मोटे-प्रकार की जीवन-यात्रा चलाने के लिए शक्ति की जो व्यवस्था अथवा शक्तिकूट चाहिये, उसे हम पत्ते का 'स्थूल यन्त्र' कहेंगे। यह मानो पत्ते के साथ हमारा 'सदर महल' (आम दरबार) में परिचय है। यह हुआ पत्ते का स्वाभाविक रूप (first sketch) अथवा प्राथमिक रूपरेखा। चुम्बक का उदाहरण लेकर उसके शक्तिकूट अथवा lines of forces का नक्शा आँक कर हम इस सदर महल का परिचय पाते हैं। वैज्ञानिक भी कहेंगे कि चुम्बक के lines of forces चरम तत्त्व वा चरम बात नहीं है। चुम्बक स्वरूपतः क्या है? एवं उसके दो pole (ध्रुव) से शक्ति-रेखायें क्यों ऐसी भङ्गी से चारों ओर फैल गई हैं, इसकी कैफियत अवश्य ही है; एवं उस कैफ़ियत को हमें चुम्बक के molecule (यौगिक अणु) समूह में एवं उनके 'नाच की सभा' 'ईथर' में अथवा अन्य किसी उपयुक्त चौखटे में खोज कर पाना होगा।

चुम्बक के lines of force जो शक्तिकूट अथवा यन्त्र हमें दिखा रहे हैं, वह शक्तिकूट वा यन्त्र एक सूक्ष्मतर और मौलिकतर शक्तिकूट (subtler and mcre fundamental stresses) का कार्य अथवा अभिव्यक्ति है। इसका अर्थ यह हुआ कि उपयुक्त सचल (dynamic) चौखटे (frame) एवं molecule (यौगिक अणु) समूह के वीच जो शक्तिपिण्ड (stresses) हैं, वही वास्तव में चुम्वक को दो ध्रुव (lines of force)-विशिष्ट एक यन्त्र बनाये हुए हैं। उन stresses के न रहने पर चुम्वक चुम्वक न होता, शायद एक पत्थर का टुकड़ा होता। फिर इतस्ततः विक्षिप्त lines of force लेकर चुम्बक की जो स्थूल यन्त्रमूर्ति है, वही चुम्वक के अभिव्यक्त धर्म वा गुणों के मूल में है। ऐसे lines of force यदि विखरे न रहते तो चुम्वक इस प्रकार लोहे का चूरा खींच न लेता, अन्य एक चुम्वक के समीप इस प्रकार का व्यवहार न करता; इत्यादि।

जिस आवश्यक वात की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ वह यह है :—**स्थूल शक्तिकूट अथवा यन्त्र स्थूल रूप-धर्मादि का आश्रय वा कारण है; सूक्ष्म शक्तिकूट (जैसे molecule गण) स्थूल शक्तिकूट वा यन्त्र का कारण और अधिष्ठान है। तदपेक्षा सूक्ष्म यन्त्र उसका भी अधिष्ठान है; इस प्रकार कार्य-कारण की साँकल पकड़ कर हम लोग अन्त में चरम वा परम सूक्ष्म कारण वा अधिष्ठान में जा पहुँचते हैं। वही चरम अधिष्ठान अथवा यन्त्र है—प्रकृति वा प्रधान,** जिसे शास्त्र ने कहा है 'अमूलं मूलम्'। इस वात को विज्ञान की तरफ़ से आप लोगों ने समझ कर देखा तो? चुम्वक के molecule समूह का जो घरेलू शक्ति-विन्यास है, उसके फल-स्वरूप चुम्वक के ध्रुव (poles, lines of force) हैं, एवं उनके उस प्रकार रहने के कारण ही चुम्वक का चुम्वकत्व है। यह हुआ एक सोपान। उसके वाद एक पत्ते की जाँच करके हमने देखा है कि molecule (यौगिक अणु) समूह चरम, अविभाज्य, निर्विकार पदार्थ नहीं है; वे सूक्ष्मतर मसाले की अपूर्व पाक-प्रणाली के क्रम से प्रस्तुत हैं (एवं वह पाक-प्रणाली पश्चिम की रसायन-विद्या ने खूब फैलाव करके लिखी है); उन सूक्ष्मतर मसालों का नाम है atom (अणु) इन atom (अणु) समूह ने अपनी शक्ति सजा कर, संहत करके जैसा वन्दोबस्त कर रखा है, molecule (यौगिक अणु) वैसे ही हो गये हैं। शक्ति के कारोवार में molecule (यौगिक अणु) इसीलिये मूलधनी

(capitalist) वा पूँजीपति नहीं है; वह स्वयं अधिक से अधिक 'कम्पनी' (हिस्सेदार) अथवा कम्पनी का व्यवस्थापक (managing agent) है। जिन सब अंशियों ने मिल कर यौथ कारोबार को फैलाया है, वे हैं–atoms (अणु), अतएव देखता हूँ कि क्या पेड़ के पत्ते में, क्या चुम्बक में, atoms के शक्तिकूट अथवा यन्त्र में molecule समूह के यन्त्र का कारण और अधिष्ठान हैं। atoms के राज्य में या क्षेत्र में जो व्यापार होता है, प्रधानतः उसीके फल-स्वरूप molecule (यौगिक अणु) समूह के क्षेत्र में व्यापार हुआ करते हैं। हम लोग आदर्श अणु-वीक्षण हाथ में लेकर चले हैं, इसीलिए हम atom में जाकर भी रुक नहीं पाये हैं। हमें देखना पड़ा है कि एक-एक atom एक-एक वालखिल्य सौर जगत् हैं—उनके भीतर सूक्ष्म तैजस रेणुसमूह विपुलशक्ति लेकर खेल रहा है, कभी-कभी atom के इलाके को लाँघ कर बाहर छिटक कर भी आ रहा है। इसीलिए atom (अणु) के शक्तिकूट वा यन्त्र के बीच मिलता है ओर भी सूक्ष्म और भी मौलिक यन्त्र। यह यन्त्र आणविक (atomic) यन्त्र का कारण है, अधिष्ठान है। वर्तमान काल में atom (अणु) के केन्द्रीण (nuclear) शक्तिव्यूह वा यन्त्र केवल परिकल्पित हुए हैं, ऐसा नहीं है, व्यवहृत भी हुए हैं। Biology (जैवविद्या) भी वारी लेती हुई चली है। किन्तु मूल में शक्ति का रूप क्या है? और उसका 'लेख' किस प्रकार का है? पूर्ण आध्यात्म-विज्ञान के सिवा कौन इसका उत्तर देगा?

इस प्रकार आगे वढ़ते चलने का कहीं अन्त नहीं है। यन्त्र के भीतर यन्त्र, उसके भीतर यन्त्र, उसके भीतर फिर यन्त्र—इस प्रकार चला है। तन्त्र के किसी भी यन्त्र को लेकर परीक्षा करें, जैसे श्रीयन्त्र। इस सार्वभौम विश्व-जनीन सत्य का चेहरा वहाँ देख सकेंगे। वृत्त के बीच वृत्त, उसके बीच त्रिभुज, उसके बीच फिर त्रिभुज इस प्रकार चला है। इस बात का विस्तार यहाँ नहीं करूँगा। मूल ग्रन्थ में कुछ आभास मिलेगा। आज मूल सूत्रों को ही हाथ की मुट्ठी में पकड़ लीजिये। हम लोग विश्व के जिस किसी पदार्थ को लेकर परीक्षा करके देख सकते हैं कि उसके बीच यन्त्र, उसके बीच सूक्ष्मतर यन्त्र इस प्रकार परस्पर कार्यकारणभाव से अधिष्ठित-अधिष्ठानभाव से निहित हैं। यन्त्र का अर्थ है विन्यस्त stresses वा शक्तिकूट, यह बात हम भूलें नहीं। सूक्ष्मतर यन्त्र स्थूलतर यन्त्र का कारण और अधिष्ठान है। कारण और अधिष्ठान किस अर्थ में है, यह भी कह चुका हूँ। भीतर का यन्त्र यदि न

रहे तो वाहर का यन्त्र भी नहीं रहता, अथवा रहने पर भी न रहने जैसा हो जाता है। भीतर घर में जो लोग भण्डार और रसोई-पानी लेकर रहते हैं, वे यदि जवाब दे दें तो वाहर घर में भोज में किसी को भी पत्तल नहीं परोसी जाती। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म का, व्यक्त वा 'देखे हुए' की अपेक्षा अव्यक्त वा 'अदेखे' का माहात्म्य सुन कर आप लोग चमत्कृत होना चाहें तो भले हों, किन्तु संदिग्धचित्त न हों। पश्चिम के विज्ञान ने सम्प्रति सूक्ष्म का माहात्म्य-कीर्तन करने में सबसे वड़ा गला हाजिर किया है। पश्चिम की 'काम में लगाई हुई 'विद्या अथवा applied science ने अभी तक वाहर के वड़े-वड़े कल-कारखानों में अधिक ममता लुटा रखी है, 'अन्दर' की खवर रख कर भी नहीं रखी है, यह हमारा भी दुर्भाग्य है, पश्चिम का भी दुर्भाग्य है, एवं यह सिद्धि निश्चय ही विशुद्ध विज्ञान के दिए हुए मन्त्र के वैध पुरश्चरण के फल से नहीं हुई है। विज्ञान अव अणु के अन्तःपुर में सूक्ष्मातिसूक्ष्म की ओर ही उंगली दिखा रहा है; किन्तु पश्चिम उस संकेत को न समझ कर क्रमागत कोयले जला कर, पेट्रोल जला कर, जल में, स्थल में और अन्तरिक्ष में नाना प्रकार की उत्कट मशीनें चला रहा है, चला कर ऐसी सुन्दर पृथ्वी को गन्दा कर डाल रहा है; मनुष्य के ऐसे सोने के संसार को शैतान का मुल्क वना डाल रहा है। सूक्ष्म के व्यवहार में भी स्थूल के दानव का ही प्रताप वढ़ रहा है। चिकित्सा विद्या में होम्योपैथी ने रोग के निदान में और भेषज के निरूपण में स्थल की अपेक्षा सूक्ष्म के प्रति पक्षपात करके सच्चा मार्ग ही अपनाया है। 'हिप्नोटिज़म , 'मेस्मेरिज़म' (वशीकरण-सम्मोहनादि) प्रभृति उस देश (पश्चिम) में क्रमशः सूक्ष्म शक्तिकूट अथवा यन्त्र में आस्था स्थापन करना लोगों को सिखा रहे हैं। किन्तु मोटे-मोटे अनेक भूत एक साथ कन्धे पर चढ़ वैठें तो उस अवस्था में अरवी उपन्यास के सिद्धवाद वणिक् की कहानी के विजन-द्वीप-वासी वूढ़े शैतान की तरह उन्हें कन्धे पर से उतारना कठिन है। और जिस 'सरसों' से भूत भगाये जायेंगे, वह मन-सरसों ही तो भूतग्रस्त है।

जो भी हो, सूक्ष्म शक्ति-कूट वा यन्त्र, स्थूल शक्तिकूट वा यन्त्र के कारण अथवा अधिष्ठान के रूप में व्यवहृत हुए हैं। **'तद्भावे तद्भावः तदभावे तदभावः'**—इस नियमानुसार। सूक्ष्म यन्त्र न रहने पर स्थूल नहीं रहता; सूक्ष्म रहं पर स्थूल रहने सकता है। इससे स्वतःसिद्ध भाव से हमलोगों को यह काम की वात भी मिलती है कियदि किसी भी पदार्थ को हम स्थूल भाव

से देखना चाहें तो उसके सूक्ष्म शक्तिकूट वा यन्त्र का हमें संग्रह करना होगा या उन्हें उपस्थित करना ही होगा, अन्य उपाय नहीं है। मान लीजिये एक फौलाद के टुकड़े को मैं चुम्वक वनाना चाहता हूँ। मुझे क्या करना होगा? वैद्युतिक शक्ति संपात से हो अथवा अन्य चुम्वक के संस्पर्श से ही हो, मुझे फ़ौलाद के molecule समूह को ऐसे एक शक्तिकूट में सजाना होगा कि जिसके फलस्वरूप फ़ौलाद में भी lines of force चुम्वक के रीतिक्रम से दो ध्रुव (poles) से इधर-उधर प्रसारित हों। इस वात के सिवा और उपाय क्या है? मैं जिस electric current से अथवा अन्य उपाय से फ़ौलाद को चुम्वकत्वापन्न कर सका हूँ, उसका प्रमाण आप लोग कैसे पायेंगे? लोहे के चूरे को खींच रहा है या नहीं, अन्य चुम्वक के सदृश ध्रुव (pole) में वर्जन और विसदृश ध्रुव में आकर्षित करता है या नहीं, इत्यादि देख कर। निष्कर्ष यह कि स्थूल यन्त्र प्राप्त करने के लिये मुझे सूक्ष्म यन्त्र को पहले पाना होता है। तन्त्र का दृष्टान्त लीजिये। त्रिपुर-सुन्दरी शक्ति की एक विशेष मूर्ति है। तन्त्र में उसका ध्यान है, वीज मन्त्र है। मान लीजिये उसका ध्यान जसा है, उसी प्रकार से मैं उसे प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ। उसके मूर्त्त व्यक्त रूप को ही मैं देखूँगा। क्या करना होगा? पहले जिस मूल सूत्र का निर्देश कर चुका हूँ, तदनुसार मुझे उसका सूक्ष्म शक्तिकूट अथवा यन्त्र उपस्थित करना होगा। सूक्ष्म यन्त्र तदपेक्षा स्थूल यन्त्र का कारण और अधिष्ठान है – इस नियम से। वह सूक्ष्म यन्त्र, मान लें, कि श्रीयन्त्र है। रूप की ओर से यन्त्र जो करता है, शब्द की ओर से मन्त्र भी वही करता है। जिसका यन्त्र या जिसका मन्त्र है उसे 'पकड़ कर' मेरे सामने ला देता है। क्यों ला देगा, इसका कारण पहले दे चुका हूँ। यन्त्र और मन्त्र का संयोग तो मणि-काञ्चन-संयोग है—सिद्धि को और भी सुकर वना देता है। और स्वाभाविक क्रिया वा तन्त्र की सहायता मिल जाने पर तो बात ही नहीं है। आपाततः इस बात को रहने दें।

सूक्ष्म यन्त्र के नाना स्तर हमने पेड़ के पत्ते और चुम्वक के [illegible] रके देख लिये; उनका परस्पर जो सम्वन्ध है, वह भी हमने देखा। [illegible]ा-महल पुरी के विल्कुल वाहर जो शक्तिपिण्ड है, उसे भी हमने यन्त्र कहा है, और विलकुल केन्द्र स्थान में जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति पड़ी हुई है उसे भी हमने यन्त्र कहा है। वटवृक्ष के पत्ते के विल्कुल बाहर जो यन्त्र है, वह उस पत्ते के कोशाणु, शिरा-उपशिरा आदि द्वारा घटित जीवन-यात्रा-निर्वाह का कल है,

जिसका थोड़ा कुछ हम आँख से देखते हैं और वाकी को क्रमशः अणुवीक्षण से अथवा अन्य उपाय से हमें देखना पड़ता है। यही हुआ पत्ते की शक्तिकूट के नित्यनैमित्तिक अनुष्ठान को चलाने वाला ढाँचा। इसकी बात फिर से वाद में कहूँगा। सात महल के विल्कुल वीच में केन्द्रस्थल में कौन सा यन्त्र है? molecule (यौगिक अणु) सम्वन्धी यन्त्र? नहीं; atom सम्वन्धी? नहीं; वह भी नहीं; corpuscle (कार्पसल या कोश) वा electron (इलॅक्ट्रॉन) सम्वन्धी? नहीं, वह भी शायद नहीं; किसी का भी सम्वन्धी नहीं। तव वह कौन है? वह है शक्ति की चरम् सूक्ष्मावस्था, जिसकी अपेक्षा और सूक्ष्म नहीं है, अथच वह शक्ति की पूर्ण समर्थावस्था है, क्योंकि वह अवस्था अन्य सब अवस्थाओं का कारण वा अधिष्ठान है। इस केन्द्र में जो है, उसी के लिये एवं उसी का आश्रय लेकर और सब कुछ है। उसके और भाग करना नहीं चल सकता; क्योंकि यदि भाग करना चल सके तो उसके भीतर पुनः यन्त्र निकल आयेगा। शक्ति की यह केन्द्रीभूत, चरम, सूक्ष्म, परम कारण और परम अधिष्ठान रूप जो अवस्था है, उसी का नाम है विन्दु। इस विन्दु का आश्रय लेकर ही सव शक्तियाँ स्थित हैं, और खेल रही हैं; सभी यन्त्र इस विन्दु की ही अभिव्यक्त वा उच्छून-अवस्था हैं। जो अनुसन्धित्सु हैं; वे तन्त्रशास्त्र का '।ामकलाविकास*' इत्यादि देखें। यह विन्दुतत्त्व ही मूल का तत्त्व है—केवल तान्त्रिक श्रीयन्त्र प्रभृति का नहीं, विश्व के चेतन-अचेतन, सजीव, निर्जीव, स्थूल-सूक्ष्म सभी यन्त्रों का है। आज यहीं तक समझ लीजिये कि विन्दु ही शक्तिकूट की अथवा यन्त्र की मूल-प्रकृति वा कारण है।

'यन्त्रम्' इस शब्द में 'यम्' इस अंश को वायु-वीज समझें। वायु का अर्थ केवल हवा नहीं। श्रुति ने वायु को ब्रह्म का ही एक रूप कहा है—'वायुर्यथैकः'† इत्यादि नाना मन्त्रों में नाना प्रकार से कहा है। सर्वव्यापी जो सत्ताशक्ति है, उसका जो 'सचल' भाव है, उसे वायु कहा जाता है। यह सचलता केवल देश-काल (space, time continuum) में है ऐसा नहीं।

---

*ी हथानन्द-रचित तन्त्रशास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ, जिसका प्रतिपाद्य विषय सृष्टि-रहस्य है। —अनुवादिका।

† वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकंस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ॥
(कठोपनिषत् २. २. १०)—अनुवादिका

विराट् मन में काम, संकल्प आदि भी इस वायु संज्ञा के भीतर आ जाते हैं। शक्ति-तन्त्र की भाषा में है स्पन्द। जड़, प्राण, मन, बुद्धि --समष्टि और व्यष्टिभाव से इस वायु के अधिकार में हैं। वायु मूल वस्तु का ही गतिरूप है (स्थूल सूक्ष्म कारण)। उसके बाद 'यन्त्रम्' इस शब्द के अन्त में है 'र'— अग्निवीज। अग्नि भी ब्रह्म का एक रूप है। संक्षेप में, जिसके द्वारा रूप वा आकृति आती है, अथवा रूपान्तर साधित होता है, वह है अग्नि (informing, conforming, transforming cosmic factor)। कहना न होगा कि रूप यहाँ केवल बाहर का रूप नहीं—जड़, प्राण, मन -- इन सब के सभी 'ग्रामों' में अग्नि को पहचानना होगा।

इस प्रकार दो तत्त्व हमें मिले। एक है वायु वा विश्व-स्पन्द (cosmic stress)। सर्वविध गति और गति का संभावना-रूप यह है। इसे आधार बना कर ही अग्नि का 'रूपायण' कर्म हुआ करता है। अर्थात् स्पन्दरूप में वायु ने दिया उपादान वा material और अग्नि हुआ निमित्त (informing principle)। विश्व में पूरी सृष्टि 'अग्निसख' (वायु) एवं अग्नि—इन दोनों को लेकर हो रही है। मानस सृष्टि वा संकल्प सृष्टि भी इसके बाहर नहीं है। 'तपसोऽध्यजायत'* वा 'ज्ञानमयं तपः'†--इन स्थलों में भी तपः=आदि अग्नि।

किन्तु प्रश्न है--विश्व के प्राण, शृंखला वा छन्दस् के सम्बन्ध में। इसीलिये केवल एक उपादान और एक निमित्त रहने से ही काम चलता है क्या? form वा रूप जिसका बनेगा, उसके विषम या जैसे-तैसे होने से तो नहीं चलेगा न! उसे लक्ष्य के साथ एवं समग्र के साथ सुसमञ्जस होना चाहिए। सुसंगति वा harmony चाहिये। 'यन्त्रम्' में बीच में 'त्' (=अमृत=इष्ट=श्रेयः+प्रेयः) यह सन्धि बना रहा है। 'यन्त्रम्' इस शब्द का वर्णविश्लेषण करके ही हमने यन्त्र की असली बात पाई। उस असली बात के तीनों भागों में दृष्टि रखियेगा—उपादान, आकृति और छन्दस्। इस प्रकार जहाँ एक सत्ताशक्ति (जड़, प्राण वा मन के रूप में अभिव्यक्त) सस्पन्द

* ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। (महानारायणोपनिषत् ५·५)
—अनुवादिका।

† यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। (मुण्डकोपनिषत् १·९)
—अनुवादिका।

६

(क्रियमाण) अवस्था में विद्यमान है, वहाँ किसी भी श्रेयः-प्रेयः-सिद्धि के निमित्तरूप तदुपयोगी छन्दस् के आश्रय में एक निर्दिष्ट रूपायण (shaping and adjusting of the 'material' or energy) हुआ यन्त्र। वेद ने बार-बार छन्दस् से सृष्टि की बात कही है। गायत्री-प्रभृति छन्दों की बात भी सुनाई है। श्रेयः-प्रेयः आपेक्षिक सामग्री है। पराकाष्ठा में वह अमृत है। गायत्री छन्द ने इस अमृत का ही देवताओं के लिये दोहन किया था—ऐतरेय उपाख्यान में ऐसा है। मन्त्र के पक्ष में जैसे, यन्त्र के पक्ष में भी वैसे ही, छन्दस् चाहिये। छन्दस् यदि समर्थ होगा तो यन्त्र भी समर्थ होगा। 'रेडियो-आइसोटोप्स्' में केन्द्रीण शक्ति 'उन्मुख' (prone) भाव से विपुल है; ध्वंस के व्यापार में समर्थ छन्दस् को पाकर हमन आणविक बम बनाया है। किन्तु वह तो महामारी छन्दस् है। अमृतच्छन्दस् कब आविष्कृत होगा? उसके लिये भिन्न प्रकार का यन्त्र आवश्यक है, एवं वह यन्त्र मुख्यतः 'जड़ यन्त्र' (mechanical contrivance) नहीं होगा। जड़ के अणु में अग्नि को कालाग्नि रुद्रमूर्त्ति में आविष्कृत किया है हमारे विषच्छन्दा-बुद्धि-प्रसूत जड़यन्त्र ने। शक्तिसागर के मन्थन से हलाहल निकला है, किन्तु अग्नि को निखिल दैवी संपद् के 'पुरोहित' 'रत्नधातम*' (supreme giver of all values) के रूप में पाना होगा। जड़ाणु, जीवकोश और कारोबारी चेतना के मूल में जो महान् शक्ति-भण्डार है, केवल उसके 'बहिःप्रकोष्ठ' में ही अभिज्ञ प्रयोग-कुशली होने से तो नहीं चलेगा; अग्नि को 'जातवेदाः' और 'मधुच्छन्दाः' (knower of all that exists and functions, सुतरां perfect wisdom) होना होगा।

पुनः 'यन्त्रम्' शब्द के 'यम्' को यमन वा control के अर्थ में भी लिया जा सकता है। कोई भी प्रस्तावित शक्तिक्षेत्र (given power field) जिसके द्वारा 'trained' 'controlled' होकर एक निर्दिष्ट आकृति (pattern) अथवा रूप ग्रहण करता है, वही यन्त्र है। यह 'यमन' (control) कर्म नाना उद्देश्य से, नाना भाव से हो सकता है (canalizing, redirecting focussing इत्यादि), सुतरां यन्त्र नानाविध हैं। शास्त्र में चतुर्दश मनु, चतुर्दश यम एवं चतुर्दश भुवनों की बात है। ७×२=१४, यह चतुर्दश एक 'रहस्य'-संख्या है, यह हमलोग बाद में देखेंगे। मनु से मन्त्र, यम से यन्त्र —

* अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं, होतारं रत्नधातमम्। (ऋग्वेद १·१·१)—अनुवादिका।

यह भी देखेंगे। भुवन और तन्त्र एक दूसरे के साथ ग्रथित हैं। सर्वतन्त्रेश्वरी श्रीश्रीभुवनेश्वरी हैं।

शक्तिभाण्डार के बहिःप्रकोष्ठ से क्रमशः अन्तःप्रकोष्ठ में प्रविष्ट होना होगा। बहिःप्रकोष्ठ में शक्ति-विन्यास की जो आकृति (pattern) है, अन्तः-प्रकोष्ठ में वह रद्द नहीं होती; सामर्थ्य में, प्रयोग में, संभावना में एवं व्यञ्जना में वह और भी समृद्ध होती है। १९ वीं शताब्दी के विज्ञान और २० वीं शताब्दी के विज्ञान (जड़, प्राण, मन—समष्टि और व्यष्टि सभी ओर से) में तुलना करने पर यह समझ में आयेगा। अणु, जीवकोश, कारोबारी मन —इन सबके भीतर का नक्शा (pattern) हम पाते हैं। और भी भीतर का सन्धान भी मिलेगा। समष्टिगत दृष्टि भी (macrocosmic appreciation) क्रमशः गम्भीर और व्यापक हो रही है, इसमें सन्देह नहीं है। स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर—इस प्रकार खोजने की कोई सीमा है क्या? यदि मान लें कि है, तव 'क' नामक वस्तु के निरूपक शक्तिकूट (determining stress system) की जो सबसे मूलीभूत (basic) अवस्था व संस्था है, वह हुई 'क' के सम्वन्ध में उसका 'हृत्' (core) अथवा 'नाभि'। उसी हृत् का आश्रय लेकर 'क' की सत्ताशक्ति की जो आकृति है, वही है उसकी हृल्लेखा (basic causal pattern)। यह 'क' का मौलिक यन्त्ररूप है। इसके रहने पर 'क' कम से कम बीज वा संभावना के रूप में रहेगा ही। इसके न रहने पर 'क' नहीं है। इसकी तुलना में 'क' के और सव pattern 'वाह्य' हैं। मूल आकृति वा हृल्लेखा ही उसका स्वाभाविक रूप अथवा यन्त्र है। मन्त्र के पक्ष में जैसा है, यहाँ भी उसी प्रकार मूल आकृति (pattern) क्रियाभिव्यक्ति के विभिन्न स्तरों में आकर बहुधा आवृत और संकीर्ण (veiled and confused) हो गई है। अनेक आवरण और विक्षेप हटाकर तव कहीं शुद्ध सम्पूर्ण 'रूप तन्मात्र' को पाना होगा। शब्द तन्मात्र वा मन्त्र की भाँति रूप तन्मात्र वा यन्त्र का भी अपनी वस्तु के साथ **'तद्भावे तद्भावः तदभावे तद-भावः'** ऐसा सम्वन्ध है।

शक्ति वा सामर्थ्य का जो निरतिशय 'केन्द्रीण' घनीभाव है, उसे 'बिन्दु' नाम देने पर हृल्लेखा हुई विन्दु की ही कोई सविशेष सृष्ट्युन्मुख कारण-यन्त्र (causal pattern) के रूप में प्राथमिक अभिव्यक्त अवस्था। 'बिन्दु' निखिल सृष्टि का वीज (cosmic causal potency) है; किन्तु क, ख वा ग सृष्ट होने जायें तो मूल में ही एक-एक विशेष आकृति (pattern) उनमें

मिलना आवश्यक है। ये 'विशेष' तत्त्व मूल में 'वर्ण' (element) एवं 'कला' (partial or aspect) के आकार में अभिव्यक्त हैं। इसके बाद है संख्या और परिमाण एवं वह पुनः काल और देश की विशेष 'संस्था' के रूप में अभिव्यक्त होता है। इन सबकी आलोचना 'जपसूत्र' में मिलेगी। हृल्लेखा स्वयं संख्या-परिमाण आदि की संभावना-मात्र है; उसमें वे सब अभी भी 'व्याकृत' (evolved) नहीं हुए हैं। इसलिये जिसे वर्तमान विज्ञान 'atomic number' 'क्रोमोसोम नम्बर' इत्यादि कह रहा है, वह सूक्ष्म के पर्याय में पड़ने पर भी जड़ की अथवा जीवकोश की हृल्लेखा नहीं है। अवचेतन मन का जो चित्र मिलता है, वहाँ भी यही बात है। हृल्लेखा स्वयं देशकालावच्छिन्न नहीं है, केवल कारणता वा संभाव्यता द्वारा अवच्छिन्न है। देश में (देश का अर्थ है extension मात्र, physical space नहीं) और काल में 'अवतरण' करके हृत् बनता है हृद्देश एवं हृदय। यह आलोचना भी बाद में मिलेगी। इस प्रसङ्ग में Plato (प्लेटो) और Whitehead (व्हाइटहेड) की विचारधारा तुलना-योग्य है। सूक्ष्म और स्थूल में अवतरण में 'क' वा 'ख' की जो हृल्लेखा है, उसने विचित्राकार-परम्परा का परिग्रह किया है। ये शुद्ध, सम्पूर्ण रूप अथवा यन्त्र नहीं हैं। परस्पर के संघर्ष (interference), अभिभव (encroachment) इत्यादि घटित होने से स्वाभाविक रूप का व्यत्यय एवं स्वाभाविक सामर्थ्य का संकोच हुआ है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यं — ये सात 'लोक' वा plane जपसूत्र में विशेष भाव से व्याख्यात हुए हैं। ये मुख्यतः seven planes and orders of experience—अर्थात् अनुभव के सात स्तर हैं। जपसूत्र में 'सप्तख्याति' हैं। प्रत्येक को पुनः 'पराक्' (negative) और 'प्रत्यक्' (positive) दो प्रकार से लेने पर १४ संख्या मिलती है। 'यह' (इदं) इस भाव से जो सब रूप, आकृति और यन्त्र गोचर हो रहे हैं उनका शोधन और सम्पूरण करते हुए 'सत्य' तक पहुँचना होगा। वहाँ पर 'तत्त्व' रूप में (as it is in itself) और 'धारा' रूप में (as a process)—दोनों रूपों में उसे देखना होगा। उस प्रकार देखने पर 'सत्यं च ऋतं च'*—जिससे सृष्टि की सूचना मिलती है। विश्व का विचित्र apparatus तो मिलता है, किन्तु मूल का क्या ?

शब्द की ओर से हृल्लेखा की अनुकृति (equivalent) हुआ मायाबीज—'ह्रीं'। 'ह' कार=शक्ति की व्योमवत् विपुल नादावस्था है। 'र' कार=जिस

* सत्यं च ऋतं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। (महानारायणोपनिषत् ५·५) —अनुवादिका।

शक्ति द्वारा यह शक्तिव्योम (power continuum) मथित और रूपित हो रहा है (अग्नि); 'ई' कार=मन्थनदण्ड=जिस axis (धुरा अथवा सूत्र) का आश्रय लेकर मन्थन और रूपायण क्रिया चल रही है। 'ं' (अनुस्वार) =नाद और विन्दु इन दोनों की अध्यक्षता में एवं इन दोनों की 'काष्ठा' (limit) के अभिमुख ही क्रिया चल रही हैं। अर्थात् एक ओर continuum एवं अन्य ओर point (dynamic) - इन दोनों की रक्षा करके ही निखिल व्यापार चल रहा है। जैसे आलोक के पक्ष में ऊर्मिरूप एवं electron (इलॅक्ट्रॉन) के पक्ष में रेणुरूप; प्राण और मन का व्यापार भी तद्रूप है। इसलिये 'ह्रीं' प्रभृति वीज शक्तिक्षेत्र में एक-एक formula हैं, जैसे कि पदार्थ-विज्ञान में मिलते हैं। formula के भीतर ही 'यन्त्र' का भी निरूपण पड़ा हुआ है। पूर्वोक्त विश्लेषण प्राण-प्रयत्न के मौलिक रूप-विशेष के हिसाब से भी दिखाया जायेगा। मूल ग्रन्थ में तत्त्व (principles) आलोचित हुए हैं।

अन्त में हमारे शरीरयन्त्र की परीक्षा करें। शरीर-विज्ञान (Anatomy और Physiology) अणुवीक्षणादि apparatus (उपकरण यन्त्र) की सहायता से जितना दिखा रहा है, वहीं पर अन्त करने से चलेगा क्या? प्राण और मन की व्याख्या तो दूर की वात, इस स्थूल यन्त्र की ही पूरी व्याख्या उसमें नहीं मिलती। इसलिये और भी सूक्ष्मस्तर का यन्त्र निश्चय ही कोई है। प्रश्न उठेगा—कैसे उपादान से वह यन्त्र निर्मित है? और उसके रूप एवं क्रिया का ढाँचा क्या है? तन्त्रादि शास्त्रों में जिसे सुषुम्णा, षट्चक्रादि कहा है, उनका स्थान कहाँ है? योगी लोग जिसे सूक्ष्मदेह, निर्म्माणकाय, दिव्यदेह इत्यादि कहते हैं, वे सव क्या हैं? उत्क्रान्ति के वाद जो आतिवाहिकादि देह हैं, वे सव क्या हैं? नित्यमुक्त (जैसे सनत्कुमार) और सिद्धों की देह क्या है? जरा-मृत्यु-प्रभृति का इलाका कितनी दूर तक है? सव कुछ के मूल में स्पन्द तो है ही। किन्तु स्पन्द का 'ऋतम्' (Rhythm, 'छन्दः') किस 'ग्राम' में उपनीत होने पर वह छन्दस् 'antropy' अथवा 'cosmic running down' के ऊर्ध्व में अपनी रक्षा करने में समर्थ होता है, अतः अजर-अमर वना देता है? पराकाष्ठा में हुआ —'सत्यं च ऋतं च'। यन्त्र एवं उसका छन्दस् कितने पाद और मात्रा से उस पराकाष्ठा में उपनीत होगा? ये ज़रूरी प्रश्न हैं। उसके वाद अन्नमयादि कोश के हिसाब से जो यन्त्र-विभाग है, उसके मूल में क्या है? जपादि साधन के साथ इन सब प्रश्नों के यथार्थ उत्तर का विशेष सम्वन्ध है।

———

जप

जप के सन्बन्ध में कुछ दिन पहले का यह (प्रकाशित) लेख भी भूमिका में सन्निवेशित है। शास्त्र ने 'जपात् सिद्धिः' तीन बार ऐसी घोषणा (**जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः**) कर के जपकार्य में संशय करने का निषेध किया है। संत-महाजनों की भी यही एक बात है—"नाम लो, नाम से ही सब होगा। नाम ही परम सम्बल है, नाम को छोड़कर और गति नहीं है।" नाम लेना ही भजन है, और भजन विधिपूर्वक होने पर वही साधन है। नाम कहने पर किसका नाम, कौन नाम, ये प्रश्न जिस प्रकार उठते हैं, नाम कहाँ से किस भाव से लेना होगा—ये प्रश्न भी उसी प्रकार उपस्थित होते हैं। पहले प्रश्न का उत्तर मिलता है, जब 'इष्टनाम' अथवा 'मन्त्र' प्राप्त होता है। दूसरे के उत्तर के लिये कोई 'नामदाता' एवं नाम देने की एक 'प्रणाली' अथवा पद्धति ठीक होनी चाहिए। सर्वत्र नामदाता को 'आचार्य', 'गुरु', 'इष्टदेव' और नामदान की प्रणाली को 'दीक्षा' कहते हैं। दीक्षा के साथ अथवा बाद में आवश्यक भजन-विधि के उपदेश को 'शिक्षा' कहते हैं। दीक्षा में एकनिष्ठ होना चाहिए, उपदेश के समय उस प्रकार की रोक-टोक नहीं। हाँ, उस क्षेत्र में भी अरिच्छन्द-मित्रच्छन्द का विचार करना होता है। निष्कर्ष यह कि उपदेश की उपयोगिता और उपादेयता है।

ये सब बातें प्रायः सभी ने सुन रखी हैं। जिन्हें मूल में संशय है, उनके साथ बातचीत में निपटारा करना सहज नहीं है। हाँ, ध्यान रखना होगा कि वह समझना-बूझना समाप्त करने के लिये तत्त्व एवं तथ्य इन दोनों क्षेत्रों म निष्ठा-पूर्वक परीक्षा चलानी होगी, जिस प्रकार वैज्ञानिक गवेषणा में करना होता है। 'थ्योरी' एवं 'एक्सपेरिमेण्ट' दोनों की आवश्यकता है। तत्त्व और तथ्य के बीच संधि आवश्यक है। विच्छेद, विग्रह होने पर समझना होगा कि सत्य का सन्धान अभी तक नहीं मिला है। तत्त्व एवं तथ्य परस्पर संवादी होने चाहिए, 'विसंवादी' नहीं। सत्य अथवा यथार्थ के ज्ञान को यदि 'प्रमा' कहें तो इस सत्य-सन्धान को प्रमाण कहेंगे।

जप एक प्रकार की क्रिया है—कायिक (अजपा), वाचिक, मानस, विमिश्र चाहे जिस प्रकार लें, इस क्रिया द्वारा सिद्धिलाभ होता है। विश्वास करूँ या

नहीं —यह सत्यसन्धान अथवा प्रमाण के ऊपर निर्भर करता है। प्रमाण की व्याप्ति तत्त्व एवं तथ्य principle and fact उभयतः है। सुनते हैं कि अङ्गार भी कर्मयोग से हीरक हो जाता है। सुनकर ही विश्वास होता है क्या ? प्रमाण चाहिए। तत्त्व के क्षेत्र में जानने को मिला (१) दोनों की ही मूल-वस्तु अथवा उपादान एक ही है और (२) उस मूलवस्तु के दाने अङ्गार में जिस प्रकार सजाये गये हैं, हीरे में उस प्रकार नहीं, अन्य प्रकार से; अतः (३) सजाने की रीति अंगार-अनुरूप न होकर हीरकानुरूप होने पर ही अंगार को हीरकत्व-प्राप्ति होती है। पदार्थ-विज्ञान अघुना और भी अग्रसर हो गया है, ऐसा देख रहा हूँ। सब पदार्थों की मूल वस्तु Energy अथवा शक्ति नाद (अथवा continuum) विन्दु (अथवा quantum) है, एवं शक्ति की विभिन्न अवस्थिति-परिस्थिति (संस्था अथवा व्यूह) से ही विभिन्न पदार्थ होते हैं। तत्त्व के क्षेत्र में जो जाना है, तथ्य के क्षेत्र में समीक्षा-परीक्षा द्वारा उसे जब तक नहीं जाँच लेते, तब तक पूर्णाङ्क-संस्थापक (conclusive) प्रमाण नहीं मिलता, एवं विश्वास भी सुस्थिर नहीं होता; स्थिरमति और स्थितधी भी नहीं बना जाता।

जप के मूल में जो principle अथवा तत्त्व है, उसे कह लें - रहस्य। 'उपनिषद्' शब्द का एक अर्थ भी वही है। तत्त्व सभी क्षेत्रों में 'गुहानिहित' अथवा निगूढ़ है, पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में भी। हाँ, उस गुहा को भेदने का कौशल (विद्या) अथवा technique अधुना हम अतिशीघ्र आयत्त कर पा रहे हैं। जप का जो रहस्य (**सत्यस्य मुखं**) है, वह **'पिहित'*** ही है, **'हिरण्मयपात्रेण'** या 'प्रस्तरस्तूपेन' यह नहीं समझ पा रहा हूँ। उसे सर्वदा **'गुह्य' 'गुह्यादपि गुह्य' 'राजगुह्य'** इत्यादि रूप में रहस्य करके रखा गया है। उसका हेतु तब भी था, अब भी है। हाँ, तब हिरण्मय पात्र जुटता था, ब्रह्मवर्चस् के अधिकारी हिरण्यरेताओं के युग में। किन्तु रहस्य होने पर भी वह अत्याधुनिक 'वैज्ञानिक बर्बरता' के युग में अज्ञातव्य, अनधिगम्य तो नहीं है। विषय, सम्वन्ध, अधिकार, प्रयोजन —इन चार को अनुबन्ध कहते हैं। अनुबन्ध का विचार करके सब कुछ का, सुतरां जप का अथवा अन्य जिस किसी रहस्य का अनुसन्धान करना होता है। नहीं तो श्रेयः नहीं है, चरितार्थता नहीं है।

---

* "हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।" ईशावास्योपनिषद् १५।
—अनुवादिका।

जैसे, वर्तमान युग में आणविक-शक्ति-भण्डार की चाभी हाथ में पाकर हमें सम्प्रति श्रेयोलाभ नहीं हुआ है, मिली है संभावित 'महती विनष्टिः'* । जप जिस शक्ति-भण्डार का सन्धान देता है, वह शक्ति और भी 'मौलिक' और भी विपुल, व्यापक शक्ति है । उस शक्ति-साधना में संयत सावधानता एवं स्वच्छ गाम्भीर्य का प्रयोजन और भी अधिक है । इसलिए सिद्ध और साधक लोग सर्वत्र रहस्य-भङ्ग करने के प्रति नाराज रहे हैं एवं वैद्युताग्नि लेकर उन्होंने विजली वत्ती का हाट नहीं सजाया है; तथापि साधक को तत्त्व जानने की आवश्यकता है ही । 'इतर' जन के लिये भी उस प्रकार साक्षात् प्रयोजन न रहने पर भी परोक्ष प्रयोजन कुछ रह सकता है । जैसे, जो (व्यक्ति) आणविक शक्ति को लेकर कारोवार नहीं कर सकता, उसे भी आणविक विज्ञान के ज्ञान का प्रयोजन है । अनेकों (व्यक्तियों) के पक्ष में कारोबार के लिए ही जानने का प्रयोजन हो सकता है । कहीं पर जानने से ही इष्टसफलता हो सकती है । जानने के वाद करने की प्रवृत्ति भी हो सकती है । फलतः, प्रयोजन चाहे जिस प्रकार का हो, वह यदि केवल शौक न होकर सचमुच की गरज हो तो वह जिस किसी उपाय से अपने को मिटाना यानी पूर्ण करना चाहेगा । अव सोचकर देखिये, जप का जो रहस्य है, उसे जानने के लिये गरजी, दर्दी, मर्मी अधिकारी कितने लोग हैं ?

उसके वाद जप को लेकर कार्यतः परीक्षा में उतरना है । पहले यदि जप के तत्त्व अथवा रहस्य की वात कुछ जान रखी हो तो जप-कर्म में कुछ परिमाण में श्रद्धा (working belief), सुतरां प्रवृत्ति होना सहज होता है । विज्ञान के परीक्षागार में किसी भी परीक्षा में उतरने में भी वही वात है । प्रस्तावित परीक्षा की theory अथवा युक्ति यदि ज्ञात हो तो कोई बात ही नहीं है, कम से कम तो यह विश्वास होना चाहिए कि मूल में युक्ति है, अभिज्ञ व्यक्ति (विशेषज्ञ) उसे जानते हैं, एवं दूसरों ने ठीक-ठीक विद्या (technique) प्रयोग करके परीक्षा की सफलता प्रमाणित की है । यह 'आप्त' प्रमाण है । जपादि के क्षेत्र में भी इसका आश्रय लेना होता है । सभी व्यावहारिक विज्ञानों में यही दस्तूर है । जो व्यवहारी है, उसे अपनी वुद्धि की एक 'प्राथमिक' अनुमति पानी होती है । उसे ठीक विश्वास अथवा श्रद्धा नहीं कहते । बुद्धि यदि कारोवार में उतरने से पहले उसके मूल में जो युक्ति है अथवा हो सकती

* बृहदारण्यक उपनिषद ४·४·१४ (इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः ।)—अनुवादिका ।

है, उसे यथासंभव जाँच ले तो यह प्राथमिक अनुमति-पत्र और भी 'पक्का' हो जायेगा। तब वह केवल अनुमति नहीं है। वह तब अनुमोदन (permit) नहीं है, approval (स्वीकृति) है। इससे काम में गरज वढ़ती है, किन्तु इसी से काम की चूड़ान्त निष्पत्ति नहीं होती। युक्ति, शास्त्र, महाजनवाक्य एवं आत्मप्रत्यय—इन चार पर्यायों में पर्याप्ति (प्राप्ति) पूर्ण होती है। पूर्ण न होने तक श्रद्धा वा विश्वास पूरे नहीं होते। हाँ, स्ववुद्धि का permit (अनुमतिपत्र) लेकर ही सव क्षेत्रों में, समीक्षा-क्षेत्र में अथवा परीक्षागार में घुसना होता है। युक्ति मिलने पर अनुमोदन, शास्त्र व महाजन-वाक्य से संस्कार और समर्थन; आत्म-प्रत्यय से सर्वसंशय-निरसन द्वारा पक्का 'स्वाक्षर' तक हो जाता है। वे 'पर' हों अथवा 'अवर' ही हों, जव तक उनके साथ साक्षात् भेंट नहीं होती, तव तक सर्वसंशय कदापि छिन्न होने के नहीं। जव तक समीह है तव तक समीक्षा है; जव तक परोक्ष है, तव तक परीक्षा है।

जप के लिए जिसकी अपनी वुद्धि का permit नहीं मिला है, उसके लिये तत्त्व ही क्या, और तथ्य ही क्या है? किसी को भी लेकर चर्चा करने से विशेष लाभ नहीं है। किन्तु उस क्षेत्र में भी permit के लिए अर्जी करने जैसी मर्जी (इच्छा) है, या हो रही है या नहीं, यह अवश्य विवेच्य है। पहले शुभेच्छा, तव विचारना; पहले चाहना, तत्पश्चात् पाना। चाहे विना ही जहाँ पाया जाता है, वहाँ समझना होगा कि वह पाना खजाने में मालिक के नाम से मौजूद (जमा) ही था। मान लिया कि जप के लिये permit मिल गया है। यह permit सवसे पहले अपने भीतर ही पाना होता है, यह हमने देखा। किन्तु वाहर उसे endorse या मंजूरी करने की भी अपेक्षा है। क्यों है, इसका अवश्य हेतु भी है। भीतर और वाहर परस्पर को साक्षी वनाकर अपना-अपना हस्ताक्षर दिया करते हैं। मान लिया यह मंजूरी भी मिल गई है। भीतर से किसी ने कहा--'काम करके ही देखो न! क्या होता है?' वाहर से और किसी ने कहा 'करो ही न! फल मिलेगा'। तव भीतर वाहर दोनों के मिल जाने से तय हुआ--'लग ही जाऊँ', किन्तु इस प्रकार भीतर-वाहर मिलकर भी जो काम में उतरा, उसे भी सहज में ही फल-प्राप्ति होते नहीं देखता हूँ।

"मैं इतने दिनों से जप करता हूँ, किन्तु मैंने क्या पाया? अमुक व्यक्ति तो जीवन-भर जप में लगा रहा है, किन्तु उसका भी क्या हुआ? रंग तक तो फिरा नहीं, और न ही कोई आन्तरिक विकार दूर हुआ।"--इस सम्बन्ध में

प्रथम वात यह है कि जप का जो सचमुच का काम है, वह वास्तव में सूक्ष्म व संस्कार के क्षेत्र में होता है; इसलिये हम लोग इस चालू वाजार के कारोबारी हिसाव के खाते में उसके फलाफल के अङ्कों को दर्ज होते हुए नहीं देख पाते। यहाँ तक कि कुछ उल्टा फल भी देख सकते हैं। उससे घवराने से नहीं चलेगा। होम्योपैथिक high potency (उच्च शक्तिसंपन्न) औषध की भाँति काम आरम्भ होता है गम्भीर स्तर में, एवं वहाँ 'मन्थन-आलोड़न' के फलस्वरूप अनेक सूक्ष्म, गूढ़, दृढ़, अशुभ संस्कार शिथिल या हल्के होकर ऊपरी सतह में तैरने लग जाते हैं अर्थात् aggravation अर्थात् रोग के लक्षणों की सामयिक वृद्धि भी हो सकती है, उससे रोगी अथवा वैद्य किसी को भी घवराने का कारण नहीं है। जप के 'जंगली सूअर' के आने पर 'मूषिकवृद्धि' नहीं, 'गजक्षय' होता है—वह (गज) वृहत्, वलवत्, अशुभ, संकीर्ण अथच उदग्र होकर क्रुद्ध वन कर भय दिखा रहा है। वैखरी जप की क्रिया 'अन्नमय' कोष में आरम्भ तो होती है, किन्तु 'समर्थ' जप होने पर वह 'प्राणमय' 'मनोमय' इत्यादि क्रम से सत्ता के गम्भीर से गम्भीरतर स्तर में जा कर काम किया करती है। समर्थ जप का असली काम एक वाक्य में यही है—इस स्थूल, सूक्ष्म, कारण-यन्त्र के भीतर जहाँ-जहाँ स्पष्ट अथवा गोपन, विषम अथवा विषच्छन्द का 'दौरात्म्य' है, वहाँ-वहाँ सुषम अथवा मधुच्छन्द लाकर सौष्ठव और स्वाच्छन्द्य लौटा देना। विषमच्छन्दः disharmony को कहते हैं 'असुर' अथवा सूक्ष्म के क्षेत्र में 'पाप्मा'। समर्थ जप की क्रिया के फलस्वरूप जो 'असुर' है वह वनता है 'सुर'। जप में यन्त्रशुद्धि होने का अर्थ है, 'अपहतपाप्मा'* होना। 'मूल मन्त्र यन्त्र भरा, शोधन करि वॅले तारा'। (मूल मन्त्र और यन्त्र तक का शोधन करके 'तारा' कहती हैं)। 'तारा' माँ का तारक ब्रह्म नाम तो है ही, उसके अतिरिक्त तारा=तार—ऊँकार भी है। जप से 'पाप्मा' अपगत होगा। अपगत होने का अर्थ वेमालूम या अदृश्य हो जाना तो नहीं है। अलग हो जाना और elimination (अपगत हो जाना) ही उसका अर्थ है। मूल में यही होता है - पाप-पुरुष वाहर निकल जाता है और वाद में हट जाता है। वाद में अवश्य ही विज्ञान और आनन्द की शुद्ध भूमि में पहुँच कर 'पारस पत्थर' का सन्धान मिलने पर सभी कुछ 'सोना' हो जाता है—'विषोऽपि अमृ-

---

* य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः..................
(छान्दोग्योपनिषत् ८.७.१)—अनुवादिका।

तायते'। मधु-कैटभ संहार हुआ, किन्तु उनके मेद से बनी 'मेदिनी'। यही हुआ transformation, sublimation **'व्याप्तिदेव्यै नमो नमः'**; † तब **'चितिरूपेण'** और **'भ्रान्तिरूपेण'** दोनों ही एक वस्तु हो जाते हैं।

किन्तु दूसरी और असली बात है जप को 'समर्थ' अथवा 'वीर्यवान्' बनाना। जपवीर्य में अमोघ शक्ति है। किन्तु जपवीर्य होता कैसे है? श्रुति कहती है—कोई भी काम क्यों न किया जाय, वह **'विद्यया श्रद्धया उपनिषदा वा वीर्यवत्तरं भवति'*** (विद्या, श्रद्धा अथवा उपनिषद् से अधिक वीर्यवान् हो जाता है)। वैषयिक, आध्यात्मिक सभी कुछ में ऋद्धि-सिद्धि के निमित्त अत्यावश्यक हैं—ये तीन। विद्या का अर्थ यहाँ प्रयोग-पद्धति (मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र) व्यवहार-विज्ञान अथवा 'आर्ट' है। जैसे प्राचीनकाल में 'मधुविद्या' 'दहरविद्या' 'पञ्चाग्नि-विद्या' इत्यादि थीं। वर्तमानकाल में कोई भी काम सुष्ठु सफल भाव से करने का जो correct technique (सही प्रविधि) है, उसे ही उसका Art कहते हैं। 'श्रद्धा' का मोटामोटी अर्थ है--काम के साथ हृदय का योग। काम में 'दर्द' होने का अर्थ है उसमें सचमुच का interest या रुचि होना, इससे आन्तरिकता, ऐकान्तिकता, विश्वास आते हैं। और उपनिषद् अर्थात् रहस्य अथवा अन्तर्निहित तत्त्व का ज्ञान। यह अन्तिम है science; mystic science भी है। ध्यान दीजिए कि श्रुति ने 'वा' शब्द का प्रयोग किया है। 'वा' अर्थात् विकल्प भी होता है और समुच्चय भी। अर्थात् तीनों ही चाहिएं, किन्तु तीनों में से कम से कम एक का वीर्य, यानी 'जोर' रहना चाहिए। और श्रद्धा ही जब मूल में है, तब मूल में जोर पकड़ने पर शाखा में भी जोर होगा। एक में यदि जोर रहेगा तब कर्म (जप) 'वीर्यवत्' होगा। अन्यथा 'वीर्यहीन' 'निर्वीर्य' जैसे ढोंढा (निर्विष) साँप होगा। ढोंढा साँप के सिर पर

---

† इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नमः ॥७७॥
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥७८॥
या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥७४॥
(दुर्गासप्तशती — अध्याय ५) — अनुवादिका।

* छान्दोग्योपनिषत् १.१.१०—अनुवादिका।

सात राजाओं का धन माणिक नहीं रहता है न ! जप यदि 'ढोंढा' हो जाय तो मामूली हो जाता है, जैसे धीमा त्रिताला, यहाँ तक कि morbid (व्याधिग्रस्त)। और भी ध्यान दीजिए – श्रुति ने 'वीर्यवत्तर' कहा है, 'वीर्यवत्तम' नहीं कहा। उसका अर्थ है कि विद्या-श्रद्धा-उपनिषद् के सहकार से अनुष्ठित सभी प्रकार की क्रियाओं की 'वीर्यवत्ता' की, जोर पकड़ने की, एक तर-तमता, क्रमोन्नत धारा, अथवा 'अभ्युदय' है, सुतरां एक काष्ठा की, अथवा पूर्णता की, अथवा निःश्रेयस् की ओर प्रवणता है। इस धारा को कह सकते हैं शङ्कर-धारा। यह शुक्ल धारा है। विद्या, श्रद्धा, उपनिषद् के शैथिल्य, वैकल्य, क्लैव्य के कारण इसके विपरीत भी होता है। उस उल्टे स्रोत एवं तज्जन्य जड़-तुल्य मलिन उच्छृङ्खल भाव को कहते हैं धूम्र-मलिन सङ्करधारा। पहले का तालव्य 'श' है यह दन्त्य 'स' है। शङ्करधारा वही शाश्वती गङ्गाप्रवाह है, भगीरथ ने तपस्या करके जिसे आदिविद्वान् के अभिशप्त धरणीतल में अवतीर्ण कराया था। हमारे सभी कामों में वही करना होता है। अङ्गार को लेकर ही आरम्भ करना होता है। अङ्गार बनेगा अङ्गिरस्। गीता ने 'तपः' को तीन रूपों में कहा है। प्रकारान्तर से वही विद्या-श्रद्धा-उपनिषद् है। विद्या-श्रद्धा-उपनिषद् गङ्गा-यमुना-सरस्वती की त्रिवेणी है। सरस्वती वहुत दिनों से वालुका में छिप गई हैं। जप के वा अन्य किसी अध्यात्म साधन के रहस्य के सन्धान में हमलोग वहुत दिनों से नहीं हैं। किन्तु, सन्धान तो चाहिए। प्रचलित, अनुसृत, विद्या भी खण्डित, कुण्ठित, कृपण है। सिद्धविद्या—correct technique क्या मौखिक वातों से आयत्त की जा सकती है ? और श्रद्धा ? प्रायः सभी **'अश्रद्दधानाः'** हो गये हैं। वुद्धि के जिस permit की वात मैंने कही है वह अनेक क्षेत्रों में जाली, नकली हो गया है। सत्य का कारोवार प्रायः वन्द है। इन तीनों का ही उन्मेष-उत्कर्ष होता रहेगा—ऋद्धि-विवृद्धि होगी, जव तक पूर्णता पर, पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचते हैं। अनन्त चढ़ाई-उतराई के पथ में अनन्त के यात्री का क्या होगा ? वैसा नहीं है। कुछ चलने के वाद कृपा का सन्धान मिलता है, तव पङ्गु भी गिरि-लङ्घन कर लेता है। पहले प्रयास फिर प्रसाद, पहले race फिर grace.

श्रद्धा ही मूल है इसमें संदेह नहीं। **'विश्वासे मिलये कृष्ण'**।* किन्तु

---

* 'विश्वासे मिलये कृष्ण, तर्के वहु दूर।' यह बंगला की सुप्रसिद्ध उक्ति है। तुलनीयः—चैतन्यचरितामृत की यह उक्ति – "विश्वासे मिलये, तर्के हय वहु दूर।" (मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद, २६)—अनुवादिका।

श्रद्धा के तामस होने पर उससे विशेष कुछ बनता नहीं। श्रद्धा-वीर्य रहना चाहिए। उसके होने पर विद्या भी होगी, उपनिषद् भी होगी। जो साधक गरजी, दर्दी, मर्मी है, उसके लिये सभी दरवाजे खुले हैं। जिसे गरज है, वह गरजी है - व्यस्तवागीश वा हठकारी नहीं। जिसके हृदय में व्यथा है वह दरदी है, जिसके मर्म में कुछ वज उठता है वह मर्मी है। जो दो के बीच एकतानता (unison) ला देती है, उसी को कहते हैं श्रद्धा। नाम और नाम-दाता की सत्ता-शक्ति के साथ साधक की सत्ता-शक्ति की जब समच्छन्दता (concordance) चालू होती है तभी कहेंगे कि नाम में अथवा गुरु में श्रद्धा हुई। श्रद्धा की थोड़ी-सी 'छूत' लेकर सभी काम शुरु करना होता है—अर्थात् यथासम्भव अन्तर का योग रखना होता है। किन्तु 'श्रद्धावीर्य' अनेक साधनों का धन है। श्रद्धा जब आ गई तब समाधान में और क्या बाकी रह गया ? इस विश्वास, इस व्याकुलता की कथा ही तो 'श्रीमुख' से सुनी है। 'श्रीकर्ण' की श्रद्धा हुई है क्या ?

सभी व्यवहार-क्षेत्र में इन तीनों वज्रों के मिलने पर ही सिद्धि होती है, यह बात हम स्वतःसिद्ध की भाँति स्वीकार करते हैं। सभी सिद्धियों के लिए रहस्यविद्, प्रयोगकुशली, एवं श्रद्धालु साधक चाहिये। किन्तु आश्चर्य है, जप या और किसी आध्यात्मिक साधन के समय यह बात हमें याद नहीं रहती। तब नितान्त निरीह यन्त्री के हाथ में यन्त्र का स्वांग बनाकर कृपा की दुहाई देते हैं, निर्भर शरणागति की दुहाई सुनाते हैं। **'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'*** हैं न ! कृपा कहते हैं किसे ? निर्भर शरणागति जब-तब जहाँ-तहाँ 'पतन' और 'मूर्च्छा' का भाव ला सकने से ही हो जाती है क्या ?

कृपा अहैतुक, शाश्वत एवं सर्वत्रग होने पर भी उसके साथ 'सजीव संयोग' अनेक साध्यसाधन से संघटित होता है, और शरणागति तो ठाकुर के चरण में मेरा श्रेष्ठ और चरम अर्घ्य दान है; जो अकैतव कातर कृपाभिखारी है उसके समीप ही न कृपाघनमूर्त्ति ठाकुर 'प्रकट' हैं ! सभी छोड़ (**'सर्वधर्मान् परित्यज्य'**†) न सकने पर **'तदेकशरण'** नहीं हुआ जाता। इसलिये आत्म-निवेदन (विशेषतः भक्त की भाँति किसी निष्कैतव भाव वा रसके आश्रय से) है 'साध्यशिरोमणि'। हाँ, अवश्य विद्या-वीर्यादि के साथ-साथ 'जोश' के साथ

---

* श्रीमद्भगवद्गीता २·७—अनुवादिका।

† वही १८·६६—अनुवादिका।

ही शरणागति और कृपाभिखारी के अनुकूल मनोभाव लाने का साधन भी फ़रना होता है। नहीं तो, श्रद्धा का मूल बोदा (कच्चा) होकर या सड़कर सूख जायेगा। जपादि भी करूँगा और दोनों समय जड़-समेत पौधे को उखाड़ कर भी देखूँगा कि जड़ कितनी बड़ी हुई ! मानो मूल का हिसाब रखने का भार उस पर है जो स्वयं शाखा-पल्लवचारी है ! मूल की चिन्ता करेंगे जो मूल के मालिक हैं। "मनुया रे तुई बेये जा रे दाँड़। तोर हायिल्या बस्या आछे, माझी भावना की रे आर।" "मनुआ ! तू डाँड़ चलाता जा, तेरे माँझी तो बैठे हुए हैं, तुझे और क्या चिन्ता है ?"

———

जप—रहस्य

(१)

हमने अब तक शब्द एवं रूप वा मन्त्रशक्ति एवं यन्त्रशक्ति के सम्बन्ध म आलोचना की है। अब शब्द या मन्त्र का आश्रय लेकर जो जपक्रिया अनुसृत होती है, उसके सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ आलोचना करेंगे। जप-कर्म का रहस्य परिस्फुट करने के लिए ही मुख्यतः इस ग्रन्थ की अवतारणा है। हाँ, मूलग्रन्थ के अनुधावन के पक्ष में सुविधा के लिए प्रारम्भ में एक मोटामोटी संक्षिप्त आलोचना कर लेने में कोई हानि नहीं है। इसीलिये यहाँ एक 'ढाँचा' खड़ा करने की चेष्टा की जाती है।

जप का स्वरूप-विश्लेषण करने पर देखा जाता है कि जप—ध्वनि (व्यक्त वा अव्यक्त), संख्या और भाव (अर्थ)--इन तीनों की त्रिपुटी है। वाक्, प्राण एवं मन—यथाक्रम से इन तीनों के निर्वाहक हैं। श्रुति की सांकेतिक भाषा में ये—अग्नि, आदित्य, चन्द्रमाः हैं। प्रत्येक पुनः स्वानुगत, स्वगत और समष्टिगत—इस प्रकार त्रिविध हैं। मान लें 'गुरु' यह मन्त्र है। ग्+उ +र्+उ—चार अक्षर हैं। 'समर्थ' जप में प्रत्येक अक्षर की स्पन्दन संख्या और स्पन्दक रीति (या छन्दः) एक निर्दिष्ट 'आकृति' (pattern या type) के अनुरूप होनी चाहिये। यह हुई 'गुरु' इस मन्त्र की स्वानुगत 'संख्या' (elements of rhythm)। उसके बाद केवल अक्षरव्यक्तियों की संख्या (=संख्या+रीति) ठीक-ठीक रखने से ही नहीं होगा। उनका मिलन (compounding) भी ठीक होना चाहिए—जैसे चारों अक्षरों का स्पन्दन यदि व्यर्थ में अन्तरित या व्यवहित हो जाय तो नहीं चलेगा; व्यवधान में विवादी स्पन्द प्रविष्ट होने से नहीं चलता, इत्यादि। सुतरां ग् उ र् उ—इनके अलावा भी 'गुरु' नाम की एक स्वगत संख्या और रीति है। उसके बाद मान लें इस मन्त्र का जप किये जाता हूँ। १० बार, १०८ बार इत्यादि। इसके द्वारा समष्टिगत एक स्पन्दन, संख्या और रीति प्रस्तुत होती है। वह 'आकृति' और 'आयतन' में (in type and magnitude), एक निर्दिष्ट काष्ठा (limit) में यदि उपनीत न हो तो समर्थ जपकर्म नहीं होता। मान लें, मैं लाल रंग देखना चाहता हूँ। आलोक-तरंगों के आयतन (wave length)

और संख्या के एक निर्दिष्ट सीमा में न पहुँचने पर वह नहीं होता। शब्द के, स्वर के समय भी वही है। ठीक-ठीक आकृति और परिमाण में कमी-बेशी होने पर नहीं चलता। स्पन्दन एक-दूसरे के साथ भग्नांश-सम्बन्ध से रहें तब भी नहीं चलेगा। एक पूरे composite rhythm वा harmony की सृष्टि होनी चाहिये। तभी उनका संघात समर्थ होगा। स्वानुगत, स्वगत— इनके भग्नांश में समाहार होने पर उस (संघात) में समर्थ समुच्चय वा संग्रह (cumulative effect) नहीं होता। जड़ विद्या कहती है - सामान्य एक मृदु कम्पन (oscillation) यदि ठीक एक ही ताल में क्रमागत रूप से प्रयुक्त हो, तो वह एक पर्वत को भी उखाड़ फेंकेगा। मन्त्रशक्ति अमोघ होती है, समर्थ, समञ्जस समुच्चय द्वारा। फिर स्पन्दन दीर्घ, मध्य, ह्रस्व--(long, medium, short) भाव से त्रिविध है। अनुदात्त, स्वरित, उदात्त; वाचिक, उपांशु, मानस इत्यादि भेद इस प्रसंग में आलोच्य हैं। दीर्घायत स्पन्दन में (तरंग में) यह 'उच्चता' कम होने की वात है। ह्रस्व में उच्चता अधिक है। 'तल' 'लम्ब' एवं 'वेध' इन तीन पर्वों में जपादि का विश्लेषण (analysis) एवं उनकी द्योतना (interpretation) मूल ग्रन्थ में सविशेष मिलेगी। पाद (magnitude), मात्रा (measures) कला (moment, aspect or partial) एवं काष्ठा (limit, merger or motive)-- इस 'चतुःसूत्री' के अवलम्बन से सर्वविध विश्लेषण हो जाता है। जैसा विश्लेषण संख्या-विषयक है, ध्वनि और भाव को लेकर भी उसके अनुरूप ही विश्लेषण होगा। सुतरां जप यदि वैखरी आदि भेद से चार हों, तो प्रत्येक पूर्वोक्त नियम से-- ३×३×३। ∴ ४×३×३×३=१०८। कहना न होगा, पश्यन्ती और परा में जप मुख्यतः भावरूप और ज्ञानरूप होने पर भी उसका अव्यक्त क्रिया (स्पन्द)-रूप है। सुतरां स्पन्दनियामक रीति (law) वहाँ भी निरवकाश नहीं हुई है।

(२)

किन्तु पूर्वोक्त स्पन्दन समताल में होना चाहिये। समताल में होने पर एक अनुरणन (resonance) की सृष्टि होती है। जप-क्रिया का साफल्य (efficacy) मुख्यतः इस resonance effect के ऊपर ही निर्भर रहता है। मान लें, कोई वाद्य यन्त्र (जैसे सितार) वजा रहा हूँ। मेरी अंगुली द्वारा तार की झङ्कार, किस प्रकार resonance effect अथवा अनुगमन के द्वारा कितनी समृद्ध (augmented, enriched) हो रही ह, यह सहज ही

समझ में आ सकता है। सितार ठीक मिला होने पर उक्त प्रभाव (effect) सौष्ठव और पूर्णता लाभ कर सकता है, अन्यथा व्यतिक्रम होता है। निकट में अन्यान्य यन्त्र भी यदि 'सम अनुपात' में मिले हों तो सितार की झंकार उन सब में भी 'अनुरूप' अनुरणन (resonance effect) की सृष्टि करेगी। असली बात है—अनुरूपता। बजाना सितार पर हो अथवा और किसी यन्त्र पर हो—जहाँ भी अनुरूपता के बदले विरूपता होती है, वहीं वाद्य के स्पन्दन (vibrations) उन सब छन्दों में नहीं आएंगे जो कि समञ्जसता या harmony-समूह (harmonic combination) के नियामक छन्दः (equations) हैं; सुतरां उनका संघात (combination) समञ्जस (harmonic) न होकर अननुरूप, असमञ्जस, विषम (unharmonic) होगा। विरूपतावशतः अनुरणन (resonance effect) न होकर तरंग-समूह (waves) वक्रीभाव, विषमता (refraction, defraction) इत्यादि (effects) में विभक्त होकर नानाविध जटिल विरोध (interference effect) की सृष्टि करेगा। फल होगा—परस्पर-विरोध, उपमर्द, कोलाहल। मूल स्पन्दन का प्रतिस्पन्दन विवादी, विसंवादी होगा। तरंग-समूह के संवादी अथवा विवादी होने के कुछ-एक सहज गाणितिक नियम हैं। गणित-शास्त्र और शब्द-विज्ञान में उन सब नियमों के विश्लेष, विस्तार एवं परीक्षादि हैं। जैसे गीत और वाद्य के समय, वैसे ही जपकर्म के समय भी स्पन्दनगत और स्पन्दन-जन्य समञ्जसता (harmony) अथवा असमञ्जसता (discord) उक्त नियमों का शासन मानकर चलती है। जप के ज्ञानरूप एवं भावरूप--इन दो के साथ-साथ एवं इन दो के 'आधार' एवं 'उद्‌बोधक' के रूप में कर्म अथवा क्रियारूप है, एवं वह क्रिया स्पन्दनात्मक है। जप के भाव एवं ज्ञानरूप में 'क्रिया' का स्पन्दनरूप अस्तमित वा विलीनप्राय प्रतीत होता है; किन्तु 'स्पन्द'-रूप है, सुतरां जपकर्म है। एकान्त नैष्पन्द्य में जपकर्म का ही लय है। वह जपातीत वा 'अजप' (अजपा नहीं) अवस्था है।

अब देखें, जपक्रिया होती कैसे है? प्राणभूमि से प्राण के ऋतच्छन्द में उत्थित होकर जप स्थूल रूप में दिखाई देने पर उसके स्पन्दन को पूर्वोक्त अनुरूपता-विरूपता के नियम में पड़ना ही होगा। हाँ, सूक्ष्म में भी अनुरूपता-विरूपता का नियम है। किन्तु वह साधारण हिसाब और परीक्षा के बाहर है। स्थूल का नियम (law) सूक्ष्म का संकोचरूप (व्याप्ति एवं वीर्य दोनों ओर से ही) है। अर्थात्, सूक्ष्म में जो ऋत है उसकी व्याप्ति (field) भी बड़ी

है, एवं उसका वीर्य 'शक्तिमान' भी अधिक है। स्थूल का हिसाब (calculation) अपेक्षाकृत 'सङ्कीर्ण सामग्री' (restricted data) लेकर चलता है, इसलिये उसे सरासर सूक्ष्म के क्षेत्र में नहीं चलाया जा सकता। तथापि यह कहा जा सकता है कि जपकारी का यन्त्र (अन्नमयादि) या तो—(१) एकान्त अनुरूप है (अर्थात् पूर्ण श्रद्धा से (मिला हुआ) है; नहीं तो (२) एकान्त विरूप (बिल्कुल श्रद्धाहीन) है; अथवा (३) आंशिक-भाव में अनुरूप (श्रद्धा के ६ कल्पों में से पूर्व-पूर्व कल्पों से क्रियाशील) है। प्रथम स्थल में अनुरणन (resonance effect) पूरा होगा, फलतः जपक्रिया में 'समूह' साधित होगा। दूसरे में विषमता (interference effect) अतिमात्रा में प्रबल होंगे, फलतः 'स्तब्ध व्यूह' अथवा 'व्यामोह' घटित होने की संभावना ही अत्यधिक है। जप के द्वारा संस्थान (system) एवं परिवेश (environment) में जिन सब प्रतिस्पन्दनों (reactions) की सृष्टि होगी, वे अत्यन्त विषम और विरुद्ध (overpoweringly unharmonious and unhelpful) हो सकते हैं। इस विषमता के कारण स्तब्ध व्यूह (मूढ़रूप—inert staticity) एवं व्यामोह (घोररूप—dissipating excitability) दीखता है। तीसरी होती है—जप-साधन की साधारण अनुकूल अवस्था। आंशिक अनुरूपता का आश्रय लेकर जपक्रिया एक wedge वा शलाका की भाँति साधन-यन्त्र में और शक्तिक्षेत्र (functional field) में प्रविष्ट होगी। वह क्रमशः समग्र यन्त्र के सूक्ष्म अवयवों के विन्यास को एवं क्रिया के छन्द को तदनुरूप भाव से बदल लेगी। जड़ और प्राणराज्य के मौलिक परिवर्तन इस प्रकार ही साधित होते हैं। Atomic number, molecular distribution, chromosomes and gene—इनका परिवर्तन बाह्य-कारणवशतः होने पर—इसी प्रकार हुआ करता है। आन्तर-कारणवशतः होने पर भी परिवर्तन की रीति एवं रूप पूर्वोक्त प्रकार के ही होते हैं। यन्त्र जिस अनुपात में अनुरूप होता चलता है, उसी अनुपात में उससे अनुरणन-समुदाय का resonance effect अधिक हुआ करता है। केवल जप ही क्यों, सभी अभ्यासों में यन्त्र की एक molecular aptness, सुतरां functional readiness, एक उपादानगत योग्यता, सुतरां मौलिक उन्मुखता की सृष्टि होती चलती है। अर्थात् यन्त्र बजाते-बजाते उसके बीच एक स्वाभाविक सुर-प्रवणता सृष्ट होती चलती है। सुतरां तब वह अंगुलि-स्पर्शमात्र से ही स्वर में और ताल में बज उठने का अभ्यस्त हो जाता है, बेसुरा वा बेताला नहीं

होना चाहता। इस प्रकार के समर्थ जप से अन्नमय कोष की एवं उत्तरोत्तर और-और कोषों की भी विरूपता दूर होकर अनुरूपता की सृष्टि होती है। स्थूल देह में अनुलोम और अनुकूल पोषण (harmonic secretions), सूक्ष्म में कुण्डलिनी का जागरण एवं चक्रों का उन्मेष, कारण में 'आणवमल'-शुद्धि—सभी इस क्रिया के फल हैं। किन्तु जप का अभ्यारोह वा लक्ष्याभिमुख में आरोहण सर्वत्र अनायास नहीं होता। इसका कारण यह है कि चार प्रकार की बाधाएँ आकर विकास के पथ को अवरुद्ध करना चाहती हैं। इन बाधाओं के कारण ही चरितार्थता सहज नहीं होती। बाधाएँ हैं—(१) काल (=उपस्थिति) निमित्त=प्रतिरोध; (२) देश (=परिस्थिति) निमित्त=अवरोध; (३) वस्तु (=अवस्थिति वा अवस्थान) निमित्त=निरोध; (४) छन्द (=संस्थिति वा संस्थान) निमित्त=विरोध। वैदिक उपाख्यान में यथाक्रम से अहि, पणिः, वृत्र और असुर (=अ-सुर=बेसुर)। प्रथम+द्वितीय=resistance due to space-time-interval; तृतीय=due to ingress or intrusion, चतुर्थ=due to interference।

बाह्य अथवा आन्तर कोई भी यन्त्र (apparatus) लेकर कोई साधन करने पर, साधन के समर्थ एवं सफल होने के लिये इन चार प्रकार की प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में पाना होता है अथवा कर लेना होता है। मान लो, दूर-वीक्षण की सहायता से आकाश में कोई ज्योतिश्चक्र देखेंगे। उसके लिए—(१) रात्रिकाल एवं सम्भवतः एक निर्दिष्ट समय भी चाहिए; (२) objective conditions suitable होना चाहिए, जैसे मेघमुक्त आकाश इत्यादि; (३) मन्त्र अनुकूल दशा में (in a fit condition) होना चाहिए एवं (४) मन्त्र को ठीक दिशा (correct orientation) में सन्निविष्ट (adjust) करना चाहिए। इन सभी का समाहार न होने पर प्रवृत्ति सफल नहीं होगी। मन का व्यापार भी इसी प्रकार है। इस क्षेत्र में—(१) time factor है अनुकूल वासना वा संस्कार का उदय, प्रतिकूल का विरोध वा क्षय। इसका नाम है शुभ-वासना। (२) space factor—केवल शुभवासना होने से ही नहीं होता। बाहर की परिस्थिति भी अनुकूल होनी चाहिए। इसे कहते हैं शुभयोग। मान लो, जप करने बैठते हो, किन्तु बाहर (अपना यह स्थूल देह भी 'बाहर' में ही शामिल है) बहुत झमेला है। तब जप में विघ्न होगा। (३) Instrumental factor—मान लो, शुभ-वासना, शुभ-योग आ गया है, किन्तु चित्त यदि (क) धृतिगृहीत अथवा (ख) रतिगृहीत

होकर (अर्थात् धैर्यवीर्यसमन्वित होकर, एक शब्द में कहें तो मतिगृहीत होकर) कार्य करने में अभ्यस्त न हो तो समर्थ और सफल साधन नहीं होता। (४) Accordance factor—मानो शुभवासना, शुभयोग एवं शुभाग्रह (यह तृतीय अनुकूलता का नाम है)—तीनों ही हैं, किन्तु अभीष्ट वस्तु के साथ जैसी 'सन्धि' (correspondence वा accordance) करनी चाहिए वैसी नहीं हो रही है। तव भी सफलता नहीं होगी। इष्ट के साथ शुभ-सन्धि भी चाहिए। इस शुभ-सन्धि को श्रद्धा कहते हैं। यह शुभ-सन्धि एक ही बार में नहीं बन जाती। इसकी क्रमशः अनेक भूमियाँ व कल्प हैं। शुभवासना और शुभयोग के आधार पर शुभाग्रह, शुभसन्धि वा श्रद्धा (adjusted, attuned) अवस्था होने पर जपादि-साधन 'समर्थ' होता है। भगवान् की अनुग्रह-शक्ति सूर्यरश्मि की भाँति सतत समन्तात् विक्षिप्त होती है अवश्य, किन्तु साधारणतः उस संवन्ध में जीव का यन्त्र 'पराञ्चि' (scattering, dissipating) होने से वह रश्मिसमूह divergent वा विक्षिप्त, सुतरां कार्यतः अनभिव्यक्त रह जाता है। जीव के भीतर आग्रह जागने पर यन्त्र एक concave mirror (नतोदर दर्पण) की भाँति 'पराञ्चि' को 'प्रत्यञ्चि' अर्थात् convergent (संहत और केन्द्रग) करने में समर्थ होता है। convergent होते-होते एक केन्द्र (focus) में घनीभूत होने पर गुरुशक्ति निष्पन्न होती है। तव उस केन्द्र के साथ 'श्रद्धा' के सहयोग से अपनी शुभसन्धि (right accordance) स्थापन कर सकने पर काम का ठीक रास्ता पकड़ में आया समझना चाहिये।

शुभ-वासना, शुभयोग, शुभाग्रह, शुभसन्धि—इस क्रम में काल, देश, वस्तु एवं छन्दोगत वाधा दूर होती है। साधन की पूर्वभूमि में ये सब वाधाएं पराभूत हो जाने पर भी, मध्य एवं उत्तर-भूमि में फिर नूतन आकार में दिखाई दिया करती हैं। मध्य और उत्तरभूमि क्या है एवं उनमें वाधाएं किस आकार की हैं और उनका पराभाव कैसे हो सकता है, यह धीरभाव से चिन्तनीय है। योग, भक्ति एवं ज्ञान—त्रिविध साधन में ही इन (वाधाओं) के आकार-प्रकार चिन्तनीय हैं। श्रीश्रीचण्डी के तीन माहात्म्य साधन की पूर्व, मध्य एवं उत्तर भूमि के रूप में भी विवेचनीय हैं। मुख्यतः उक्त भूमित्रय चेतना के 'अव' 'सम' एवं 'अति' (sub, normal or liminal, super) तीन 'स्तर' या 'तल' हैं। प्रथम तल में 'योगनिद्रा' से उत्थित विशुद्ध सत्त्व हुआ पराभवशक्ति (आत्म कृपा)। द्वितीय तल में अभिव्यक्त निखिल दैवी सम्पत् संग्रह होकर पराभव-शक्ति (गुरु-कृपा; दैवी सम्पद्=बहिर्विश्व में cosmic rays की

भाँति, अन्तर्वहिः सर्वत्र सतत समन्तात् विक्षिप्त अनुग्रह-शक्ति; उन सवका संग्रह=केन्द्रीभाव, focussing=गुरुशक्ति)। साधक की आग्रहशक्ति वा 'आत्मकृपा' द्वारा विपुल, विश्वजनीन दैवी सम्पद् को 'canalize' वा 'धारा-रूप' करना होता है। यही श्रुति की भाषा में 'दुहाना अमृतस्य धाराम्'* है। इसी को उद्देश्य करके मृत्युरूप तमसा से उत्तरण के निमित्त देवताओं ने गायत्री छन्द का वरण किया था। तृतीय तल में, अर्थात् चेतना के ऊर्ध्वतन स्तरों में वहुधा क्रियमाणा दैवीसम्पद् (ज्ञानैश्वर्य इत्यादि) एकता में, अद्वैत में अधिष्ठित और परिसमाप्त है, यह दिखा कर (जैसे—शुम्भवध में देवी की उक्ति है—'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'†) तव पराभव होता है। यह विशेष रूप से भगवत्कृपा है। इसके विना शेष ग्रन्थियाँ किसी प्रकार अपगत नहीं हो सकतीं। पहले आग्रह=शुभवासना+श्रद्धा+वीर्य (=आत्म-कृपा) की सृष्टि है; उसके वाद प्रत्यक् प्रवण उज्ज्वल धारा (सङ्कर छन्द के अवसान में शङ्कर छन्द) का पालन और पोषण (=गुरुकृपा) है; अन्त में आत्मनिग्रह वीज का लय है—अर्थात् जो वीज जीव को विश्ववाधा-यन्त्र में पातित करता है, उसे कभी संकुचित, कभी प्रसारित करके उसका 'निग्रह' (नितरां ग्रहः) करता है, उसका लय है। यह भगवत्कृपा है। एक कृपा के ही तीन प्रकाश हैं। जैसे एक चक्र की नाभि, अर (सेतु वा सन्धि) एवं नेमि (परिधि) होते हैं; अथवा जैसे अव्ययनिधान (आकर), वीज एवं क्षेत्र वा स्थान है। वाधाओं का चार प्रकार से प्रतिषेध करना होता है। जैसे :—

(१) वाधा के साथ समतल में वा समसूत्र में (same direction में) रह कर तुल्यवल प्रतिपक्ष द्वारा (by equal and opposite force) प्रतिषेध—यह अभ्यासयोग है।

(२) वाधा के साथ समतल में हूँ, किन्तु समसूत्र में नहीं (changed direction में) हूँ। वाधा का प्रहार (blow) ढाल पर नहीं ले लेता हूँ। निज की 'अवस्थिति' (angle of reaction) को ही अन्यमुख कर डालता हूँ। यह वैराग्य-योग है।

(३) निज के 'तल' को ही वदल लेता हूँ—यह अनासक्त योग है।

---

* तुलनीय : अमृतस्य धारा वहुधा दोहमानम् (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.४.१.८)
† दुर्गासप्तशती १०.५। —अनुवादिका।

(४) बाधा का बाण जिस मूल धनु से निकल रहा है, उसकी डोर (ज्या) काट देता हूँ। जिस मूल अज्ञान के अथवा स्वरूप-सम्वन्ध-परिचयाभाव के आधार पर यह समस्त ही अध्यस्त है—वह आधार ही नहीं रहा। इसे कह सकते हैं--अस्पर्शयोग। बौद्ध साधन में जो कि नवम ध्यान (संज्ञा और वेदना दोनों का जहाँ अभाव है) है, वह एवं माण्डूक्यकारिका का अस्पर्शयोग यहाँ विवेच्य है। यहाँ केवल $x+y+z=0$ ऐसा नहीं; $z=0$, $y=0$, $z=0$ है। प्रथम समीकरण (equation) से 'फल' नित्य नहीं होता; क्योंकि x, y, z कोई भी व्यक्तिगत रूप से अपगत (individually vanish) नहीं हुए हैं, सुतरां उनके पारस्परिक अनुपात के पुनः व्यतिक्रम का भय समीप है। किन्तु सचमुच का अस्पर्शयोग 'अभय' है, यद्यपि कहा जाता है कि योगी लोग सचराचर इससे भय पाते हैं। उक्त चार प्रकार के योग में मुख्यतः वाधा को हटाने या उससे वचने का प्रयास स्पष्ट है। किन्तु ये सभी आत्मा ही अथवा ब्रह्म ही हैं; सुतरां जो 'विष' है वह भी असल में अमृत है, 'जो 'भय' है वह भी अभय है—इस प्रकार के तादात्म्य एवं सामरस्य की उपलब्धि से पूर्वोक्त आहुति-चतुष्टय की समापन-रूप 'पूर्णाहुति' अन्त में करनी होती है। यह समापत्ति या सामरस्य योग है। इसके विना सव अवस्थाओं में सर्वदा नित्योदित आनन्द नहीं है। भक्ति-साधना की दृष्टि से भी इन सवकी अनुरूप-भाव से आलोचना आवश्यक है। उस क्षेत्र में सम्वन्ध की ओर से, (१) तदारोपित सम्वन्ध, (२) तत्प्रपन्न सम्वन्ध; (३) तदेकाश्रित सम्वन्ध एवं (४) तद्भावभावित सम्वन्ध– ये सव सिद्ध होते हैं, क्रमशः पूर्वोक्त चार बाधाओं के अपगम से। अष्टाङ्गयोग में देशगत वाधा के जय के लिये धारणा है; कालगत वाधा के जय के लिये ध्यान है, छन्दः एवं वस्तुगत बाधा के जय के लिए दो प्रकार की समाधि है। चतुर्विध बाधाओं की ओर से सविकल्प के अन्तर्गत सविचार आदि चार भूमियाँ भी विचारणीय हैं। 'सानन्द' समाधि से विशेष भाव से छन्दोनिमित्त एवं 'सास्मित' से वस्तुनिमित्त बाधा का 'सापेक्ष' (conditional) अपगम हो जाता है। सापेक्ष-निरपेक्ष आदि का विचार मूल-ग्रन्थ में मिलेगा।

प्राचीन काल में किसी क्रिया के साथ-साथ उसकी विद्या भी उपदिष्ट होती थी। श्रुति में उसके भूरि-भूरि प्रमाण हैं। इसका रहस्य यह है कि उपासना मुख्यतः ज्ञान और क्रिया का मिलित वा युग्मरूप है। सुतरां इन सब क्षेत्रों में ज्ञान और क्रिया के निविड सम्मिलन और परिणय के विना जपादि साधन 'समर्थ' नहीं होता। यहाँ क्रियाहीन ज्ञान पङ्गु एवं ज्ञानहीन क्रिया अन्ध है।

प्रथम के फल में है केवल अवास्तव कल्पनालोक में विचरण, द्वितीय में केवल यान्त्रिकता के 'घानिपाक' (घानी का चक्कर) में आवर्तन ('श्रम एव ही केवलम्') है। इसीलिए इन दोनों विच्छिन्न पथों में सिद्धि का आलोक प्रस्फुटित नहीं होता; रस उत्सारित नहीं होता। प्रज्ञालोक बिल्कुल ही अन्तर्हित रहता है, क्योंकि प्राण वा प्रज्ञा का शरीर इन दोनों के 'मिथुन' से समुत्पन्न होता है। इस विच्छेद के फल के सम्बन्ध में श्रुति ने बार-बार सावधान और सतर्क किया है। 'अन्धं तमः प्रविशन्ति'* कह कर। हाँ प्रथम को, अर्थात् केवल ज्ञानी को और अधिक सावधान किया है, क्योंकि उसके सामने 'भूयः तमः†' है। द्वितीय में, अर्थात् केवल क्रिया में तब भी कुछ सचेष्टता है, इसीलिये क्रिया के संघर्ष में इस पवमानता में अन्धकार तब भी कुछ हल्का होता है। वहाँ (केवल ज्ञान में) विनियोग (application) के एकान्त अभाव में, केवल अपरिसीम निश्चेष्टता है, इसीलिये अन्धकार भी अन्तहीन है। इसीलिए हमारे शास्त्र में विचार और आचार के सम्मिलन के ऊपर ('उभयं सह*') इतना जोर दिया गया है। केवल इस 'साहित्य' वा सम्मिलन द्वारा ही 'मृत्युं तीर्त्वा...... अमृतमश्नुते।'‡ नहीं तो मृत्यु के अँधेरे में ही आवर्तन है।

हमने अब तक जपकर्म के आधार के रूप में जिस जप-'विद्या' वा 'विज्ञान' की आवश्यकता है, उसके सम्बन्ध में आलोचना की। अर्थात् जपकर्म के मूल (background) में जो महाविज्ञान वर्तमान है, उसका उद्घाटन करने का प्रयास किया है। जप, ध्यान, कीर्तन इत्यादि क्रिया के लिये तत्त्व-सम्बन्धी (theory का) आधार आवश्यक है, किन्तु अधिक आवश्यक है एक व्यावहारिक आधार (practical background) अथवा 'frame' (निरूपित क्षेत्र)। इस सम्बन्ध में अब संक्षेप में कुछ आलोचना करेंगे।

(क) जपसिद्धि का एवं जपक्रिया का मूल है श्रीगुरुशक्ति। भगवान् अपनी सृष्टि में अनुप्रविष्ट हुए हैं, मुख्यतः पाँच धाराओं में। इस ग्रन्थ में उन्हें 'पञ्चगङ्गा' संज्ञा दी गई है। इनके नाम हैं— संग्रहाख्या, प्रतिग्रहाख्या,

---

* बृहदारण्यक उपनिषत् ४।४।१० —अनुवादिका।

† वही—अनुवादिका।

‡ विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (ईशावास्योपनिषत् ११)
—अनुवादिका।

विग्रहाख्या, परिग्रहाख्या एवं अनुग्रहाख्या (तात्पर्य मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य है)। यह चरम और परम धारा ही गुरुशक्ति है। उपोद्घात में यह भी कहा गया है कि—श्रीगुरु श्रीभगवान् के मूल पञ्चावतार एवं प्रणव के पञ्चतत्त्व की एकाधार में सम्मिलित मूर्ति हैं, इत्यादि। यह गुरुशक्ति ही शलाका की भाँति प्रविष्ट होकर इन अशुद्ध, मलिन, आविल कोषों को क्रमशः शुद्ध, स्वच्छ, भास्वर कर लेती है—यह बात पहले कह चुके हैं। इसलिये इस गुरुशक्ति को सर्वभाव से आश्रय करना ही साधक का सर्वप्रथम और प्रधान कर्तव्य है। यहाँ एक वस्तु विशेष सहायक होती है; जपारम्भ में हृदय में, ललाट में अथवा 'शिरसि' श्रीभगवान् की शाश्वती और सर्वगा अनुग्रह-शक्ति के मूर्त-विग्रह श्रीगुरु का ध्यान करना होता है। इसके फलस्वरूप हम कारोबारी ढाँचा छोड़कर मानो एक नव कलेवर प्राप्त करते हैं, इसी का नाम श्रीगुरुदेव के कृपालब्ध अभिनव साधनदेह में भूमिष्ठ होना है। इसके लिये आवश्यक है इस व्यावहारिक भोग-देह का वोधदूरीकरण (thought elimination) एवं उक्त समर्थ-गुरु-कृपाजन्य शुद्ध साघनदेह-लाभ की भावना वा 'आत्मनिदेश' (auto-suggestion)। इसके द्वारा यन्त्र (apparatus) 'in tune' (श्रद्धान) होता है। यन्त्र के इस प्रकार सुर में मिले होने पर पूर्वोक्त अनुरणनों (resonance effects) के होने की विशेष सुविधा होती है। गुरुशक्तिरूप में शङ्करधारा में जो 'मूल स्पन्द' है, उसके साथ वैरूप्य ही है मल, अशुद्धि, दोष, कार्पण्य, 'अपराध', (परा नहीं, किन्तु अपरा में जो धूनन वा स्पन्दन है वही है अपराध)। इस वैरूप्य के कारण संकरधारा बनती है। इससे शंकरधारा में लौटने का उपाय है मूल के साथ अनुरूपता-साधन। गुणी स्वरशिल्पी के साथ स्वरसाधक को जैसे करना होता है,— 'गुरु के साथ सुर भरो'। पहले अनुरूप, वाद में क्रमशः 'प्रतिरूप' 'एकरूप' एवं 'समरूप' वा 'सरूप' – इस प्रकार पादमात्रा से, कला-काष्ठा से, 'परम' में पहुँचना होता है।

(ख) पूर्वोक्त साधनदेहलाभ की और एक प्रक्रिया तान्त्रिक सन्ध्यादि में देखी जाती है। वह भी विशेष सहायक है - यथा, बीजजप द्वारा प्राणायाम-पूर्वक इस पाप्माविद्ध देह को भस्मीभूत किया जाता है; अमृतमय नवकलेवर धारण करने के लिये भावना (suggestion) करनी होती है। यही साधारणतः 'भूतशुद्धि' नाम से परिचित है। आरम्भ में यह 'अभ्यारोप' (pointed suggestion) मात्र है, किन्तु अभ्यास की दृढ़ता से एवं भाव की गाढ़ता से यह है 'अभ्यारोह' (an actual ascent towards the Supreme

object)। जपसूत्र में दिखाया गया है कि यह अभ्यारोह-कर्म क्रच्छ्रोंदय, अभ्युदय, महोदय—इस प्रकार सोपान से सोपान पर परम की ओर अग्रसर होता है। परम में उपनीत होने पर फिर 'उदय' नहीं होता – नित्योदित है। जो कुछ भी हो, यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि 'दहन' क्रिया से पहले 'शोषण' क्रिया अवश्य होनी चाहिये। नहीं तो आर्द्र इन्धन में अग्निसंयोग करके कोई फल-लाभ नहीं होगा, केवल धुएँ से ही व्याकुल होना होगा। पातञ्जल-दर्शन में इसलिये पहले क्लेशों का 'तनूकरण*' करने के लिये उपदेश दिया गया है। बाद में है 'समाधिभावन'।*

(ग) बहुत बार कोई विशिष्ट व्यञ्जनामय प्रतीक वा प्रतिकृति भाव के उद्बोधन में सहायक होती है। जैसे मान लें कोई symbol picture (प्रतीकात्मक चित्र) है:—सप्तवर्णालीचक्रवेष्टित एक महान् केन्द्रज्योतिः है। नीचे एक शतदल प्रस्फुटित हो रहा है; उसके बीच से अग्निशिखा उत्थित होकर उक्त सप्तचक्र का भेद करके अन्तर्ज्योति से मिलना चाहती है। प्रतीक का रहस्य स्पष्ट है—The flame of the soul's aspiration leaping upto (आत्मा की आकांक्षा की ऊर्ध्वगतिमयी ज्योति.शिखा)--जपादिकाल में अपनी व्यावहारिक सत्ता भूलकर यह धारणा करना आवश्यक है। अल्प की आकूति और सन्धान की समाप्ति भूमा में है; जैसे पार्वत्य-तटिनी की नदीनाथ में है। जीव का यह मूल आकूतिरूप (aspiration pattern) – बहुत अनियत आसङ्ग से घिरा हुआ है।

इस प्रकार सभी जपादि कर्मों का व्यावहारिक (practical) आधार प्राप्त करना आवश्यक है। ऊपर (क), (ख), (ग) - इन तीन रूपों से जपकर्म के तीन आधार दिखाये गये हैं। कहना न होगा, ये तीन नमूना-मात्र हैं। व्यावहारिक (practical) आधार अनेक प्रकार से 'परिकल्पित' हो सकता है, एवं कार्यतः हुआ भी करता है। सभी क्षेत्रों में पाँच मूलसूत्रों को लक्ष्य करके चलना होता है:—

१. मित्रच्छन्द में जपक्रिया के फल से साधक के शक्ति-पिण्ड (power field) में गाढ़ता, निविड़ता आएगी। २. फलतः, जो आरम्भ में चपल, विक्षिप्त, बहुमुख है, वह एक केन्द्र में संहत होगा एवं उसमें स्थैर्य आएगा। साधक तब 'धीर' होगा। ३. उस प्रस्तुत संहति की रक्षा और पुष्टि के लिए

* पातञ्जलयोगसूत्र—२.२। —अनुवादिका।

उसकें चारों ओर एक दृढ़ 'शक्ति कवच' (a belt or barrage of protective vibrations, a sort of 'potential field') तैयार होगा। यही 'भूतापसारण' और दिगादिवन्धन है। ४. केन्द्र में घनीभाव के फलस्वरूप स्पन्दन का स्थूल रूप क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होगा; फलतः 'अतिग-स्पन्दन' (supersonic) सृष्ट होकर साधक के यन्त्र को ही 'समर्थ' रूप के अनुरूप वना लेगा। अव साधक 'वीर' हुआ। अतिगस्पन्दन, विशेष रूप से अरि अथवा उदासीन को मित्र वनाने के लिये समर्थ है। रूपान्तरण (transformation) एवं उदात्तीकरण (sublimation) व्यापार इ अतिसूक्ष्म पर्याय का स्पन्दन है एवं स्पन्द के द्वारा ही घटित होता है। जड़ के क्षेत्र में भी वही देखता हूँ। ५. सुतरां, इसके फलस्वरूप स्थूल, वखरी जप 'मध्यमा का सेतु' अतिक्रम करके पश्यन्ती और परा में ज्योतिः एवं आनन्द में पहुँचेगा। प्राण, मन, विज्ञान एवं आनन्द के शुद्ध (positive phase) भाव को ग्रथित करके यह महोदय घटित होता है। जप-ध्यानादि कर्म अपने उपयोगी आधार (विद्या वा विज्ञान के अलावा व्यावहारिक—practical—आधार की वात कह रहा हूँ) पाये विना 'समर्थ' नहीं होते हैं। अव, इस प्रकार के आधार का एक सुसम्वद्ध परिचय नीचे के वृक्ष में मिलेगा—

[द्रष्टव्यः—पहले जो तीन 'नमूने' दिये गये हैं, उनमें से (क) और (ग) मुख्यतः (४), (५) और (६) के क्षेत्र में आते हैं; (ख) मुख्यतः (७), (८) एवं (५) (६) में पड़ता है।]

जप के आधार के 'निर्माण' में यह 'जपकरण-सम्पात' ध्यान में रख कर ही चलना होता है। शास्त्र, आचार्य एवं गुरुवर्ग ने वही समझ कर उपदेश दिया है। इष्टमन्त्र-जपारम्भ में वाक्, मनः एवं प्राण—इस त्रिविध करण का पूर्वोक्त सम्पात ('collaboration')- सम्वन्धी एक 'उपयोग' (appropriate field) तैयार कर लेना होता है। जैसे, वैदिक सन्ध्या में मुख्य कर्म गायत्री जप है; आचमन, आपोमार्जन, प्राणायामादि पूर्व-पूर्व क्रिया द्वारा उसका 'उपयोग' तैयार होता है। संक्षेपतः शुद्धि, ऋद्धि और वुद्धि—इन तीनों के सम्मिलन से 'उपयोग' तैयार होता है, यथाक्रम से महाकाली, महालक्ष्मी, महा-सरस्वती का 'अनुग्रह' होता है। विद्या द्वारा शुद्धि, श्रद्धा द्वारा ऋद्धि एवं 'उपनिषद्' वा रहस्यज्ञान द्वारा वुद्धि का लाभ करना होता है। 'विद्या' कहने से केवल सैद्धान्तिक (theoretical) दिशा समझने से काम नहीं वनेगा; व्यावहारिक (practical) दिशा ही विशेष रूप से समझनी होगी।

जप के करण
वाक्
मनः
प्राण
मन्त्र
(determinative)
अर्थवाद
(persuasive)
(३)
"प्रचोदयात्"
(१)
'do'
"प्रबोधयात्"
(२)
'know'
'be'
(or 'realise')
भावाख्या (४)
(feeling
attitude)
(श्रद्धा, भक्ति,
आत्मनिवेदन)
ज्ञानाख्या
(cognitive)
धारणाध्यानरूप
(५)
"अभ्यास"
(meditation
and inner
unfolding)
प्रत्याहाररूप
(६)
"वैराग्य"
(thought eli-
mination or
elimination of
unhelpful inner
vibrations)
वेगरूप (९)
अध्यवसाय
यत्न, कृति
(मृदु, मध्य,
अधिमात्र)
कर्मरूप
"lever"
उदान
प्राणापान
व्यापार
(७)
समान-व्यान
व्यापार
(८)
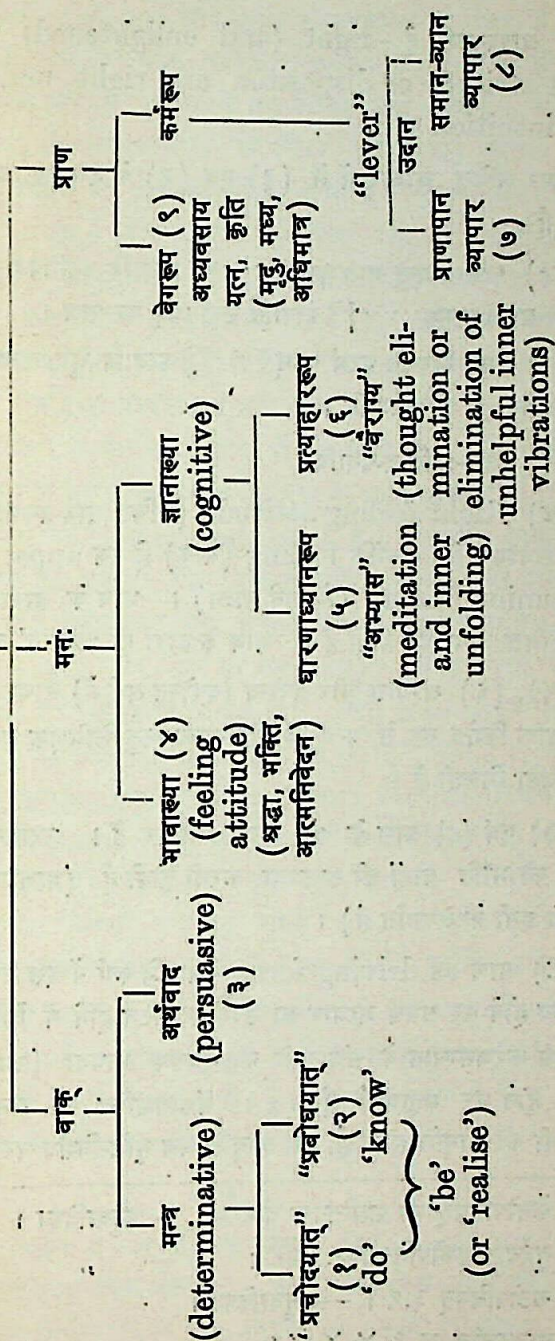
सुतरां आवश्यकता है—right (and enlightened) procedure, right attitude or dispositon and right understanding and intuition की।

ऊपर अंकित आधार में से (१) एवं (२) के दृष्टान्त यथाक्रम से इस प्रकार हैं—

(१) "आप्यायन्तु ममाङ्गानि······*" इत्यादि उपनिषद् का शान्तिपाठ; "असतो मा सद्गमय······†" इत्यादि उपनिषद् का मन्त्र।

(२) "तद् विष्णोः परमं पदम्······"‡ इत्यादि श्रुति-मन्त्र। "आविरायुर्मयि धेहि······§" इत्यादि।

(३) स्तव-स्तुति-वन्दनादि।

(४) Right feeling attitude (उचित भाव-प्रवणता) का बना रहना आवश्यक है। क्योंकि feeling (भाव) है इस apparatus (मन्त्र) का 'tuning factor' (मिलाने वाला)। भाव के द्वारा विशेष-रूप से छन्दोनिमित्त बाधा दूर होती है। भाव के द्वारा ही 'छन्दोग' बनता है।

(५), (६) अभ्यास और वैराग्य (यथोक्त अर्थ में) आवश्यक हैं। क्योंकि उसके द्वारा विशेष रूप से 'यन्त्र' की देश-काल-वस्तु-निमित्तक बाधाएँ दूर होने में सहायता मिलती है।

(७) एवं (८) प्राण के दो मुख्य व्यापार हैं। उदानवृत्ति के द्वारा lever की भाँति दोनों की सहायता करनी होती है (प्राणायाम, भूतशुद्धि, न्यासादि इसी के अन्तर्गत हैं)।

(८) प्राण as driving force—जपादि कर्म में इस वेगाख्य शक्ति के मृदु, मध्य होने पर समर्थ आधार का उपयोग घटित होने में विलम्ब होता है। इस समग्र करणसम्पात के संघात के फल-स्वरूप भावना (auto-suggestion) होने पर महावीर्य होता है। संकल्पशक्ति की समृद्धि होने पर कुण्डलिनी की जागृति होती है, एवं जागृति जब भूमि-विशेष पर पहुँच जाती है

* केनोपनिषत् का शान्तिपाठ द्रष्टव्य। — अनुवादिका।

† बृहदारण्यकोपनिषत् १.३.२८। — „

‡ कठोपनिषत् ३.९। —अनुवादिका।

§ मानवश्रौतसूत्र १. ४. ४. ८।

तब वह महा-कुण्डलिनी की सत्य और अमोघ संकल्पशक्ति की धारा में अवगाहन करती है। तब फिर प्राण व्यक्ति वा individual के रूप में नहीं, अपितु अखण्ड समग्र भाव से—'प्राण' के रूप में क्रियाशील होता है। सृष्टि के अवसान में वा लय में महाकुण्डलिनी की 'निद्रा' (योगनिद्रा) कल्पित होती है अवश्य, किन्तु क्योंकि यह शक्तिरूपिणी है, इसलिये स्वरूप में इसका नित्योदित वा अव्यय भाव है ही; सुतरां 'मूलस्पन्द' (basic harmony, structure and function) भी है; साधक को जपादि साधन द्वारा अपने प्राण-स्पन्दन की सृष्टि करके उक्त मूल स्पन्दन के साथ पहले अनुरूपता एवं परिणाम में समरूपता सिद्ध करनी होती है। क्रिया द्वारा स्पन्दन वर्त्मग वा अध्वग होता है, भाव द्वारा छन्दोग एवं ज्ञान द्वारा धामग होता है। इन तीनों को यथाक्रम से नामग, कामग और धामग भी कह सकते हैं। संघात फल की बात कहते समय और एक प्रसंग मन में उठ रहा है—जप-ध्यानादि के 'एकान्त' फल और 'संघ' फल (congregational) हैं। एकान्त साधना ही साधारणतः प्रशस्त है, तब भी देश (यथा तीर्थादि), काल, (यथा योगादि), पात्र व वस्तु (यथा देवताविग्रह, गुरु अथवा अपर—महापुरुषसान्निध्य) एवं छन्दः (यथा, भाव, बुद्धि और कर्म की समतानता)—इन चारों की विशेष-विशेष अवस्था में संघकर्म विशेष फलप्रद है। उससे resonance effect (अनुरणन) को गुणित (multiplied) होने का सुयोग मिलता है। minor (गौण) को छोड़ major (प्रधान) discordance factors (विषम तत्त्व) अधिक होने पर resonance (अनुरणन) के बदले interference effects (व्याघात) ही अधिक हो सकते हैं। मूल बात—total effect (समग्र प्रभाव अथवा कार्य) 'विषम' न होकर 'सुषम' होना चाहिये। श्रीवास के आँगन में श्रीगौराङ्गदेव के कीर्तनरस में भी बाधा हुई थी क्योंकि बहिर्भाग में कोई बहिरंग व्यक्ति आ गया था। Symphony वा synthesis of the elements of harmony के लिये इतने mathematically precise conditions आवश्यक हैं। (संवादमय प्रभाव के लिए विशुद्ध गाणितिक रूप से यथानिर्दिष्ट सन्निवेश आवश्यक है)।

(३)

अब जप के सम्बन्ध में व्यावहारिक समस्या (practical problem) यह है—जप समर्थ होगा किस प्रकार? अर्थात् जप किस प्रकार पूर्वालोचित आधार के अन्नमय, प्राणमयादि के शुद्ध (पूरक '+') भागों को अशुद्ध, मलिन

(हरक '—') भागों के आक्षेपादि से युक्त करके उन्हें संयुक्त, सक्रिय, एकतान बना देगा ? अथवा संक्षेप में प्रश्न यह है कि वह अधोमुख, तिर्यक्, रजस्तमो-विशाल, संकर स्रोत को ऊर्ध्वमुख, सत्त्वविशाल, ऋजु, शंकरधारा में कैसे परिणत करेगा ? अर्थात् मूल प्रश्न यह है कि—कौन व कैसे बुद्धि को भावरूप और बोध (अथवा ज्ञान) रूप में कुण्ठा-कार्पण्य-दोष-मुक्त शुद्ध, सुतरां 'युक्त' बनायेगा ?

उत्तर—श्रीभगवान् की अनुग्रहशक्ति, जीव की पूर्वालोचित शुभवासना, शुभयोग, शुभाग्रह और शुभसन्धि—इन चारों द्वारा आकृष्ट और केन्द्रीभूत (सुतरां घनीभूत, मूर्त) होकर गुरुशक्ति के रूप में प्रकट होती है। वे जीव के 'प्रथम पुरुष' (surface consciousness) का अवलम्बन लेकर उसके क्रिया-कारक-फलात्मक अथवा पञ्चकोषात्मक संघात (apparatus) में प्रविष्ट होती हैं। प्रथम पुरुष की श्रद्धा का पोषण करके उसको 'श्रद्धावीर्य' बनाती हैं। 'मध्यम पुरुष' (subconscious के अधिवासी) को 'मित्रच्छन्दः' में आपूरण करने के लिए प्रस्तुत कर लेती हैं। 'उत्तम पुरुष' (super के अधि-वासी) को प्रसन्न भी करती हैं। यह आवश्यक है कि 'प्रथम पुरुष' को अवश्यक और यथेष्ट परिमाण में 'सहयोग' करना ही होता है। व्यापार एकतरफा नहीं होता। गुरु ही सब कर देंगे—मैं तो कुछ भी नहीं—यह शरणागति और समर्पण एक निष्क्रियता (passivity) मात्र नहीं है। सुतरां आरम्भ से ही **'युध्यस्व विगतज्वरः'*** होने के पहले ही यह स्वाभाविक व स्वास्थ्यबोधक नहीं है। **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'†** श्रद्धावीर्य के सहयोग से अभ्यासयोग की परि-पक्वावस्था में ही स्वाभाविक है। कारण, 'धर्म' जब तक 'सर्व' न होकर 'खर्व' है, तब तक उसका 'त्याग' त्याग ही नहीं है, त्याग का मिथ्या गर्व-मात्र है।

अच्छा, तीनों पुरुष गुरुशक्ति द्वारा अनुगृहीत होकर त्रिविध 'वीर्य' लाभ करते हैं। यह वीर्य ही प्रतिष्ठित होने पर पूर्वोक्त वज्र बन जाता है। प्रथम पुरुष देते हैं श्रद्धावीर्य। मध्यम देते हैं भाव अथवा संस्कारवीर्य (संस्कार= state of being regrouped, rearranged, reformed), उत्तम देते हैं विद्या वा ज्ञानवीर्य। गुरुशक्ति प्रथम पुरुष पर 'आक्रमण' करती है,

---

* श्रीमद्भगवद्गीता ३.३०। —अनुवादिका।

† " " १८.६६। — " "

साधारणतः एवं बाह्यतः अक्षर (मन्त्र) रूप से। अर्थात् जीव का व्यावहारिक संघात व्यावृत्ति में, हरण में, कृपण-संकीर्ण छन्द में विन्यस्त और अभ्यस्त है। प्रकाश और आनन्द के सागर का एवं उसके परिपूर्ण ऋतच्छन्द और सत्यच्छन्द का संधान देने में वह अभ्यस्त नहीं है, उस सन्धान से वञ्चित रखने में ही वह अभ्यस्त है। सागर की बात भुलाकर नहर, नाला, तलैया आदि की बात में उसने (जीव को) पागल बना रखा है। इस क्रिया-कारक-फलसंघात को समावृत्ति, पूरण, उदार, शुद्ध, मुक्त, छन्द में विन्यस्त करने की क्रिया (positive process) शुरु कर देती है गुरुदत्त क्रिया। यही मुख्यतः जप-क्रिया है।

जपकर्ता 'normal' (सामान्य) 'sub' (सामान्य से निम्न) एवं 'super' (सामान्य के उच्च) भेद से तीन प्रकार का होता है। इनके ही हमने 'प्रथम', 'मध्यम' और 'उत्तम' पुरुष नाम दिए हैं। अब, 'आठ पहर' के कर्त्ता हैं 'प्रथम पुरुष'; गुरु उन्हीं को मन्त्राक्षर सुनाते हैं। किन्तु साथ-साथ मध्यम और उत्तम-पुरुषद्वय को चेताने का संकेत भी पकड़ा देते हैं। मध्यम पुरुष जागकर वृत्तियों का मोड़ घुमा देते हैं अर्थात् subconscious mind का आपूरण जपक्रिया के 'प्रतिकूल' से हटाकर 'अनुकूल' कर देते हैं। विराट् संस्कार भूमि का अरिच्छन्द मित्रच्छन्द होने लगता है। फंल्गुरीति से—behind the screen—मध्यम पुरुष का कर्म-निर्वाह होता रहता है। प्रथम पुरुष ने जप किया व रुक गया, मध्यम पुरुष ने अलक्षित रूप से जप की माला हाथ में ली और जपक्रिया को श्वासादि स्वाभाविक (involuntary) क्रिया के साथ मिला कर उसे 'प्राणन' व्यापार बना दिया। मूल में, जो मुख्यतः आयास-साध्य आस्य अथवा वाक्-प्रयत्न-सौष्ठव है, उसे यथासम्भव अनायास प्राण-प्रयत्न-सौष्ठव बना देते हैं। इसकी भित्ति पर होता है चित्त (मन और बुद्धि) का प्रयत्न-सौष्ठव। काम केवल इस एक दिशा में ही समाप्त नहीं होता। Super-consciousness के तल (plane) में जो उत्तम पुरुष हैं, उनका प्रसारित हस्त कस कर पकड़ने का उपाय भी कर देते हैं। अर्थात् जपक्रिया में sub, super, normal (नीच, उच्च, सामान्य) तीनों planes (स्तरों) पर एक-एक co-ordinated, concerted action (संयुक्त क्रिया) की सम्भावना उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रूप से बनती है। समर्थ वैखरी जप में गुरुशक्ति से सहायता-प्राप्त, श्रद्धावान् प्रथम पुरुष, धृत्युत्साहसमन्वित, अभ्यासपरायण होते हैं। उनकी निष्ठा-तपस्या से 'भूः' एवं 'स्वः' इन दो लोकों

की 'ताड़ितशक्ति' मानों आकृष्ट घनीभूत होती रहती है। मध्यम प्रस्तुत होते हैं, उत्तम प्रसन्न होते हैं। तीनों की 'अवस्था' एक सीमा-विशेष में आने पर तीन वज्रों का एकत्र मिलन होता है।

द्रष्टव्य :—(१) प्रथम पुरुष—'पशु'→मध्यम पुरुष—'वीर'—उत्तम पुरुष—'दिव्य'→सम्मिलित पुरुष त्रिपुटी। (२) जापक=प्रथम पुरुष; जपयिता (गुरु)=मध्यम पुरुष; जप्य (मन्त्र)=उत्तम पुरुष। (३) तन्त्र (समर्थ क्रिया)=प्रथम पुरुष; यन्त्र=मध्यम पुरुष; मन्त्र=उत्तम पुरुष। इस प्रकार विभिन्न रूप से तीनों पुरुषों को यदि मिला न सकें तो जो 'क्षर' के अतीत एवं 'अक्षर' से भी उत्तम हैं—उन 'पुरुषोत्तम' में मिलित होना संभव नहीं होता।*

उक्त वीर्य-त्रय-सहकृत होकर जप-क्रिया जितनी चलती रहती है, वर्तमान 'कारोवारी' यन्त्र अथवा apparatus के systems of veilers (आवरक) and inhibitors (अवरोधक) साँचे उसी परिमाण में स्वतः सिद्ध, विपुल प्रकाश, आनन्द एवं उसके परिपूर्ण ऋतसत्य छन्द के releasing (उन्मोचक) revealing (प्रकाशक) साँचों में रूपान्तरित (transformed) होते चलते हैं। अर्थात् मन्त्र द्वारा यन्त्रशुद्धि, यन्त्र द्वारा तन्त्रशुद्धि, तन्त्रशुद्धि द्वारा पुनः मन्त्रशुद्धि—इस प्रकार vicious ('पाप चक्र') नहीं, virtuous circle ('धर्मचक्र') चलता है†। यह क्रिया पूर्वोक्त 'तीन लोक' एवं उनके अधिवासी पूर्वोक्त तीन पुरुषों को खींच कर लिए चलती है।

---

* द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
....
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। गीता, १५.१५, १६
—अनुवादिका।

† अंग्रेज़ी में 'vicious circle'—यह एक लाक्षणिक प्रयोग है। इसका वाच्यार्थ तो पापचक्र ही है, किन्तु लक्ष्यार्थ उस परिस्थिति का बोधक है, जिसमें बुराइयों की एक ऐसी चक्रिक शृंखला बँधी हो जिसका भंग करना असम्भव-प्राय हो। लेखक ने इसी लाक्षणिक प्रयोग के सादृश्य पर virtuous circle (धर्मचक्र)—यह नया प्रयोग किया है।
—अनुवादिका।

इस प्रकार क्रिया उत्तरोत्तर पूर्णतर और शुद्धतर 'भावरूप' और 'ज्ञानरूप' में उद्भूत होती रहती है। क्रिया, भाव और ज्ञान रूप में उद्भूत होती है; भाव, क्रिया और ज्ञान रूप में और ज्ञान, क्रिया और भावरूप में। जो 'असत्' है, उसे 'सत्' बनाकर क्रिया उद्भूत नहीं होती, वस्तुतः जो सत् है, उसे release, reveal, recognise, reaffirm करके ही उद्भूत होती है। क्रिया किसी भी रूप में उद्भूत होने जाय, उसके 'प्राञ्चि' (पूर्व) और 'प्रत्यञ्चि' (उत्तर) कितने ही रूप बन जाते हैं।

मान लें, कोई जपक्रिया भावरूप और ज्ञानरूप में उद्भूत होगी। एक छलाँग में ही वैसा नहीं होता। कर्म अवश्य छलाँगों में ही (in definite quanta of energy) होता है। तब भी छलाँग बहुत सी भरनी पड़ती हैं। कर्म जैसे-जैसे एक-एक शक्ति के स्तरविशेष (critical value) में पहुँचता चलता है, वही एक-एक छलाँग है। यह कुछ-कुछ आकस्मिक परिवर्तन (sudden change) वा रूपान्तर (transformation) जैसा है, जैसा कि बीज अंकुरित होने के समय होता है, या बालक के वयःसन्धि (age of puberty) पर पहुँचने पर जैसा होता है—इत्यादि। इस प्रकार की 'छलाँग' प्रकृति के नियम में चलती हैं; इतना ही भला है, नहीं तो बूँद-बूँद करके सिन्धु का आहरण कौन करता ?

निष्ठा के साथ कुछ समय बिन्दु का आहरण (यथा वैखरी जप) चलाने के बाद देखता हूँ कि बिन्दु-आहरणकारी के भीतर 'कुम्भयोनि' अगस्त्य 'भूमिष्ठ' हो रहे हैं (पूर्वोक्त प्रथम+मध्यम+उत्तम-वीर्य-समन्वित 'वज्र' जो गण्डूष में, एक चुल्लू में ही सिन्धु को आत्मसात् कर लेंगे)। कर्म तो वास्तव में मोचन (release) करना ही है, ढक्कन हटा लेना है। **'हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'***—इसीलिए ठीक स्थल (point) पर पहुँचने से पहले तक विशेष कुछ समझना सम्भव नहीं होता। भाद्र की घनघोर घटा है, 'घर-घर' पुकार रही है, वर्षण कहाँ ? हठात् एकदम 'कड़-कड़—कड़-कड़', उसके बाद 'झम-झम—झम-झम'। ऋग्वेदादि में यह कहानी न जाने कितने प्रकार से सुनाई गई है।

जप के वैखरी और मध्यमा में 'प्राञ्चि' अथवा 'पूर्वरूप' हैं, पश्यन्ती और परा में उसके 'प्रत्यञ्चि' या उत्तररूप 'उद्भूत' हुआ करते हैं। प्रत्येक में

---

* ईशावास्योपनिषत् १५। —अनुवादिका।

फिर चार पाद हैं। Mechanics (यन्त्रगणित) में जैसे किसी भार (load) को (१) यूँही खींचना, (२) किसी समतल (smooth) frame पर खींचना, (३) pulley द्वारा, (४) lever लगा कर, (५) incline plane बना कर (जैसे मिस्रदेश में पिरामिड बना कर), एवं (६) भार को विशीर्ण (resolve) करके - इन सब उपायों द्वारा आयत्त करना होता है। जपक्रिया में भी resistance system को अनुरूप भाव से जीतना होता है। जप के प्रारम्भ में ऊपर लिखे प्रथम और द्वितीय उपाय द्वारा जपक्रिया का यथा-सम्भव सहज अभ्यास कर लेना होता है। तब जप प्रायः mechanical (यान्त्रिक) होता है। तृतीय एवं चतुर्थ उपाय से प्राण और मन उपयुक्त रूप से सक्रिय सहायक होते हैं। पञ्चम उपाय में अर्थात् plane को अलग करके बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय सत्ता सहायक होती है। और षष्ठ में आनन्द वा उज्ज्वलरस-भार को, आयास वा समग्र प्रतिरोध (resistance) को जप निःशेष रूप से विशीर्ण (finally resolve) अर्थात् 'गलितकषाय' बना देता है। पंचम उपाय से ही विशीर्ण करने (resolution) का आरम्भ हो जाता है। वहाँ 'मृदितकषाय*' होता है। अविपक्वकषाय में कुयोगी होता है। अतएव जप चलाओ; अभ्यास जिससे धीर, स्वस्थ, श्वासक्रिया की भाँति सहज, सरल बने, उसका यत्न करो। प्रास की pulley और अन्तः का lever लगाओ। बुद्धिविज्ञान, विद्याविचार, मनन-निदिध्यासन द्वारा क्रिया का plane (स्तर) बदलो, ताकि वह भाव और ज्ञान के रूप में उद्भूत हो सके। प्रेम और आनन्द में पहुँचाओ; तब सर्ववाधाविनिर्मुक्त, अप्राकृत, अमायिक, स्वच्छन्द स्वाभाविक उल्लास और प्रकाश होता है।

जपसाधन 'केवल' और 'सहित'—इस प्रकार द्विविध है।

अनेक महापुरुष केवल निष्ठापूर्वक (कर्मनिष्ठा एवं भावनिष्ठा-पूर्वक) जप-क्रिया में ही उत्तरोत्तर इन भूमियों को प्राप्त हुए हैं। नाम वा जप ही केवल आश्रय है। †'हरेर्नामैव केवलम्' अथवा, शुद्धप्रणव। सब कुछ ही इस एक

---

* सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति······ (छान्दोग्योपनिषत् ७·२६·२)

† हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(बृहन्नारदीयपुराण ३८.१२६)—अनुवादिका।

में ही प्रस्फुटित हुआ है (everything else shall be added unto it)। यह जपसूत्र में आलोचित 'शुश्रूषा' जप है। शुश्रूषा के—श्रवणेच्छा, एवं सेवा वा संस्कार दोनों अर्थ हैं। नाम की जो 'मर्मवाणी' है, उसे सुनने की एकान्त साध रहने पर नाम ही उस साध को पूरी करेंगे, और नाम की प्राणपण से 'सेवा' करने पर वे ही नामी को मिलायेंगे। इस एक अभिन्न शुश्रूषा 'काण्ड' से ही विज्ञानभाति एवं भजनरसमाधुरी –ये दो साधिष्ठ शाखा निकल कर तत्परमोज्ज्वलरस-समापत्ति–रूप परम प्रयोजन का निर्वाह करेंगी। पूर्वशाखा के प्रसार में विविदिषा-जप एवं विद्वज्जप, दूसरी शाखा में वैधी, रागानुगा, रागरूपा का प्रसार है। दो शाखा एक में ही आकर मिलित होती हैं। इन सबके मूल में ही जब नाम है, तब नाम का ही सर्वतोभाव से आश्रय लो। 'निरपराध' होकर आश्रय लो। जो 'अपरा' है, जो 'प्राकृत' है उसके 'अध:' यानी अधीन होने पर तो जो अधोक्षज हैं वे मिलेंगे नहीं। किन्तु ऐसी एकाग्र श्रद्धा और एकनिष्ठा सब आधारों में संभव नहीं होती। इसीलिए 'सहित' वा mixed प्रक्रिया (method) विहित (prescribed) है। उसमें जप-क्रिया पूर्वोक्त क्रम से स्वयं ही जो कुछ करना चाहती है एवं समर्थ होने पर स्वयं ही जिसको करेगी, उसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमयादि कोशों के शोधन-बोधन आदि अन्यविध उपायों (auxiliary means) के द्वारा अनुकूल बना लो। किन्तु सावधान ! जपक्रिया के co-ordinating accumulating work (समावृत्ति-साधन) को व्यावृत्ति से विच्छिन्न या विक्षिप्त होने देने पर नहीं चलेगा।

अब यह समझ कर वैखरी जप अथवा अनुरूप साधन-भजन चलाना होगा। अवश्य ही, जपविद्या वा विज्ञान समर्थ सहायक और साधन है। इसीलिए श्रुति में क्रिया के साथ विद्या वा विज्ञान की इतनी स्तुति मिलती है। पूर्वोक्त प्राण के पाँच मुख्य ऋतच्छन्द और पाँच अनुगत ऋतच्छन्द के अनुवर्तन से क्रिया को 'शुक्ला गति'* पथ पर चलाना होगा। अनुवृत्ति होने पर जप ही जपकर्ता का गुरु, गति, भर्त्ता, सहाय, शरण, सुहृत् होगा। क्योंकि जो प्रभु हैं, जो

---

* शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ८·२६)—अनुवादिका।

साक्षी हैं, जो †'निवास' हैं, जो †'निधानं बीजमव्ययं' हैं, वे स्वयं जप के अक्षर में समासीन हैं।

परिशेष में इन कुछ-एक बातों पर ध्यान दीजिए।

(१) प्रथमतः जप के 'आगमापाय'‡ के अनुपातगत अनुकूल, पोषक (positive) समत्व की रक्षा के लिए यत्न होता है। *'प्राणापानौ समौ कृत्वा'। जप को प्राण की एक उदासीन भूमि ("मध्ये वामनमासीनं"†) से निर्गत करके छन्दःक्रम से पुनः उसी में लय करना होगा। शनैः शनैः। पुनः पुनः। इंजन में जैसे बारी-बारी से (alternate क्रम से) vacuum (शून्यता) की सृष्टि की जाती है, उसी प्रकार। अनुपात की समता को साधने के लिए कभी "आगम" (प्राण) में "अपाय" (अपान) की "आहुति" देना होता है और कभी विपरीत क्रम से "अपाय" (अपान) में "आगम" (प्राण) की। यह सब धीर-भाव से आलोच्य है। फलतः जपक्रिया के समग्र system (अनुष्ठान) में आदान-प्रदानगत "संख्या" (अर्थात् proportional deposit) को धनराशि होना चाहिए।

(२) जपक्रिया के नाना ओर नाना प्रतिक्रिया (re-action) के फल-स्वरूप जो रूपान्तर, आक्षेप-विक्षेपादि (transformations, dissipations, एवं "running down") होते रहते हैं, उनमें जपक्रिया का "उद्‌वृत्त" (surplus credit) रहे, इस ओर ध्यान रख कर जपक्रिया,

---

† गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(वही—९·१८)—अनुवादिका।

‡ मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(वही—२·१४)—अनुवादिका।

* स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाऽभ्यन्तरचारिणौ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता—५·२७)—अनुवादिका।

† ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥
(कठोपनिषत् २·५·३)—अनुवादिका।

जप का आधार इत्यादि ठीक करके रखना होगा। अन्यथा जप व्यर्थ वा नष्ट भले ही न हो, किन्तु उसका "फल" गोचर होने में विलम्ब होगा। जप की प्रतिकूल (negative) प्रतिक्रियाएं (reactions) क्लान्ति, अवसाद, प्रमाद, तन्द्रा इत्यादि के रूप में जमा होती रहेंगी। ये तामस प्रतिक्रियाएं (reactions) हैं; राजस (unhelpful) प्रतिक्रियाएं (reactions) भी हैं। यथा—चित्त-चाञ्चल्य, रिपुओं का प्रावल्य इत्यादि।

द्रष्टव्य—(१)—जप का "सुर" वा छन्दोग क्रिया एवं भाषा जितनी बलिष्ठ और सक्रिय होती रहती हैं, जपकर्ता के संघात (system) के, एवं उसके परिवेश (environment) के 'अ-सुर' भाव उतने ही प्रबल आकार में 'उत्थित' होते रहते हैं। क्योंकि प्रकृति (nature) का एक प्रकार का आलोड़न (general stirring up) उससे होता है। अनेक क्षेत्रों में होमियोपैथिक औषध के फल से रोग-लक्षण-वृद्धि (aggravation) के जैसी अवस्था भी आती है। प्रकृति की प्रवृत्ति-धारा में जो लोग कायमी स्वत्व से भोग-दखल किए बैठे हैं, उनका उच्छेद सहज नहीं होता। इसीलिए सुरासुर-संग्राम साधनसमर की असली वात है। वे सब (असुर) रक्तबीज* के पेड़ है! जिह्वा पर रखकर—अर्थात् समर्थ जपास्त्र द्वारा उनका संहार करना होगा।

द्रष्टव्य—(२) उसी प्रकार दूसरी ओर, मधुच्छन्द में मन्त्रजप के फल से सभी अन्तःकोश मधुच्छन्द में विन्यस्त होते रहते हैं,—संवादी तत्त्व (concordant elements) संहत और विवादी तत्त्व (discordant elements) विच्युत होते रहते हैं,—यह समझ में आता है अनेक चिह्नों और निदर्शनों द्वारा। यथा, सदृश रूप से उद्भूत नानाविध, मधुर और गम्भीर छन्दोबद्ध आन्तर-ध्वनि के श्रवण द्वारा। विसदृश रूप से उद्भूत नानाविध विचित्र, अपरूप, सुन्दर रूप और वर्णमय मानस प्रत्यक्ष (vision) द्वारा। ये उद्भूत आन्तर-ध्वनि, रूप, वर्ण, गन्ध आदि इतने अपरूप और सजीव (alive and vivid) होते हैं कि उन्हें किसी बाह्य प्रत्यक्ष आदि की प्रतिकृति (images)

* दुर्गासप्तशती (अष्टम अध्याय) में रक्तबीज नामक असुर का वर्णन है। देवी के साथ युद्ध में उसके शरीर से जितने बूंद रक्त गिरता था, उतने ही उसी के समान बल-पराक्रम वाले असुर तत्काल सृष्ट हो जाते थे।

किसी भी प्रकार नहीं समझा जा सकता। एवं वे सब किसी 'अप्राकृत-धाम' (upper world of eternal freshness and pristine purity) से हमारे इस कारोबारी 'धूसर लोक' में 'प्रक्षेप '(projection) ही प्रतीत होते हैं।

(३) जपक्रिया का समाहार, संगति, समन्वय आवश्यक है। वैखरी और मध्यमा में यह काम बहुत कुछ 'यन्त्र-तन्त्र' में ही चलता है,—श्रद्धावीर्य के साथ दीर्घकाल निरन्तर सत्कारासेवित विधि-पालन द्वारा। किन्तु यह काम जब तक बुद्धिपूर्वक और आनन्दसिक्त (शुद्ध विज्ञान और आनन्द-कोश के अनुग्रह से युक्त) नहीं होता, तब तक परिपूर्ण तुष्टि नहीं, पुष्टि नहीं। (Realisation and satisfaction की भूमि आनन्द है—यह ध्यान रखना होगा)। सत्, चित्, आनन्द - ये तीनों एक होने पर भी आनन्द को "हृत् सत्ता" (the core, the inmost) कह सकते हैं। "ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं"* सत्, चित् आनन्द को प्राप्त करना है। साधन-जीवन में यह क्रम स्पष्ट ही देखने में आता है। उसे 'अस्ति'-रूप में जाना, 'भाति'-रूप में देखा, तब भी मानों एक 'शून्य' (न्यूनत्व) रह गया। 'प्रियं' वा रसरूप उसमें प्रवेश न होने तक परिपूर्णता और चरितार्थता नहीं है। बहुत बार, यह शेष ग्रन्थि पार करने में देर लगती है। जीवन में कृष्टि आई, दृष्टि भी प्रस्फुटित हुई; तब भी तुष्टि नहीं है। उसकी प्रतीक्षा में कृष्टि और दृष्टि को और भी उदार और अग्रचा (श्रेष्ठा) होना पड़ता है। शेषकाल में, कुछ ऐसा एक आता है, जिससे सब कुछ की परिपूर्णता और समाप्ति हो जाती है। हाँ, किसी प्रकार मध्यम पुरुष को प्रस्तुत करके मध्यमा का सेतु पार करा सकें तो जपक्रिया मुख्यप्राण के अपने समाहार–समावृत्ति–छन्द में आपतित हो जाती है। तब फिर समाहार इत्यादि अपेक्षाकृत अनायास, सहज और स्वाभाविक हो जाते हैं। इस प्रकार जपक्रिया समाहृत, सुसम्मत, सुसंबद्ध होकर एक महावीर्य छन्दः (harmony) की सृष्टि करती है। वह है सुरब्रह्म वा छन्दोब्रह्म। यही जपसूत्र का "आधिकारिक" कल्प है।

(४) अन्त में जपक्रिया की सिद्धि में धैर्य और वीर्य, प्रकाश और आनन्द का ऐसा एक 'अच्युत पद' (permanent solvency) प्राप्त होता है, कि

---

* भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ११·५४)—अनुवादिका।

जहाँ से इस निरन्तर हरण (running down process) के फल-स्वरूप फिर 'दिवालिया' स्थिति (insolvency) में गिरने का भय नहीं रहता। यह जपसूत्र का 'आनपायिक' कल्प है।

द्रष्टव्य—(३) :—जप के 'फल' अमर हैं, किन्तु वे साधारणतः जमा होते हैं, प्रथम पुरुष के कारोबारी बैंक में नहीं, मध्यम पुरुष के गोपन 'रिज़र्व बैंक' में। यदि जमा ठीक-ठीक होता रहे तो 'चक्रवृद्धि' सूद भी जुड़ जाता है मूल के साथ। किन्तु उस बैंक की 'पासबुक' शुरू-शुरू में प्रथम पुरुष को दिखाई ही नहीं देती। वह समझता है शायद सब कुछ पानी में जा रहा है। मानो अपने घर के अपने कारोबार की सब खबर उसके नख-दर्पण में है। श्रद्धा, विश्वास रख कर जपक्रिया चलाते रहें तो कभी-कभी, पासबुक, दिखाई भी दे जाती है—स्वप्न के रूप में, अनिच्छा जप के रूप में (साक्षात् क्रिया रूप में ही); इसके अलावा नानाविध अभूतपूर्व, असाधारण भाव-रूप में, और दर्शनरूप में भी। तब समझ में आता है कि जप-फल केवल जमा हो रहा है ऐसा नहीं, खूब भारी सूद भी दे रहा है। सूद=अनुरणनात्मक प्रभाव (resonance effect)। हाँ, जपकर्ता को इस बारे में होशियार रहना चाहिए कि कहीं 'overdraft' (जमा रकम से अधिक निकालना) न कर बैठें।

(५) सब प्रकार की समर्थ जपक्रिया की एक "अवसानभूमि" भी है। समर्थ जप **'महान् आत्मा'*** है, एवं उसे **'यच्छेत्'*** भी। उसके बाद **'शान्त आत्मनि'***—सब ठण्डा। यह 'शान्त' वह नहीं है जिसे वैष्णवादि रसशास्त्र ने 'शान्त-दास्यादि' कह कर आरम्भ में डाल दिया है। शुद्ध क्रिया, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध भाव की अभेद-पराकाष्ठा में जो 'महामौन' है, वही यह है। यहाँ तक आये विना महाप्रभु रामानन्द राय का मुँह पकड़ कर वन्द नहीं करेंगे†। कठ-

---

* यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेत् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥
(कठोपनिषत् १।३।१३) — अनुवादिका।

† चैतन्यचरितामृत मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद में श्री चैतन्यमहाप्रभु और रायरामानन्द का साध्य-साधन-तत्त्व-निरूपक संवाद वर्णित है। अन्त में श्रीकृष्ण का धीरललित नायक के रूप में जब राय रामानन्द ने वर्णन किया तब महाप्रभु ने कहा "यही परम साध्य है, आगे और कहो"। तब राय रामानन्द ने कहा कि इसके आगे बुद्धि की गति नहीं है, फिर भी 'प्रेमविलासविवर्त्त' का निरूपक एक स्वरचित पद उन्होंने सुनाया। उस पद को सुनते ही महाप्रभु ने प्रेमातिरेक से अपने हाथ से राय रामानन्द का मुँह ढक दिया था। —अनुवादिका।

श्रुति के इस प्रसिद्ध साधन को जिसने केवल 'ज्ञानमार्गी' का साधन समझा है, उसका — उसी श्रुति की भाषा मे 'शिरः' (मूर्धा) 'पतित'* होने की आशंका है।

कोई सोच सकते हैं कि जब जप का, भाव एवं ज्ञान—(feeling attitude and consciousness of the meaning) रूप ही 'असली' है एवं वही जब लक्ष्य (end) है तब केवल जपक्रिया पर (संख्यादि का नियम रख कर वाचिकादि जप पर) जोर देने की क्या आवश्यकता है? किन्तु ध्यान रखना होगा— और पहले भी कहा जा चुका है— कि क्रिया, भाव एवं ज्ञान (वाक्, प्राण और मन जिनके निर्वाहयिता हैं) — ये तीनों मिल कर एक अविभाज्य त्रिपुटी हैं। ये वस्तुतः एवं कार्य्यतः परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं। एक के साथ दूसरे के उदय, लय, स्थिति का घनिष्ठ सम्पर्क (organic relationship) विद्यमान है। जैसे वृक्ष की 'सफलता' शाखा में होने पर भी काण्ड (तने) के बिना उस सफलता की संभावना ही नहीं रहती है, उसी प्रकार यथार्थ भाव एवं ज्ञान में जप की परिणति यदि अपेक्षित हो तो जपक्रिया-रूप शुश्रूषा-काण्ड का आश्रय लेना पड़ता है। भाव और ज्ञान की परिपक्व दशा में 'क्रिया' (व्यक्त स्पन्दन रूप) लीन अवश्य हो जायेगी, किन्तु अव्यक्त स्पन्दन (अर्थात् स्पन्द, सुतरां 'कर्म') के रूप में वह रहती है। पूर्वोक्त 'शान्त आत्मनि' अथवा 'महाभाव' में 'यच्छेत्' (पूर्णाहुति) जब तक नहीं होती, तब तक वह क्रिया रहती है। उसके नीचे, विशेषतः प्राथमिक भूमियों में, ज़ोर लगा कर जप-क्रिया को रोकने जाएँ तो फल शुभ नहीं होता; पहले जिस सफलता की बात कही गई है, वही व्याहत हो जाती है। क्योंकि भाव एवं ज्ञान दोनों ही सुविन्यस्त, सुगठित क्रिया के ढाँचे में ही अपने "वास्तवी तनू" (real form and character) को प्राप्त करते हैं। स्पन्दनादि की अनुरूपता एवं अनुरणन (resonance effect) के समञ्जस समुच्चय (harmony integration) की उपेक्षा करके ऐसा ढाँचा तैयार नहीं हो सकेगा, जो कि स्थायिभाव का उद्दीपक और अकुण्ठ ज्ञान का उन्मेषक हो। इसलिए विधिपूर्वक (श्रद्धावीर्य और धृति के साथ) जपक्रिया चलाते ही रहना होगा। आरम्भ से ही "भाव कहाँ"? "ज्ञान कहाँ" ? कह कर व्याकुल होकर क्रिया छोड़ देने से या उसमें ढील देने से नहीं चलेगा। पक्षी जैसे अपने अण्डों को सेता है,

* द्रष्टव्य बृहदारण्यकोपनिषद् ३·६·१७, ३·९·२६। —अनुवादिका।

उसी प्रकार मित्रच्छन्द का आश्रय लेकर और अरिच्छन्द का त्याग करके "जपाक्षर" को सेते रहना होगा। "जपाक्षर" में साधारण "अनृत" अक्षर-वुद्धि का त्याग करना होगा। पक्षी यदि अपने अण्डे को "जड़-पिण्ड" मात्र समझे तो उसे क्योंकर सेता रहे ? साथ-साथ भाव का "ताप" और ज्ञान का "प्रकाश" जितना भी जुटा सको उतना ही अच्छा होगा। किन्तु उसे जुटाने में मूल के असली काम (सेने की क्रिया) में कहीं शैथिल्य या विच्युति न हो जाए। आक्षेप-विक्षेपादि (dissipation, defraction प्रभृति) यथासंभव वर्जनीय हैं। विच्युति होने पर – भाव का आभास थोड़ा वहुत आया भी रहेगा तो मिट जायेगा, प्रकाश की छटा ज़रा-वहुत खिली भी रहेगी तो पुनः आवरण में लीन हो जाएगी। योग एवं क्षेत्रका उपयुक्त ढाँचा न मिलने पर भाव अपनी चपलता, तरलता, आविलता छोड़ कर शान्त, प्रगाढ़ एवं स्वच्छ नहीं होता; ज्ञान भी अवास्तव कल्पना, आरोप, संशय आदि को काट कर अपने उरु (श्रेष्ठ) निर्मल प्रकाश को प्राप्त नहीं करता। 'कच्चे' ढाँचे में असमञ्जस (misfit) भाव और ज्ञान दोनों ही प्रतिक्रिया (unhelpful reactions) की भी सृष्टि करते हैं। सुतरां जप-क्रिया को अपने स्वाभाविक छन्द और गति में चल कर भाव की गम्भीरता में एवं प्रकाश की उज्ज्वलता में जाकर अपने-आप शान्त होने दो। वैखरी जप को सहज भाव से ही मध्यमा का सेतु पार होकर पश्यन्ती और परा में जाने दो। 'सेतु' उड़ा देने का यत्न मत करना। वह ग़लत चाल (bad strategy) है। यदि वैसा करोगे तो एक महावीर हनुमान् को छोड़ कर और कौन इस पार से उस पार छलाँग मारने का साहस कर सकेगा ? स्वयं श्रीरामचन्द्रजी को भी तो जैसे-तैसे करके एक सेतु बाँधना ही पड़ा था न ! कटहल के पेड़ के तने में (मूल के पास) भी कटहल फल सकता है अवश्य, किन्तु वैसा तो सब जगह नहीं होता, आम-जामुन के पेड़ में भी वैसा नहीं होता। इसलिए मालाजप अथवा करजप जबर्दस्ती मत छोड़ना--माला ही तुम्हें छोड़ देगी समय होने पर। *'तज्जपस्तदर्थभावनम्' मन्त्र के जप से ही उसका अर्थ (वाच्य एवं साथ-साथ भाव और ज्ञान) हाजिर होगा। अवश्य ही जप को 'समर्थ' बना लेना चाहिए। सूत्र में 'भावन' (होने देना) कहा है, 'भावना' (चिन्तन करना) नहीं कहा, ध्यान देना।

* योगसूत्र १'२८ ।--अनुवादिका ।

(४)

उपसंहार में, जप-कर्म के मूल आधार को फिर एक वार संक्षेप में स्मरण करा देता हूँ—

मनुष्य के कार्य-करण-संघात के स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन 'स्तरों' में मोटा-मोटी पाँच कोश (अन्नमयादि) व्याप्त हैं। इनमें से प्रत्येक पुनः त्रिविध है। (१) पराग्वृत्ति ('नेगेटिव' = भूः = पृथ्वी); (२) प्रत्यग्वृत्ति (पोजिटिव = स्वः = द्यौः); (३) परस्पर व्यावर्त्तक अन्तरालवृत्ति (मीडियम = भुवः = अन्तरीक्ष)। भूः, भुवः, स्वः एवं अन्यान्य व्याहृति का मौलिक विश्लेषण मूल ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। वहाँ देखोगे कि भूः = पृथिवी एवं स्वः = द्यौः। ये दो समीकरण दोनों व्याहृतियों के अर्थ-विशेष से ही बनाए जाते हैं। जो कुछ भी हो, सभी के 'पौज़िटिव' (धन +) संयुक्त होने पर अविच्छेद से प्रत्यङमुखी धारा (शुक्ला सृति) होती है और सबके नेगेटिव (ऋण —) संयुक्त होने पर पराङमुखी धारा (कृष्णा सृति) होती हैं। विश्व में शुक्ला और कृष्णा धारा, पूरण और हरण प्रवाह का परस्पर मिश्रण एवं संकर (mixture and confusion) होते देखता हूँ। उन्हें शुद्ध रूप से नहीं पाता हूँ। इसलिए सर्वत्र धन-ऋण (plus + minus —) का आकर्षण है। शुक्ल एवं कृष्ण ने मिल कर एक 'धूम्र'-धारा (प्राकृत-धारा) प्रवाहित कर रखी है। **"ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः"*** । उस धूम्र (कुटिल-जटिल गति, संकर छन्दः) प्रवाह के साथ ही जीव का साधारण परिचय और कारोबार है। दो शुद्ध धाराओं के परस्पर वेध के कारण जो मलिन संकर धूम्र धारा और जटिल संकर छन्दः चला है, उसी में जीव पतित हुआ है। अब जप का काम है—अन्नमय का जो शुद्ध सात्त्विक 'भाग' है, उसमें क्रिया (स्पन्दन) की सृष्टि करके उसे प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द के शुद्ध (positive) पक्ष में पहुँचा देना। इनमें से प्रत्येक की शुद्ध अशुद्ध दो दिशायें हैं, यह ध्यान रखना चाहिए। प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द की शुद्ध (positive) दिशा क्या क्या हैं, वह भी गम्भीर भाव से चिन्तनीय है। जप भावरूप और ज्ञानरूप उत्कृष्ट भूमि में आरूढ़ होने पर जीव के भीतर जो नित्य प्रकाश और आनन्द का धाम विराजमान है, वहाँ पहुँचा देता है।

इस प्रकार समझ में आया कि इस संकर मलिन छन्द को शुद्ध उज्ज्वल

---

* दुर्गा-सप्तशती ५।१२ — अनुवादिका।

छन्द में ले आने में ही कल्याण है। यह शुभ परिणाम (transformation) जिस छन्द द्वारा घटित किया जाता है, उसे कहते हैं मित्रच्छन्दः; जिससे रोध अथवा व्याहति होती है, उसे कहते हैं अरिच्छन्दः। उसके फलस्वरूप जीव की महती विनष्टि होती है। संकरधारा के बीच-बीच कहीं-कहीं 'शान्तभूमि' (zone of placidity) मिलती है; वहाँ शुद्ध ऊर्ध्वाभिमुख धारा मानो एक बाहु प्रसारित कर देती है - वही बाहु होता है सेतु वा 'सन्धि'। उस सन्धि को पकड़ पाने पर संकर के असामान्य खिंचाव से निकल कर शंकरधारा में (अनायास, अनामय, निरुपद्रव प्रशान्तवाहिता में) जाकर गिरा जा सकता है। उस सन्धि का सन्धान जो छन्द देता है, वही है मित्रच्छन्द। सृष्टि का चक्र घूम रहा है, जीव भी उसमें घूम रहा है। आवर्तन के बीच-बीच कहीं-कहीं एक 'अवकाश' (point of escape), व्यावृत्ति वा आवृत्ति-वेग के सामयिक अभिभव (exhaustion) के कारण समावृत्ति (release और return) का एक बाहु (positive component) मानो आवृत्ति में से ही 'प्रकट' होता है—वहाँ एक 'अवकाश', 'सन्धि', 'शान्तिभूमि' की सृष्टि होती है। उसके फलस्वरूप एक 'शुद्धोन्मुखता', प्रसादस्वच्छता, प्रकाशावरणक्षीणता, उज्ज्वलता आती है। फिर उसके फलस्वरूप आवर्त्त में पतित वस्तु अपनी आवर्त्तन-गण्डी (routine of life) को काट कर बाहर निकलने का सुयोग पाती है।

किन्तु साधारणतः अशुद्ध मलिन स्तरों (अन्न, प्राण, मन) में ही जीव का कारोवार (normal function) चलता है। इस धूम्र-धूसर स्रोत के संकर छन्दः (complex, confused rhythms या स्पन्दन) पाप्माविद्ध, असुरविद्ध, अव्यवसायात्मिक, असंभावना, विपरीत-भावना से समाकुल हैं। जप इस संकर-क्षेत्र में एक मित्रच्छन्दः-शलाका (wedge) के रूप में प्रविष्ट होकर जटिल, कुटिल, संकीर्ण छन्दों को तोड़ कर अमृत वा मधुच्छन्द (शुक्ल +) के अंश को मृत्यु वा विषच्छन्द (कृष्ण —) के आलिङ्गन से मुक्ति देता है, उसे शुद्ध भाव से सक्रिय बना देता है। यही संसृति का (धूम्रधारा का) 'मन्थन' है। इस मन्थन, शोधन, मोचन या मुक्ति का काम जप के स्पन्दनों से सिद्ध होने पर **'जपात् सिद्धिः'** अवश्य ही होगी। गुरु संकर छन्द के बीच शलाका की भाँति प्रविष्ट होकर शुद्ध, उज्ज्वल, शङ्कर (शिव) छन्द को ग्रहण करने का उपाय कर देते हैं। इस मन्थन के प्रसाद से मलिन,

मिश्र, संकर से उज्ज्वल, शुद्ध, शंकर भाग, 'विष' भाग से 'अमृत' भाग अलग हो जाता है। इस मन्थन-क्रिया के साधक-बाधक के रूप में सुर-असुर (मित्रच्छन्द और अरिच्छन्द)—ये दो पक्ष (components) युगपत् सक्रिय हैं। किन्तु शुद्धधारा के आश्रय से अभिरोह (outgrowing ascent) होना हो तो मित्रच्छन्द का जयी होना आवश्यक है। जयी न होने पर अवरोह अथवा जाड्य (stagnation) होगा। मन्थन के अवसान में जो शिवशंकर हैं वे फिर 'विष' को अलग नहीं करते, 'आत्मसात्' कर लेते हैं। तब वे द्वन्द्वातीत चिदानन्दैकरस हैं। कालियनाग का रहस्य भी चिन्तनीय है।

अन्त में दो मौलिक बातें

अन्त में कुछ बातें याद दिला देना अच्छा है। "इतना 'ईंधन' जुटा कर तब जप में लगना होगा। तब तो, देखता हूँ, जपसाधन एक प्रकार से असाध्य-साधन है"—ऐसा सोच कर कोई भय से पीछे हट जाना चाहेंगे। किन्तु स्मरण रखना होगा कि उपयुक्त ईंधन जुटाए बिना जीवन के व्यवहार-क्षेत्र में कोई भी 'सिद्धि' नहीं मिलती। और जीवन की जो सबसे श्रेष्ठ सिद्धि है, उसके लिए 'बिना पैसे एक सहज मुष्टियोग', अगत्या 'पाँच-एक पैसों का एक सस्ता तावीज'—इसीसे काम बना लेने की कल्पना देख कर लगता है 'किमाश्चर्यमतः परम्'* ! लक्ष्य जिस परिमाण में बड़ा होगा उसका साधन भी उसी अनुपात में बड़ा होना ही चाहिए। सब देश, सब काल में साधकों का जीवन ही इसका प्रमाण हैं, कहीं भी, किसी क्षेत्र में सस्ते में किश्तों का हिसाब नहीं हुआ है। जप ही क्यों, कोई भी साधन 'सहज' नहीं है। विशेषतः आरम्भ तो सदोष और आयासबहुल हुआ ही करता है। बाधा और ग्रन्थियाँ तो अन्त तक चलती ही हैं, हाँ, उनका छद्मवेश बदलता रहता है। जो आरम्भ में कठिन है वह बाद में सहज भले ही हो सकता है, किन्तु वहाँ भी नूतन एवं और भी कठिन एक न एक कुछ आकर दिखाई दे जाता है। हिसाब सीखें, या गाना सीखें या और जो कुछ भी सीखें, वहाँ भी ऐसा ही है। प्रथम शिक्षार्थी की बाधायें बाद के शिक्षार्थी ने मिटा ली हैं, किन्तु उसकी अपनी बाधाओं का क्या ? "इतना 'तोड़-जोड़' करके जप किस लिए करना होगा ?—उनके नाम में, उनकी दया में विश्वास करो; उनसे प्रार्थना करो, व्याकुल बनो, उनकी शरण लेकर शान्त बनो, सरल बनो, शुद्ध बनो, ध्यान धरो, प्रेम लगाओ"—इन सब उपायों में से भी कौन सा 'सहज' है यह कोई बता सकेंगे क्या ? "मन्तर-तन्तर यह सब क्या करते हो ? 'मन तोर और तन तोर' न होने पर कुछ नहीं होगा"—बात तो सभी ठीक हैं; किन्तु केवल बात से ही क्या मामला तय हो गया ? 'बिना प्रेम से नहीं मिले नन्दलाला'—किन्तु प्रेम मिलता हैं किससे ? सहज

---

* अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतःपरम् ॥
(महाभारत, वनपर्व, ३१३।१६)

कोई भी नहीं है। 'सहज' साधन के नाम से जो चला आ रहा है, कम से कम बौद्ध युग से, वह है 'सहज' अवस्था-लाभ के लिए साधन, स्वयं सहज नहीं है। वरन् एक नियम बना कर, फल होगा ऐसा विश्वास रख कर, जप करना ही कुछ हद तक सहज लग सकता है।

निष्कर्ष यह है कि क्रियाप्रधान, भावप्रधान अथवा ज्ञानप्रधान—चाहे जिस प्रकार से साधन चले, विद्या (विधि, पद्धति), श्रद्धा एवं उपनिषत् (रहस्य)—इन तीनों का यथानुरूप सम्मिलन न होने पर वह साधन, श्रुति की भाषा में, **'वीर्यवत्तर'** नहीं होगा, समर्थ और सिद्धिप्रद नहीं होगा। श्रद्धा अथवा भाव इन तीनों का मूल है इसमें संदेह नहीं, क्योंकि मूल में भाव रहने पर ही क्रिया 'स्वच्छन्द' में अपने पथ पर चलेगी (नामग, अध्वग बनेगी), और ज्ञान भी 'स्वच्छन्द' में परम उपलब्धि और आस्वादन में जा पहुँचेगा (धामग बनेगा)। किन्तु धृति और उत्साह के साथ पथ पर तो चलना ही पड़ेगा, और परिपूर्ण उपलब्धि के अन्तराय-स्वरूप जो पर्दे हैं उन्हें एक के बाद एक सरका ही लेना होगा। दूसरी ओर, श्रद्धा अथवा भाव आरम्भ में ही पक्का-पुख्ता होकर दिखाई नहीं देता। आरम्भ में रुचि या रति बड़ी 'लजीली' (shy) होती है, बड़ी 'चल-चपल-चञ्चला' (fickle, variable) है। एक ओर विद्या, दूसरी ओर उपनिषत्—इन दोनों के विश्वस्त आलिङ्गन में उसकी रक्षा करनी होती है, और सावधान होकर उसकी संभावना को 'से' कर प्रस्फुटित कर लेना होता है। इस ग्रन्थ के ४।४।३० सूत्र की कारिका में जिस कल्पतरु की बात की गई है, श्रद्धा वा भाव लेकर ही उसके मूल को आश्रय बनाना होगा; निष्ठा से उस कल्पवृक्ष के काण्ड (तने) का आश्रय लेना होगा। वैसा करने पर उस काण्ड से दो 'साधिष्ठ' शाखायें उद्गत होंगी—एक उत्तरोत्तर उज्ज्वल परिपूर्ण प्रकाश के प्रति उन्मुखता, दूसरी, भावभक्ति वा भजन-रस-माधुरी की उत्तरोत्तर रस-घन-गाढ़ता। ये दोनों शाखायें फिर जहाँ सामरस्य में सम्मिलित हैं, वहीं पर 'सान्द्रा मुकुल मञ्जरी' का उद्गम होता है और वहीं पर पूर्ण समापत्ति एवं परम सफलता होती है। यह 'महोदय' होने दो। आरम्भ में ही हाथ में 'कुठार' न ले लो, अनावश्यक 'वृद्धि' छाँट डालने के लिए; अमृत कल्पतरु कहीं तुम्हारे भाग्यदोष से केवल ठूँठ जल्पतरु न हो जाय।

मान लें, यह सब हो गया। किन्तु जपकर्ता को समर्थ जप के लिए स्पन्दन और वीचिविज्ञान का 'बोद्धा' भी होना होगा। ऐसा कहने से साधना के साथ

एक प्रायः असम्भव शर्त जोड़ दी गई क्या ? उत्तर—वैसी कोई भी शर्त जोड़ी नहीं जा रही है। इस देश में तानसेन अथवा उस देश में वैग्नर (Wagner), विथोवन् (Beethoven), मोज़ार्ट (Mozart) प्रभृति प्रतिभावान् सुर-शिल्पी शब्दविज्ञान (Acoustics), सूक्ष्मध्वनिविज्ञान (Supersonics) वीचिविज्ञान (Wave mechanics) का गम्भीर अध्ययन किए बिना रह सकते हैं, किन्तु यह सत्य है कि उनकी सुर-शिल्प-सृष्टि, चाहे जहाँ से चाहे जिस प्रकार हो इन सब विज्ञानों के आधार पर ही हुई है; अर्थात् melody,, harmony, resonance इत्यादि के सूत्रों को मान्य करके ही हुई है, अमान्य करके नहीं हुई; होना सम्भव भी नहीं है। शारीर विज्ञान एवं जैव रसायनविद्या (Biochemistry) इत्यादि से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए स्वास्थ्य की रक्षा और पोषण करना संभव है अवश्य, किन्तु स्वास्थ्य तो इन सब विज्ञानों में निरूपित सूत्रों पर ही निर्भर करता है। उसी प्रकार जप के पीछे भी जो महाविज्ञान है, उसके किसी -किसी भाग में अभिज्ञता न होने पर भी जप चल सकता है इसमें संदेह नहीं; फिर भी उस विज्ञान के परिचय से काम में सुविधा ही होती है। तब फिर जप अँधेरे में टटोल कर चलने का काम नहीं रह जाता। किन्तु यह ठीक है कि जप के समय उसके पथ के प्रकाश का पदार्थविज्ञान (physics) की भाँति 'गाणितिक विश्लेषण' करके अथवा 'लेबोरेटरी' के यन्त्रों में उसे जाँच लेने का प्रयोजन नहीं है। यहाँ तक कि, सुरशिल्पी वा वर्णशिल्पी की भाँति उस प्रकाश अथवा ध्वनि के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर पर्दों के पुंखानुपुंखतम भागों का विचार करने का भी वैसा प्रयोजन नहीं है। जप के समय जो relevant analysis (प्रासङ्गिक विश्लेषण) है वह मुख्यतः subjective (आश्रयगत) है; किन्तु उसका objective (विषय-गत) ढाँचा अवश्य ही है। क्योंकि जप मुख्यतः स्थूल का अवलम्बन लेकर एक अभ्यारोह कर्म है। और यह अभ्यारोह घटित होता है मुख्यतः साधक की अपनी स्पृहा वा आकांक्षा एवं ऊर्ध्वतन लोक के अनुग्रह—इन दोनों के सुसङ्गत 'परिणय' से। यह परिणय विशेष रूप से जप को छन्दोग होना सिखाता है। छन्दोग होने पर ही तो अध्वग और धामग होता है। जब तक एवं जिस परिमाण में जप स्थूल स्तर में चलता है, तब तक एवं उस परिमाण में वह स्थूल का 'शासन' मान कर ही चलता है। वह शासन किस प्रकार का है, यह जानने में लाभ ही है। क्योंकि उसका अतिक्रम जो करना है ! जिसका अता-पता (मर्त्यस्य धूर्त्तिः) नहीं जानता हूँ, उससे बच कर भी कैसे

निकलूँ ? और केवल बच कर निकलना है क्या ? मुझे उसको भी, अर्थात् उसके छन्द के शासन को भी अपने निजी मित्रच्छन्द में पा जो लेना है ! जप प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द की भूमि में जाते-जाते उनके भी अपने-अपने 'ऋत' (law) अथवा नियमों को अपने 'मित्र' बनाता चलता है। सभी कुछ 'स्वारसिक' होता चलता है। इसके लिए श्रद्धा, भावभक्ति तो मूल में चाहिये ही, उसके अलावा विद्या एवं उपनिषद् का भी साक्षात् उपयोग है। एवंविध क्रिया के फल से इस कारोबारी प्राकृत अनुभव के जगत् से सेतु के बाद सेतु पार होकर, नूतन-नूतन अनुभूति के जगत् में जाकर पहुँचना होगा। हमारी इस प्राकृत अनुभूति को यदि 'भूः' कहें और इससे अतीत उस दिव्य अनुभूति और दैवी सम्पद् को यदि 'स्वः' कहें, तो इन दोनों का सेतु हुआ 'भुवः'। फिर दैवी अनुभूति की जो पराकाष्ठा वा परमता है, वह है 'तुरीय'। इसीलिए जप चतुष्पात् है। किन्तु सेतु प्रायः पद-पद पर पार करना होता है। एक-एक सेतु पार होने पर आगे का हालचाल बदल जाता है। आरम्भ में जहाँ विधि-निषेध का नागपाश था, सेतु पार होकर देखता हूँ कि वह नाग-पाश शिथिल हो गया है—एक स्वतःस्फूर्त उन्मेष के देश में आ पहुँचा हूँ। और भी आगे बढ़ चलो, फिर से सेतु पार करो। कृपा (करके पाना—कृ+पा) का सन्धान जो कि पहले कुंठित था 'अपावृत' था, पूरा-पूरा मिलने लगा। इसी प्रकार चलना होगा। पूर्व-पूर्व भूमियों के नियम उत्तरोत्तर भूमियों में रद्द नहीं होते, बदल कर और एक प्रकार के हो जाते हैं। 'तनुरजाः' और 'सत्त्वविशाल' होते हैं। अच्छा यह यात्रा क्या आखिर मेरी है, या तुम्हारी ?

'यावन्नद्या नदीनाथे नैकान्तिकसमर्पणम्।
मामकस्तावकस्तावदुच्छ्वासो वेति जल्पना॥'

(जपसूत्र कारिका)

नदीनाथ में ऐकान्तिक समर्पण होने से पहले तक ही नदी सोचती है 'मेरी छाती का यह उच्छ्वास क्या मेरा है या तुम्हारा' ? किन्तु पूर्ण समर्पण में ??

———

जपसूत्रम्

मूलग्रन्थः

(विषयावतरणिका)

१. श्रीगुरुपादाब्जदलपञ्चकम्

२. उपोद्घातः

३. जपसूत्रोपक्रमणी

जपसूत्रम्

ॐ

१. श्रीश्रीगुरुपादाब्जदल–पञ्चकम्

तिस्रो मात्राः प्रसन्नास्त्रितयमपि भृशं घ्नन्ति शिष्ये मलानां
कोशा निर्म्मोकजाड्यं जहति च विमला भर्गसे भान्ति पञ्च ।
सेतुर्योऽप्यर्द्धमात्रा नयति च परमं व्यक्तमव्यक्तभावं
मात्राक्लृप्तस्त्वमात्रो नियत उरुयशाः श्रीगुरुस्तारमूर्त्तिः ॥१॥

अन्वय—उरुयशाः (श्रेष्ठ यश से मण्डित) श्रीगुरुः, तारमूर्त्तिः ('तार' अर्थात् प्रणव की मूर्त्ति हैं); तिस्रो मात्राः ('अ' 'उ' एवं 'म्' ॐकार की ये तीन मात्राएँ) प्रसन्नाः शिष्ये मलानां त्रितयमपि (प्रसन्न होने पर शिष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण मल, अथवा अणु, तनु, और पृथु मल को) घ्नन्ति (नष्ट करती हैं); पञ्च कोशाः (ॐकार की पाँच मात्रा) निर्म्मोकजाड्यम् (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय—इन पाँच कोषों की जड़ता को) जहति (दूर करती हैं); विमलाः (मात्राः) भर्गसे (विशुद्ध ब्रह्मवर्चस् के लिये) भान्ति च (प्रकाशित होती हैं अर्थात् 'भर्गस्' को प्रकाशित करती हैं); यः अपि अर्द्धमात्रा नियतः सेतुः परमं व्यक्तमव्यक्तभावं च नयति (ॐकार की अर्धमात्रा व्यक्त में से अव्यक्त तत्त्व में ले जाने का सेतु है, मात्राग्राह्य वा व्यक्त एवं मात्रातीत वा अव्यक्त—इन दोनों के मध्य में स्थित है ॐकार की अर्द्धमात्रा) मात्राक्लृप्तः (अ, उ, म्—इस त्रिमात्रा द्वारा गृहीत) तु अमात्रः (मात्रातीत) (ये दोनों विशेषण—'मात्राक्लृप्त' और 'अमात्र'—'प्रणव' और 'गुरु' दोनों के साथ जायेंगे) ॥१॥

भाष्य—श्रीगुरु 'तार' अथवा प्रणव अथवा ॐकार की मूर्ति हैं। ॐकार की जो तीन मात्रा—अ, उ, एवं म् हैं, वे यदि प्रसन्न हों तो शिष्य के जो त्रिविध मल हैं—अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म व कारण मल, अथवा जो अणु, तनु एवं पृथु मल, अथवा तन्त्रोक्त आणवादिक मल—इत्यादि संज्ञाओं से निर्दिष्ट मल हैं—उन त्रिविध मलों का नाश कर देती हैं; तथा—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय एवं आनन्दमय—इन पञ्चकोशों की जड़ता का परिहार घटित कर के जो अति-विशुद्ध ब्रह्मवर्च्चस् अथवा तेज है, उसे प्रकाशित कर देती हैं।

ओंकार की जो अर्द्धमात्रा है, वह व्यक्त से अव्यक्त तत्त्व की ओर ले जाने के लिये सेतु-स्वरूपिणी है। इस अर्द्धमात्रा का आश्रय लिये बिना किसी प्रकार भी परम अव्यक्त तत्त्व में प्रवेश नहीं पाया जा सकता। एक ओर व्यक्त रूप जो अ, उ, म्—इस त्रिमात्रा द्वारा गृहीत होता है और दूसरी ओर परम अव्यक्त जो अमात्र या मात्रातीत है अर्थात् जो किसी मात्रा द्वारा गृहीत नहीं होता—इन्हीं दोनों के मध्यस्थल में अवस्थित है ॐकार की अर्द्धमात्रा। यह नित्य एवं विशेषरूपेण अनुच्चार्य है। यह दोनों का संयोगकारक सेतु है। अर्थात् इसका आश्रय लेने पर ही व्यक्त से अव्यक्त लाभ होता है।

ॐकार में छन्दः, प्रयोग आदि सब हैं एवं उसी से उत्पन्न ब्रह्माण्ड सम्पुटित रहता है—इस प्रकार कही जाने वाली जो ॐकार की शक्ति है, वह सामान्य व्यक्ति को दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु यह श्रीगुरुरूप में प्रकट जो प्रणवमूर्त्ति है, वह नियत यशोमण्डित है—उस में समस्त शक्तियाँ सम्यक् रूप से प्रस्फुटित हैं—वे सर्वलोकनयनगोचर हो कर अपनी अनन्त महिमा का ख्यापन करते हैं। ॐ कार का यह प्रकृत (गुरुरूप) स्वरूप मात्रातींत अथवा अमात्र है। इस मात्रातीत स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए ही वह (ओङ्कार) त्रिमात्रा एवं अर्द्धमात्रा में क्लृप्त अथवा कल्पित है।

ॐकार की त्रिमात्रा, अर्द्धमात्रा एवं अमात्रा—इस पञ्चावयव के साथ श्रीगुरु की अभिन्नता का निर्देश ही इस प्रथम श्लोक का अर्थ है ॥१॥

गन्धेन स्थूलसूक्ष्मं यदशितमितरद् वा पुनीतेऽसवश्च
यस्यास्याब्जप्रकाशादमृतरसकणैराचरन्तीह साधु।
रूपं चेतः पुनीते रुतिरवति धियं स्पर्श आनन्दमात्रा
गन्धाद्यैः पञ्चशुद्धीर्वहति स परमोऽस्पर्शशब्दादितत्त्वः ॥२॥

अन्वय—स्थूलसूक्ष्मम् यदशितम् ('भोग्यम्'—स्थूल-सूक्ष्म जो भोग है, उसे और) इतरद् वा (इतर जो कुछ है, उसे) [तद् यः] गन्धेन पुनीते (गन्ध से शुद्ध करता है); यस्य आस्याब्जप्रकाशात् (जिनके मुखकमल के प्रकाश से) अमृतरसकणैः (श्रीगुरु के मुखकमल से क्षरित अमृत-रस-कणों के द्वारा) असवश्च इह साधु आचरन्ति (प्राण की शुद्धि होती है और वे शुद्ध आचरण करते हैं); रूपं चेतः पुनीते (जिन का रूप चित्त को शुद्ध करता है); रुतिः धियम् अवति (जिनका वाक्य धी अर्थात् बुद्धि की रक्षा करता है); स्पर्शः आनन्दमात्राः [अवति]; (जिनका स्पर्श आनन्दमात्रा का पोषण करता है); गन्धाद्यैः पञ्च-

शुद्धोः वहति (इस प्रकार गन्धादि से जो पञ्च शुद्धि का वहन करता है) स परमः अस्पर्शशब्दादितत्त्वः (वह शब्द अस्पर्श आदि तत्त्व-मय है)। ॥२॥

भाष्य—श्रीगुरु की जो दिव्य अङ्गगन्ध है, वह समस्त इन्द्रियवर्ग के जो स्थूल व सूक्ष्म भोग्य हैं, उन्हें शुद्ध करती है। जो अन्न-रूप में खाया या पिया जाता है, केवल वही नहीं, अन्यान्य इन्द्रियों द्वारा भी जिन का आहरण किया जाता है, वह समस्त आहार ही श्रीगुरु की दिव्य अङ्गगन्ध द्वारा शोधित हो जाता है। समस्त इन्द्रियवर्ग की आहारशुद्धि ही श्रीगुरु की दिव्य अङ्गगन्ध के आस्वादन का फल है, यह क्षितितत्त्व की शुद्धि है।

श्रीगुरु के वदनकमल का जो मधुर हास्य है, उनके नयनकमल की जो प्रसन्न (प्रसादमय) दृष्टि है, उनके मुखकमलावयव की जो स्निग्ध, शान्त, मधुर भङ्गी है—ये सभी जिस अमृतरस का क्षरण करते रहते हैं, उस के द्वारा शिष्य का आचार शुद्ध हो जाता है। एवं तब वह साधु, शोभन अनुष्ठान करने में प्रवृत्त होता है। श्रीगुरु की परम सुन्दर, परम रमणीय, शुद्ध, मधुर, विमोहन भङ्गी के दर्शन से प्राण पुलकित एवं शुद्ध होते हैं। प्राणशुद्धि के फल से समस्त आचार, अनुष्ठान पवित्र हो जाते हैं। जिसने एक बार श्रीगुरु की प्रसन्न भङ्गिमा का दर्शन किया है एवं उन के प्रसाद का अनुभव किया है, जिस ने श्रीगुरु के मुखकमल से क्षरित अमृत-रस-कणों के पान का आस्वादन पाया है, उसके द्वारा अब असाधु, अशोभन कर्म अनुष्ठित हो ही नहीं सकते। यह अप् तत्त्व की शुद्धि है।

श्रीगुरु का विश्वविमोहन रूप जिसके मन में प्रतिफलित होता है, जो सर्वदा उसी मनोहर मूर्त्ति का ध्यान करता है, जिसका चित्त उसी शुद्ध अपापविद्ध परम पवित्र मूर्त्ति द्वारा सर्वदा भरित रहता है, उसके विचार व चित्त शुद्ध हो ही जाते हैं। अन्य कोई भी चिन्ता या विचार उसके मन में स्थान पाता ही नहीं। श्रीगुरु की विशुद्ध मूर्त्ति के ध्यान में उसका मन निविष्ट रहता हुआ पवित्र हो जाता है। यह तेजस् तत्त्व की शुद्धि है।

श्रीगुरु के मुखनिःसृत वाक्यों द्वारा शिष्य की धी अर्थात् बुद्धि बढ़ती है। श्रीगुरु ही सर्व-धी-साक्षी हैं। श्रीगुरु के वाक्य द्वारा, उपदेश द्वारा शिष्यों की बुद्धि सत्पथ पर चालित होती है। श्रीगुरु का वाक्य ही महामन्त्र है। मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यम्। श्रीगुरु का वाक्य, उनका उपदेश हृदय में रह कर बुद्धि का प्रेरक बनता है। बुद्धि को शुद्ध करने में, प्रस्फुटित करने में श्रीगुरुवाक्य की भाँति

शक्तिधर और कोई नहीं है। श्रीगुरु का वाक्य हृदय में धारण करने से बुद्धि विपथ पर चालित या प्रचारित नहीं हो सकती। इसीलिये श्रीगुरुवाक्य ही आचारशुद्धि का हेतु है। **यो बुद्धेः परतस्तु सः***—बुद्धि के पार जो परतत्त्व है, उसकी उपलब्धि का उपाय भी गुरुवाक्य से ही होता है। यह आकाश-तत्त्व की शुद्धि है।

किन्तु उसके पूर्व, श्रीगुरुपादपद्म का दिव्य स्पर्श शिष्य के सर्व्वाङ्ग में आनन्द-लहरी उत्पन्न कर देता है। श्रीचरणस्पर्शमात्र से ही शिष्य मानो एक दिव्य आनन्द, एक मधुर सिहरन, एक दिव्य पुलक का अनुभव करता है। मानो कि एक शक्ति का संचार इस स्पर्श के फलस्वरूप घटित होता है। जीव की स्वाभाविक आनन्दमात्रा के पोषण और परिपूरण में यह सर्वोत्तम है, यही वायुतत्त्व की शुद्धि है।

यद्यपि श्रीगुरु की यह अङ्गगन्ध, मुखपद्म के अमृतरस-कण, अपरूप रूप, शुद्ध शान्त हृत्कर्ण-रसायन शब्द एवं आनन्दमय स्पर्श—आहार, आचार, विचार, प्रचार व सञ्चार की पञ्चविध शुद्धि करते हैं; तथापि परमार्थतः श्रीगुरु अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अगन्ध, अरस अर्थात् ब्रह्माभिन्न ब्रह्मस्वरूप ही हैं। इससे मूल-शुद्धि अर्थात् मूला अविद्या की शुद्धि होती है। श्रीगुरु-तत्त्व में शुद्ध सच्चिदानन्द तत्त्व का पर्यवसान होने पर भी श्रीगुरु भगवान् के प्रकृतित्रय (अपरा, परा, परमा),शक्तित्रय(अन्तरंगादि) के त्रिवेणीसंगम हैं। सुतरां स्थूल से परम पर्यन्त सभी 'ग्रामों' में गुरु-तत्त्व का प्रकाश एवं प्रभाव है। **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्**।†

अतएव मूलसहित पञ्चशुद्धि के कारक श्रीगुरु हैं यही इस द्वितीय श्लोक में दिखाया गया है ॥२॥

वाग्बुद्धिप्राणमूलं गमयति कृपणं भ्रष्टमूलं गवर्णो
मूर्द्धन्येनापि धाम्ना रसयति विधुरं क्षय्यतृष्णं रकारः।
उच्छेदं मोहमूलं विमलसमुदयं नेष्यतो द्वावुवर्णौ
नीयात् शीर्णं श्रियै श्रीः परममुपरमं श्रीगुरौ यो विसर्गः ॥३॥

---

* इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३.४२)—अनुवादिका।

† वासुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥
(गीतामाहात्म्य)—अनुवादिका।

अन्वय—श्रीगुरौ ('श्रीगुरुः' इस पद में) गवर्णः (गकार) भ्रष्टमूलं (मूल से भ्रष्ट हुए) कृपणं (दीन जीव को) वाग्बुद्धिप्राणमूलं (वाक्, बुद्धि और प्राण के मूल में स्थित आत्मतत्त्व को) गमयति (प्राप्त कराता है); रकारः क्षय्य-तृष्णं ('क्षय्य' विषयों में तृष्णायुक्त को अथवा 'क्षयि+अतृष्णं'—'क्षयी' विषयों में जिसकी तृष्णा क्षयप्रवण हो चुकी है ऐसे जीव को) विधुरं (कातर जीव को) मूर्धन्येनापि धाम्ना (मूर्धस्थित तेज के द्वारा) रसयति (संजीवित करता है); द्वौ उवर्णौ (दो उवर्ण) मोहमूलम् उच्छेदं विमलसमुदयं (मोह के उच्छेद एवं विमल ज्ञान के उदय को) नेष्यतः (प्राप्त करायेंगे); श्रीः शीर्णं ('श्री' शीर्ण वा श्रीहीन जीव को) श्रियै नीयात् (श्री प्राप्त कराए); यः विसर्गः [सः] परमम् उपरमं [नीयात्] (विसर्ग समस्त प्रपञ्च का उपशम करे) ।।३।।

भाष्य—'श्रीगुरुः' इस पद में पाँच वर्ण हैं। श्री, ग्, उ, र्, उ एवं विसर्ग। दोनों 'उ' को एक ही वर्ण मानना होगा। अब गकार का उच्चारण-स्थान है जिह्वामूल। यह क्या सूचित करता है? मूल से भ्रष्ट जो दीन जीव है, उस (जीव) की वाक्, बुद्धि और प्राण के मूल में जो श्रुतिसिद्ध आत्मतत्त्व स्थित है, उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति कराता है यह गवर्ण; और रकार का उच्चारण-स्थान मूर्धा है इसलिए यह मानो बताता है कि 'गुरु'-शब्दस्थ रकार क्षयशील विषय में तृष्णायुक्त, अथवा जिसकी तृष्णा क्षय-प्रवण हो गयी है, ऐसे कातर जीव को मूर्धास्थित तेजः वा प्रकाश द्वारा संजीवित करता है। और दोनों उकारों में से एक, मोह के मूल में जो अविद्या है, उसे उत्पाटित करता है, अर्थात् समूल विनाश करता है, और दूसरा विमल ज्ञान का उदय कराता है। एक उकार द्वारा अज्ञान का उच्छेद और दूसरे उकार द्वारा ज्ञान का उदय समझना चाहिये। इसके द्वारा एकभक्तिरूप जो उत्कृष्ट ज्ञान है उसे भी समझना होगा। उकार की यह द्विविध वृत्ति है। उकार का उच्चारण-स्थान है ओष्ठ। इस ओष्ठ के द्वारा ही सब वर्ण नियन्त्रित हैं। अर्थात् ओष्ठ के द्वारा किसी-किसी स्थल में वर्ण छिन्न (inhibited) होते हैं, एवं उसके द्वारा ही वर्ण का बहिःप्रकाश वा उदय (exhibition वा expression) भी होता है। ओष्ठ हमारे मुख में (एवं लक्षणा से सृष्टि में सर्वत्र) मानो valve की तरह काम करता है—सब कुछ की गतागति मानो यही नियन्त्रित करता है।

यहाँ यह भी लक्ष्य करना होगा कि 'नेष्यतः' पद में भविष्यत्काल के प्रयोग द्वारा यह दिखाया गया है कि यह अज्ञान+उच्छेद और ज्ञान+उदय बाद में

क्रमशः होगा। किन्तु प्रथम दो पदों—'गमयति' 'रसयति'—में वर्तमान काल के प्रयोग द्वारा समझाया गया है कि ये दो अर्थात् वृथा, अमूलक वस्तु के पीछे भ्राम्यमाण जीव का मूलाभिमुख में गमन और विषयतृष्णाकातर जीव का दिव्यरसास्वादन—ये दोनों श्रीगुरु-कृपालाभ के साथ-साथ ही घटित होते हैं।

और आदि में 'श्री' शब्द, जो शीर्णता के कारण श्रीहीन हो गया है, उसे श्रीसंपन्न सौन्दर्यमण्डित कर देता है—यही समझाता है। और 'श्रीगुरुः' पद में सबके अन्त में जो विसर्ग है, उसके द्वारा समस्त प्रपञ्च का उपशमात्मक परम उपरम वा 'शान्तं शिवम् अद्वैतम्' रूप परम तत्त्व सूचित होता है। तद-नुसार 'श्रीगुरुः' पद के पाँच वर्ण क्रमशः १—मूलतत्त्वप्रापण (गमयति), २—तेजःसञ्चार वा बलाधान (रसयति), ३—अज्ञान का उत्च्छेद एवं ज्ञान का उदय ४—अभ्युदय (श्री) और ५—उपशमात्मक ज्योतीरसाभिन्न परम मुक्ति वा निःश्रेयस् (विसर्ग)—इन पाँच को सूचित करते हैं। 'श्रीगुरुः' इस मन्त्र अथवा शब्द में ही इतना अपूर्व रहस्य है ॥३॥

प्रत्यङ्निष्ठः स धीरः परिहरति सनात् सङ्ग्रहाद् वै पराञ्चि
यस्याङ्गीकारलेशात् प्रभवति विशदं ब्रह्मसौख्यं च दौःस्थ्ये।
लीयेतामूर्तमात्रं घटपटविषयं विग्रहाद् यस्य मूर्तं
कारुण्येनावतीर्णं जयतु शिवगुरोरङ्घ्रिजं पञ्चगङ्गम् ॥४॥

अन्वय—(शिष्य, श्रीगुरु की शक्ति से, उनकी) संग्रहात् (संग्रहशक्ति के कारण) प्रत्यङ्निष्ठः (अन्तर्मुख, एवं) धीरः (धीर हो कर) पराञ्चि (बाह्य विषयों को) सनात् (सदैव) परिहरति (छोड़ देता है)। यस्य (जिन श्रीगुरु के) अङ्गीकारलेशात् (स्वीकार-मात्र से, शिष्य-रूप में परिग्रह-मात्र से) दौःस्थ्ये (दुर्दशाग्रस्त स्थिति में) विशदं (प्रसन्न) ब्रह्मसौख्यं (ब्रह्मानन्द) प्रभवति (होता है); यस्य (जिन श्रीगुरु की) विग्रहात् (विग्रहशक्ति-द्वारा, शरीर धारण कर लेने से) घटपटविषयं (घटादिसम्बन्धी) मूर्तं (दृश्य) अमूर्तमात्रं (अमूर्त की स्थिति में) लीयेत (लीन हो जाय, उन श्रीगुरु का) कारुण्येन (संग्रह, प्रतिग्रह, विग्रह एवं परिग्रह, इन सब अनुग्रह-शक्ति की लीलाओं द्वारा) अवतीर्णं (उत्पन्न) शिव-गुरोः (शिव-रूपी गुरु के) अङ्घ्रिजं (चरण से उत्पन्न) पञ्चगङ्गं (संग्रह, प्रति-ग्रह, विग्रह, परिग्रह एवं अनुग्रह-शक्ति रूप पञ्चगङ्गा) जयति (सर्वोत्कर्षशील है, अर्थात् श्रीगुरु की यह शक्तिधारा भी परम-पावनी मन्दाकिनी धारा के समान ही शुद्ध करने वाली है)।

भाष्य—श्रीगुरु-शक्ति पराङ्मुखी अथवा बहिर्मुखी समस्त वृत्तियों को प्रत्यङ्मुखी अथवा अन्तर्मुखी कर के शिष्य को धीर बना देती है, जिससे वह बाहर के विषयों में आवृतचक्षु: (ढकी हुई आँख वाला) हो कर अन्तरात्मा का, प्रत्यगात्मा का दर्शन करने में समर्थ होता है, एवं अमृतत्व-लाभ कर सकता है। बाहर बहुदिशाओं में प्रसारित, बहु-विषयों में प्रधावित, शक्ति-निचय को संग्रह-शक्ति द्वारा श्रीगुरु प्रत्यङ्मुखी कर देते हैं। और दुर्दशाग्रस्त दुःस्थ जीव को शिष्यरूप में अङ्गीकार करते ही वे उसे परम प्रसन्न, ब्रह्मानन्द के अनुभव-योग्य बना देते हैं। शिष्य-रूप में इस स्वीकार वा प्रतिग्रह के द्वारा, इस अङ्गीकार के लेशमात्र द्वारा ही त्रिविधताप-क्लिष्ट दुःखतप्त जीव को वे सर्वोत्तम भजनानन्द एवं अपार ब्रह्मानन्द के अनुभव-योग्य बना देते हैं। यही उनकी प्रतिग्रह-शक्ति की महिमा है।

श्रीगुरु अपनी विग्रहशक्ति द्वारा मूर्त हो कर प्रकट रूप में दिखलाई दे कर, अर्थात् देह-रूप-विग्रह-धारी बन कर मूर्त्त वा स्थूल घट-पट आदि विषय को अमूर्त परम-तत्त्व में लीन वा लय करा देते हैं। स्वयं स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी मूर्ति धारण करके, आकर, मूर्त को अमूर्त्त में ले जाने का कारण बनते हैं। ऐसा ही उनका मूर्ति-धारण का विचित्र रहस्य है। जो मूर्त्ति वे धारण करते हैं वह भी अमायिक, अप्राकृत है।

मूर्त्त-विग्रह के रूप में उनका यह जो अवतरण है, यही उनकी परिग्रह-शक्ति है। श्रीभगवान् के अवतार-रूप-परिग्रह नैमित्तिक हैं, किन्तु श्रीगुरु का विग्रह-रूप में अवतरण नित्य है। 'कालेनानवच्छेदात्'*। 'मद्गुरुः श्रीजगद्-गुरुः' ↑,

यह सब उनका संग्रह, प्रतिग्रह, विग्रह, परिग्रह—सभी कुछ उनकी करुणा है, उनकी अनुग्रहशक्ति की ही लीला है, अनुग्रहशक्ति का ही रूपायण है।

शिव के मस्तक से माँ गङ्गा का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु शिव की प्रकटमूर्ति श्रीगुरु के श्रीचरण से ही गङ्गा का उद्भव है। हर-जटाजाल से तो एक ही गङ्गा की उत्पति है, और यहाँ साक्षात् शंकर-मूर्ति श्रीगुरु के श्री-पाद पद्म से पंचगंगा का आविर्भाव हुआ है।

---

*'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। पातञ्जलयोगसूत्र १।२६—अनुवादिका।

↑ मन्नाथः श्रीजगन्नाथो मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः। —अनुवादिका।

संग्रह, प्रतिग्रह, विग्रह, परिग्रह और अनुग्रह—यह पंचशक्तिरूपा पञ्चगंगा, श्रीगुरु की यह शक्तिधारा परमपावनी मन्दाकिनी धारा के समान ही शुद्ध करने वाली है ॥४॥

भारं कर्मार्पितमतिगुरुं घोरतादिप्रवृद्धं
मग्नामूर्वीमिव पयसि यो लीलयाऽप्युद्दिधीर्षुः।
धत्ते बीजं श्रुतिपथचरं वर्चसे चात्ममन्थं
क्लेशव्यूहच्छिदुरुमखभृच् श्रीगुरुः पञ्चमूर्तिः ॥५॥

अन्वय—**पञ्चमूर्तिः** (मीन, वराह, कूर्म, नृसिंह एवं वामन इन पाँचों अवतारों के प्रकट रूप) **यः श्रीगुरुः** (जो गुरुदेव), **कर्मार्पितं** (अनन्त जन्मार्जित कर्मों के कारण) **अतिगुरुं** (अत्यधिक) **घोरतादिप्रवृद्धं** (घोरता, मूढ़ता प्रभृति गुणों के द्वारा बढ़े हुए) **भारं** (शिष्य पर के भार को), **पयसि** (समुद्र-जल में) **मग्नां** (डूबी हुई) **उर्वीं** (पृथ्वी को—भगवान् वराह की भाँति) **लीलया** (अनायास) **उद्दिधीर्षुः** (उद्धार करना चाहते हैं—उद्धार करते हैं); [मत्स्यावतार की भाँति] **श्रुतिपथचरं** (कर्णपथ में) **बीजं** (वीज मन्त्र को) **धत्ते** (धारण करते हैं); [जिस प्रकार कूर्म अवतार में भगवान् ने समुद्र का मन्थन-दण्ड स्वयं धारण किया था, उसी प्रकार श्रीगुरु भी] **वर्चसे** (ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति के निमित्त), **आत्ममन्थं** (शिष्य की आत्मा का मन्थन करने के लिये दण्ड) [धारण करते हैं], [पुनः जिस प्रकार भगवान् ने नृसिंह अवतार में पृथिवी का पाप हरण किया, उसी प्रकार श्रीगुरु शिष्य के] **क्लेशव्यूहच्छिद्** (पञ्चक्लेश की समष्टि का निःशेष विनाश करते हैं); [वामन अवतार में भगवान् ने जिस प्रकार वलि के यज्ञ का पालन किया था, उसी प्रकार श्रीगुरु भी शिष्य के अभ्युदय के लिए] **उरुमखभृत्** (विस्तीर्ण यज्ञ का पालन करते हैं) ॥५॥

भाष्य—अनन्त जन्मार्जित कर्मों के गुरु-भार से शिष्य जब बिल्कुल अतल जलधि-जल में डूब रहा होता है, घोरता, मूढ़ता प्रभृति गुणों के द्वारा यह कर्म-भार जब क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, तब प्रलय-पयोधि-जल में पृथ्वी के मग्न हो जाने के समय श्रीभगवान् ने वराहरूप में अवतीर्ण होकर जैसे दंष्ट्रा द्वारा वसुन्धरा को ऊर्ध्व में धारण किया था, वैसे ही श्रीगुरु भी गुरु-भाराक्रान्त पृथ्वी की भाँति अनन्त भाराक्रान्त शिष्य को 'लीलया' अर्थात् अनायास अथवा करुणावशतः ऊर्ध्व में धारण करते हैं, उसका उद्धार करते हैं।

पुनः श्रीगुरु श्रुति-पथ में बीजमन्त्र धारण करते हैं। इस मन्त्र से ही आत्मचैतन्य उद्भासित होता है। मीन अवतार में जैसे श्रीभगवान् ने समस्त

पृथ्वी का बीज धारण किया था एवं उसी से समस्त पृथ्वी पुनः आविर्भूत हुई थी, श्रीगुरु भी उसी प्रकार इस बीजमन्त्र को धारण करते हैं और उसे शिष्य के श्रुति-पथ का गोचर बनाते हैं। एवं इस बीज से भी मूलतत्त्व आविर्भूत होता है। (यहाँ पृथ्वी 'earth' नहीं है। पृथु अर्थात् विस्तारित भाव से रहने की 'भूमि' ही पृथ्वी या पृथिवी है)। आत्मवस्तु सर्वदा ही विद्यमान है, तथापि उसका मानो बीजमन्त्र से आविर्भाव होता है। उपलब्धि ही उस का आविर्भाव है। समस्त सृष्टि भी बीजाकार में रहती है, बाद में इस बीज से पुनः आविर्भूत होती है।

फिर कूर्म्म अवतार में जैसे श्रीभगवान् ने समुद्रमन्थन के समय मन्थनदण्ड धारण किया था, श्रीगुरु भी उसी प्रकार ब्रह्मवर्च्चस्-प्राप्ति के निमित्त शिष्य के आत्मा के मन्थन करने का दण्ड स्वयं धारण किये रहते हैं।

पुनः नृसिंहावतार में श्रीभगवान् ने जैसे हिरण्यकशिपु को विदीर्ण करके पृथिवी का पाप-हरण किया था, वैसे ही श्रीगुरु भी शिष्य के क्लेश-व्यूह अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इस पंच-क्लेश की समष्टि का निःशेष रूप से विनाश करते हैं।

अन्त में, वामनावतार में श्रीभगवान् ने उरुक्रम-रूप से जैसे बलि के यज्ञ का भरण किया था, उसी प्रकार श्रीगुरु भी शिष्य का 'उरु' अर्थात् विस्तीर्ण पद अर्थात् अभ्युदय-लाभ के लिये जो 'मख' अर्थात् यज्ञ है उसका भरण वा पालन किया करते हैं।

इस प्रकार शिष्य का ऊर्ध्वधारण, उसके बीजमन्त्र का संरक्षण, उसका मन्थन-दण्ड-धारण, उसका क्लेश-विदारण एवं स्वाध्यायादि यज्ञभरणरूप पञ्चकर्म के द्वारा श्रीगुरु की एकाधार में वराह, मीन, कूर्म्म, नृसिंह और वामन—इन पंच अवतारों की प्रकट मूर्ति दिखाई गई।

मन्तव्य—'ऊँकार' शब्द को अनेक स्थलों पर इस प्रकार लिखने का कारण है—शेषप्लुत ध्वनि का निर्देश। अर्थात् मकार पर ही जाकर प्रणव की ध्वनि सहसा विराम नहीं पाती, पुनश्च 'भर्गं' शब्द को अकारान्त न कर के सकारान्त करने से मूलीभूत प्राण के प्रयत्न-विशेष की आकृति (Pranic function-pattern) सुस्पष्ट निर्दिष्ट होती है। वेदादि मन्त्रशास्त्र में इस प्रकार की 'मूल आकृतियाँ' ही देखने में आती हैं। लौकिक प्रयोग में शक्ति और आकृति दोनों का ही सङ्कोच देखा जाता है।

श्रीगुरुपञ्चक में जो 'अर्द्धमात्रा' है, वह जपसूत्र में विशेष सूत्र द्वारा लक्षित हुई है। और कारिकाओं में उसकी आलोचना की गई है। यह एक मौलिक रहस्य है। कहना न होगा, कि 'अर्ध' का अर्थ 'आधा' नहीं है, यहाँ एक परि-चय-श्लोक सानुवाद दिया जाता है, जिसकी बाद में विशेष व्याख्या होगी:—

> अव्यक्तस्फोटयोनिः स्फुटमुदयमिता चोर्म्मिरूपास्ति मात्रा
> स्फोटञ्चाव्यक्तमाप्ता स्वरसलिलचये वीचिविश्रान्तिमेति।
> व्यक्तेर्ग्रामानतीत्य प्रसरति तनुगा यर्ध्यमाना स्ववृत्तौ
> द्वे काष्ठे नादबिन्दू त्वसकलयुगला साऽर्द्धमात्रा ह्यमात्रम्॥

हमारे बोध में जो अव्यक्त है, किन्तु पूर्ण बोध में जो नित्य अकुण्ठित स्फुटीभाव (स्फोट) है, वह एक निस्तरङ्ग, अगाध महोदधि के समान है। अथच विश्वबोध में असंख्येय शब्द, अर्थ और प्रत्यय के रूप में वह पुनः तरंगायित भी हो रहा है। उस अव्यक्त स्फोट के आधार पर ऊर्मिरूप से उत्पन्न हो कर जो स्फुट आकार में उदित होती है, उसे मूल आकृति के भाव से (as pattern) देखने से 'मात्रा' कहा जाता है। अर्थात् सब कुछ ही मूलतः स्पन्द एवं ऊर्मि के रूप में उदित हो रहा है। उदित होने पर उसे अपने वीचि-रूप की विश्राम-भूमि कहाँ मिलती है? निखिल अभिव्यक्त स्वरादि का 'सलिलचय'—लीनता का स्थान जो अव्यक्त स्फोट है, उसी को वह पुनः प्राप्त होता है। जिससे उत्पत्ति होती है, उसी में लौट कर शान्त हो जाता है। इस उत्थान एवं अव-सान के मध्य में जो अभिव्यक्ति है, वह नाना 'ग्राम' में नाना परदों में हो रही है। जब किसी भी 'ग्राम' में अभिव्यक्ति होती है, तब उस 'ग्राम' का ऊर्ध्व एवं अधः (ultra एवं infra) उभय दिशा में ही अतिक्रम करके मात्रा (measure principle) सूक्ष्म-गति (तनुगा) होकर स्वकीय वृत्ति में (स्वकीय सामर्थ्य और छन्द में) 'ऋध्यमान' होती रहती है। यह जो ऋध्य-मानता (progression) है इसकी दोनों दिशाओं में सीमा (काष्ठा) है—पहली सीमा है विस्तार की दिशा में (नाद), दूसरी है केन्द्रीण घनीभाव की दिशा में (बिन्दु)। दोनों काष्ठाओं के अभिमुख में असंख्य अभिव्यक्त 'कला' में मात्रा की इस प्रकार की जो ऋध्यमानता है वही है—अर्द्धमात्रा।

अर्द्धमात्रा एक ओर नाद तक और दूसरी ओर बिन्दु तक ऋध्यमानता का परिपूर्ण रूप है। पुनः 'असकलयुगला' अर्थात् नादबिन्दुकलातीत वा रहित रूप से यह 'अमात्रं' मात्रातीत है॥५॥

---

२. उपोद्घातः

[भूम-स्तुतिः]

नास्त्यस्तीति प्रतीतौ नियतमनुगतं श्रौतसत्यं ह्यनन्तं
भानेऽभाने विभाति प्रतिपदविदितं ज्योतिषां ज्योतिराविः ।
भूयस्त्वेनैव काष्ठा श्रुतिगणशिखयाऽदर्शि यो वै रसः स
भूमेति प्रत्यगात्माऽस्त्वनपिहितमुखः श्रेयसे प्रेयसे वः ॥१॥

अन्वय—**नास्त्यस्तीति प्रतीतौ** ('अस्ति' और 'नास्ति' इस द्विविध प्रतीति में) [जो सत्] **नियतम् अनुगतं** (नियत रूप से घटादि-पदार्थ में मृत्तिकादि की भाँति अनुगत) [रहता है, वही] **श्रौतसत्यं अनन्तं** (उपनिषत्-प्रतिपाद्य सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म है) । **भाने** (जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओं में जब विषय का भान होता है), **अभाने** (सुषुप्ति, मूर्छा आदि में जब विषय का भान नहीं होता, तब भी) **प्रतिपदविदितं** (साक्षात् निरवच्छिन्न स्वप्रकाश) **ज्योतिषां ज्योतिः** (सभी ज्योतियों का ज्योतिःस्वरूप वह) **विभाति** (विद्यमान रहता है) **श्रुतिगणशिखया** (वेदशिरोमणि छान्दोग्य उपनिषद् ने) **भूयस्त्वेनैव** ('ततो भूयः' इसी क्रम से) **काष्ठा** (सीमा) **अदर्शि** (दिखाई है) **यो वै रसः स भूमेति** (जो साक्षात् सुख वा रसस्वरूप है वही भूमा है); [वह] **प्रत्यगात्मा** (सत्य, अन्तरात्मा) **वः** (आप लोगों के) **श्रेयसे** (स्वरूप-ज्ञान-रूप श्रेयोलाभ के निमित्त) **प्रेयसे** (परमानन्द प्रेयोलाभ के निमित्त) **अनपिहितमुखः** (निरावरण) **अस्तु** (हो) ।

भाष्य—घटशरावादि पदार्थ में मृत्तिका जिस प्रकार नियत अनुगत रहती है, उसी प्रकार 'अस्ति' एवं 'नास्ति'—इस उभय प्रतीति में अस्तिता-मात्र-रूप जो सत् नियत अन्वित है, वही उपनिषत्प्रतिपाद्य सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म है । देश, काल, वस्तु और सम्बन्धजन्य कोई परिच्छेद उसमें नहीं है, एवं वह किसी प्रकार के अभाव का प्रतियोगी विषय भी नहीं है, इसलिए वह सत् अनन्त है । पुनश्च जाग्रत् स्वप्नादि अवस्था में जब विषय का भान होता है, अथवा सुषुप्ति-मूर्च्छादि में जब किसी विषय का भान नहीं होता, तब भी चिज्ज्योति-रूप में साक्षात् निरवच्छिन्न यह स्वप्रकाश है; यह सब ज्योतियों की ज्योति है, इसी के प्रकाश में ही अन्य सब कुछ प्रकाशित होता है एवं इस स्वप्रकाश संवित् का उदय-अस्त भी नहीं है, यह संवित् प्रतिबोध-विदित है,

अथच यह विदित और अविदित इन दो में से कोई-सा भी नहीं है। वास्तव में यह शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है। श्रुति-गण-शिखा वेद-शिरोमणि छान्दोग्य उपनिषद् में नारद-सनत्कुमार संवाद में 'ततो भूयः' इस क्रम से जो शेष सीमा दिखाई है, वह है साक्षात् सुख वा रस-स्वरूप भूमा। अल्प में, खण्डित में, परिच्छिन्न में वह नहीं है। अतएव सद्वस्तु केवल, अनन्त एवं ज्ञानस्वरूप हो, ऐसा नहीं है, वह पुनः निरतिशय सुखस्वरूप है। वह भूमा प्रत्यगात्मा (inner self) के रूप में सर्वभूत में प्रविष्ट है। प्रविष्ट हो कर उसने अपनी मायाशक्ति से उस सत्य प्रत्यगात्मा के स्वरूप (साक्षी, चेतयिता, रसयिता, विभर्त्ता) का आवरण किया है। तुम लोंगों के स्वरूपज्ञान-रूप श्रेयोलाभ के निमित्त एवं परमानन्दरूप प्रेयोलाभ के लिये सत्य का वह मुख निरावरण हो ॥१॥

[हौंस-स्तुतिः]

हंसो यो हंसवत्यामृचि घृणिरिति वा प्राण इत्येवमूचे
गायत्र्या यद्वरेण्यं प्रणव इति गिरोदीरितं चापि भर्गः ।
गा माध्वीरिन्दुबिन्दूनृगपि मधुमती मन्त्रवर्णैरदुग्ध
सूर्यो वह्निश्च सोमः सपदि विजयतामैकपद्येन हौंसः ॥२॥

अन्वयं—यः (जिसे) हंसवत्यां ऋचि ('हंसवती' नाम की ऋक् में) 'हंसः' ('हंस' इस नाम से), [अन्यत्र] घृणिः ('घृणि' या भास्वान् इस नाम से) 'प्राणः' ('प्राण' इस नाम से) इत्येवं (इस प्रकार) ऊचे (कहा है); गायत्र्या (गायत्री मन्त्र ने) यद् वरेण्यं भर्गः (जिस वरेण्य ज्योति को) प्रणवः (ऊँकार) इति गिरा (इस वाणी से) [कहा है]। मधुमती (इस नाम की ऋक् ने—'मधुवाता ऋतायते'—इन) मन्त्रवर्णैः (मन्त्रवर्णों द्वारा) [जिस] माध्वी गाः (मधुमयी गौं से) इन्दुबिन्दून् (अमृत-कणों का) अदुग्ध (दोहन किया—वही), हंसः (हंस) वह्निः (अग्नि) सोमः (सोम) ऐकपद्येन (एक स्थान में) 'हौंसः' (इसमें मिल कर) [जययुक्त हों] ॥२॥

भाष्य—हंसवती ऋक् ने जिन्हें 'हंस' नाम द्वारा अभिहित किया है, अन्यत्र जो 'घृणि' अथवा भास्वान् प्राण के रूप में कहे गये हैं, गायत्री ऋक् ने ऊँकार इस वाक् के द्वारा जिस 'वरेण्य' ज्योति का कीर्तन किया है, मधुमती ऋक् ने 'मधुवाता ऋतायते' इत्यादि मन्त्र-वर्णों के द्वारा जिस अमृतवर्षिणी गौ का दोहन करके सोमबिन्दु की वर्षा की है, वे श्रुतिप्रतिपाद्य, गुह्यातिगुह्य, हंस, वह्नि

और सोम 'ह्रौंसः' इस महाबीज में एकत्र एक पद में मिलित होकर जय-युक्त हों ॥२॥

[पञ्चभूत-तत्त्वम्]

आवीरूपेण नादः समजनि विततं व्योम विश्वाश्रयं यद्
गत्यात्मा सोऽपि हंसो जगदुदयलयक्रान्तवृत्तिश्च वायुः ।
रूपाणां चित्रशालां स मनसि च बहिर्निर्म्ममे नाम वह्निः
सर्व्वेषां लीनतौकः सलिलमिति पुनर्धारणेऽभूद् धरित्री ॥३॥

अन्वय—नादः (सृष्टि की मूलभूता परावाक्), आवीरूपेण (ब्रह्म की आदिम अभिव्यक्ति के रूप में,) समजनि (अर्थात् प्रणव उत्पन्न हुआ); विततं (विस्तृत) व्योम (आकाश) समजनि (इस प्रणव की मूल अभिव्यक्ति के रूप में, उत्पन्न हुआ), यद् (जो आकाश) विश्वाश्रयं (सूक्ष्म और कारण का भी आधार है); सोऽपि (मूल आवीरूप) गत्यात्मा (क्रियोन्मुख कारणता-रूप गति से युक्त होकर) हंसः (अथवा प्राण है); (यह प्राण वा हंस) जगदुदयलयक्रान्तवृत्तिश्च (और, जगत् के उदय, स्थिति एवं लय-व्यापार के रूप में वृत्तिमान् हो कर) वायुः (वायु होता है); सः वह्निः (उस अग्नि ने) मनसि बहिश्च (अन्तर्बहिः) रूपाणां चित्रशालां (जगत् में अपरूप चित्रशाला) निर्म्ममे (बनाई है); सलिलं (जल) इति (यह) सर्व्वेषां (सब कुछ की) लीनतौकः (लीनता या लय का स्थान है); पुनः (और) धरित्री (पृथिवी) धारणे (इन सबके धारण के लिए) अभूत् (हुई)।

भाष्य—सृष्टि के अभिमुख में ब्रह्म की जो आदिम अभिव्यक्ति है, वह है 'आविः', एवं सृष्टि की मूलभूता परावाक् के रूप में ब्रह्म हैं (परम) नाद। इन दोनों के सम्मिलन में अर्थात् परावाक् आवीरूप में प्रणव है। इस प्रणव की मूल अभिव्यक्ति सर्वाश्रय एवं सर्वव्यापी आकाश है। वह सर्वाश्रय, सर्व-व्यापी आकाश परिदृश्यमान भूताकाश, यहाँ तक कि महाकाश-मात्र भी नहीं है, वह ब्रह्माकाश है, आकाशरूप सच्चिदानन्द सामग्री है। इसलिए यह केवल स्थूल सृष्टि का आधार नहीं है, सूक्ष्म एवं कारण का भी आधार यह आकाश है। यह ब्रह्म का अथवा तद्वाचक प्रणव का मूल आवीरूप है। इस मूल अभिव्यक्ति में ही जब क्रियोन्मुख कारणता-रूप गति दिखाई देती है, तब वह होता है हंस अथवा प्राण। आश्रयरूप में देखने से जो आकाश है, गतिरूप में वह प्राण है एवं स्वरूप में वह आनन्द है। यह प्राण वा हंस जगत् के उदय,

स्थिति एवं लय-व्यापार के रूप में जब वृत्तिमान् होता है, तब वह काल और वायु है। जगत् में अन्तर्बहिः जो अपरूप चित्रशाला है, उसके निर्माता हैं दिग्देशादि पटचित्रक अग्नि या वह्नि। इस अनन्त वैचित्र्य की लीनता का जो स्थान है, अर्थात् जहाँ जाकर सब लय को प्राप्त होते हैं वही है सलिल। और जो इन सबको धारण करके रही है, वह है धरित्री वा पृथिवी।

एक दृष्टान्त लेकर, इन पाँच तत्त्वों को समझने का यत्न करें। मान लें 'बायोस्कोप' का चलचित्र देख रहे हैं, वहाँ प्रथम ही एक आधार-पट वा 'स्क्रीन' की आवश्यकता है, जिस पर छबियाँ पड़ेंगी। इसकी आकाश के रूप में कल्पना कर सकते हो। उसके बाद छबियाँ एक के बाद एक आ रही हैं, और चली जा रही हैं—यह जो संचरमाणता वा गति है, इसे ही वायुरूप में देखें। छबियों का एक विशिष्ट प्रकार व रूप न रहे तो वे हमारे नयन-गोचर नहीं हो सकतीं। जो छवियों को सुस्पष्ट व मूर्त्त करके हमारी आँखों के सामने रख रहा है, उस principle या तत्त्व को अग्नि समझें। इसके बाद छबियाँ दिखाई दे रही हैं, किन्तु कोई सी भी रहती नहीं, सब चली जा रही हैं, किन्तु वे जाकर अन्त में कहाँ विलीन हो रही हैं? निश्चय ही किसी जगह वे सब जाकर आश्रय ले रही हैं या जमा हो रही हैं, इस लय का आश्रय का स्थान है सलिल वा अप्। अन्त में देखें कि प्रत्येक चित्र वा वस्तु का एक विशिष्ट रूप है, प्रत्येक ही अपर से स्वतन्त्र हैं, उनकी इस निजस्व विशिष्टता को बनाये रखता है कौन? उनमें से प्रत्येक के निजस्व वैशिष्ट्य का धारक यदि कोई तत्त्व न रहता तब तो सब मिलजुल कर एकरूप (confused) हो जाता। वैसा तो होता नहीं हैं; प्रत्येक ही अपने स्वकीय वैशिष्ट्य को बनाये रखते हुए ही चलता है। यह संभव होता है मूल में एक धारक तत्त्व रहने के कारण। यही धरित्री है। पहले कहा गया है कि आकाश सब-कुछ का धारक है, फिर धरित्री को भी धारक तत्त्व कह कर उसकी व्याख्या की गयी। किन्तु यहाँ समझना होगा कि आकाश सब कुछ का धारक सामान्य भाव से है, और धरित्री विशेषभाव से। अर्थात् निखिल पदार्थव्यष्टि को धरित्री धारण करती है। आकाश उन सबके सामान्य आधार, common ground अथवा basis के रूप में है और धरित्री प्रत्येक के निजस्व रूप को, विशिष्ट रूप को धारण किये हुए है। याद रखना होगा कि सब कुछ का परम आधार प्रथम श्लोकोक्त सच्चिदानन्द तत्त्व है, उसके बाद सामान्य आधार आकाश है, एवं अन्त में विशेष आधार धरित्री है। प्रथम सर्वाधार है,

द्वितीय विश्वाधार है, तृतीय कृत्स्नाधार (support of individuality) है। प्रकारान्तर से, धरित्री='यह' प्रतीति का आधार, व्योम='यह' और 'वह' दोनों प्रतीतियों का आधार, और अक्षरपरम='यह', 'वह' एवं 'न यह, न वह' इन तीनों का आधार है। (इसकी व्याख्या वाद में होगी)। अतएव परम अव्यक्तके आवीरूप से हुआ प्रणव। प्रणव का आवीरूप है आकाश। प्रणव का प्राणरूप में प्रकाश है 'हंस' यह मन्त्र। प्रणव का आकाशादि पञ्चतत्त्व के रूप में प्रकाश है 'हं, यं, रं, वं, लं' ये पाँच मूलबीज। क्षराक्षर सर्वविध तत्त्व ही इन का आश्रय लेकर स्थित हैं॥३॥

[गायत्री-स्तुतिः]

मीनो बीजानि धृत्वा प्रसरति पयसि प्रैधते गूढसन्धि-
र्नाभावासीन ईष्टेऽखिलमिह कमठः संजरीगृह्यते च।
उच्चैर्धत्ते वराहो भुवमशनिनखैर्हन्ति दैत्यान्नृसिंहो
यौष्माकीणं सुभद्रं सपदमपि शिरश्छन्दसां मातुरव्यात्॥४॥

अन्वय—छन्दसां मातुः (छन्दों की माता गायत्री का) सपदमपि (सप्त-व्याहृति एवं त्रिपादसहित भी) शिरः (शिर) यौष्माकीणं (आप के) सुभद्रं (सुमङ्गल की) अव्यात् (रक्षा करे); मीनः (मीनरूपा छन्दोमाता गायत्री) पयसि (लीनता के आश्रय-सलिल में) बीजानि (निखिल बीजों को) धृत्वा (धारण करके), गूढसन्धिः (स्वयं निगूढ़सन्धि रह कर) प्रसरति (विद्यमान रहती हैं) प्रैधते (अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखती हैं); च (पुनः), नाभौ आसीनः (निखिल बीजों की नाभि में आसीन होकर), कमठः (कूर्म), इह (यहाँ) ईष्टे (शासन करता है); अखिलं (सब कुछ) संजरीगृह्यते (संग्रह करता है); वराहः (शूकर-रूप में यह), भुवं (पृथिवी को) उच्चैः (ऊर्ध्व) धत्ते (धारण करते हैं) नृसिंहः (भगवान् नृसिंह जिस प्रकार) दैत्यान् (हिरण्यकशिपु को) हन्ति (मारते हैं, उसी प्रकार यह छन्दोमाता नारसिंही तनु में समस्त व्यूढ बाधा को विदीर्ण करती हैं)।

भाष्य—सब छन्दों की माता गायत्री हैं। उनका जो शिर है, वह सप्तव्याहृति एवं त्रिपादसहित तुम सबके सुमङ्गल की रक्षा करे। जीव की सुषुप्ति में अथवा प्रलय में जब सब पदार्थ लीनता-प्राप्त होते हैं तब उस लीनता के स्थानभूत सलिलराशि में छन्दोमाता गायत्री स्वयं निगूढ़सन्धि रह कर मीनशक्ति के रूप में निखिल बीज धारण करके पुनः अभिव्यक्ति की अपेक्षा

में विद्यमान रहती हैं। फिर यह निखिल वीजों की नाभि में आसीन होकर कूर्मशक्ति के रूप में उनका संग्रह और शासन किया करती हैं। यही फिर कालशक्ति का आश्रय लेकर वाराही तनु में विश्वभुवन को अधः से ऊर्ध्व धारण करती हैं, एवं नारसिंही तनु में समस्त व्यूढ बाधा को विदीर्ण करती हैं, जैसे नृसिंह ने अपने वज्रनखों द्वारा हिरण्यकशिपु का विदारण किया था।

पूर्वश्लोक में जैसे सृष्टि के उपादानरूप में आकाशादि को दिखाया गया है, यहाँ उसी प्रकार निमित्तरूप में चार अवतारशक्तियों को दिखाया गया है। सृष्टि की सकल वस्तुओं को धारण करती हैं मीनशक्ति; उनमें से प्रत्येक के basic pattern को यथायथ रूप से बनाये रखती हैं, सवका शासन करके, संग्रह करके रखती हैं कूर्मशक्ति; उनका उन्नयन अथवा उद्वर्तन करते हैं वराह एवं विकाश के पथ में समस्त विघ्नवाधाओं का विदारण करते हैं नृसिंह। पञ्चमावतार वामन का तत्त्व बाद में व्याख्यात होगा। ये पाँचों ही विश्वव्यापी (cosmic) और नित्यसक्रिय (eternally functioning) तत्त्व हैं। सव प्रकार की सृष्टि में ही इस तत्त्वपञ्चक को खोजकर देखना होगा। ये सव पौराणिक घटनामात्र नहीं हैं। मान लें कि सुषुप्ति से जागृति हुई—(१) सव कुछ अव्याकृत रूप से लीन है किन्तु उस लीनता में उन सवके संस्कार और पुनरभिव्यक्ति की संभावना विद्यमान है। (२) प्रत्येक संस्कार अथवा वीज किसी एक नाभिशक्ति (nuclear power) द्वारा संगृहीत और शासित है, जिस कारण से वे सब अव्यक्त होकर भी स्वरूप में (अपने norm एवं pattern में) वर्तमान हैं; (३) उन सवको उत्तरोत्तर प्रस्फुटित करने का कोई आवेग (urge) भी वर्तमान है। (४) उनके विकास के पथ में वाधाओं के निरसन के लिये भी कोई सामर्थ्य है। (५) उनकी परिणति का सीमा-निर्देशक अवधिनियामक भी कोई एक है। यह सीमा एवं सीमा के पार—इन दोनों का निरूपक होता है। इसी प्रकार सर्वत्र है ॥४॥

[पञ्चगङ्गाश्रयणम् श्लो० ५, ६]

जीवान्तर्य्यामिभेदाद् द्विविधगतिरसौ संग्रहाख्यैकधारा
गृह्यातेरादितश्च प्रतिलिखनवलाल्लभ्यते या द्वितीया।
सा स्पर्शावेशवृत्तिर्विपरिसहचरी या तृतीया तुरीया
यैषा पूर्व्वानुयोगात् प्रवहति परमेत्याश्रयेत् पञ्चगङ्गम् ॥५॥

अन्वय—पञ्चगङ्गम् (पञ्च गङ्गा का) **आश्रयेत्** (आश्रय लें), **असौ** (यह) **सङ्ग्रहाख्यैकधारा** (पञ्चगङ्गा की संग्रह नाम की एक धारा) **जीवान्तर्यामिभेदात्** (जीव और अन्तर्यामी के भेद से) **द्विविधगतिः** (द्विविध गति वाली है); **च** (पुनः), **गृह्णातेः** (ग्रह धातु के) **आदितः** (आदि में) **प्रतिलिखनबलात्** ('प्रति' उपसर्ग के योग से) **या द्वितीया** (जो दूसरी प्रतिग्रहाख्या धारा) **लभ्यते** (प्राप्त होती है) **सा** (वह) **स्पर्शावेशवृत्तिः** (स्पर्श और आवेश नाम की दो वृत्तियों वाली है); **या** (जो) **तृतीया** (तीसरी) **तुरीया** (चतुर्थ धारा है, वह) **विपरिसहचरी** ('वि' और 'परि' उपसर्गों के योग से विग्रहाख्या एवं परिग्रहाख्या है); **या एषा** (जो यह) **पूर्वानुयोगात्** (पहले 'अनु' उपसर्ग के योग से) **प्रवहति** (प्रवाहित हो रही है, वह) **परमा** (परमा अनुग्रहाख्या धारा है)।

भाष्य—पञ्चगंगा का आश्रय लें। उस पंचगंगा की एक धारा का नाम है 'संग्रह'। यह संग्रहाख्या धारा जीव एवं अन्तर्यामी के भेद से द्विविध गति वाली है। 'ग्रह' धातु के आदि में 'प्रति' उपसर्ग के योग से जो प्रतिग्रह संज्ञा बनती है, वही द्वितीय धारा है। इस द्वितीय धारा की द्विविध वृत्ति है स्पर्श एवं आवेश। इन भेदों की बाद में व्याख्या होगी। 'वि' एवं 'परि' इन दो उपसर्गों के योग से विग्रहाख्या एवं परिग्रहाख्या तृतीय एवं चतुर्थ धारा हैं। आदि में 'अनु' इस उपसर्ग के योग से अनुग्रहाख्या पञ्चम एवं परमधारा है। यह पञ्चगंगा सृष्टि के सब कुछ में अवतीर्ण हो कर अनुप्रविष्ट है। अतएव इस पञ्चगंगा के समाश्रय के बिना विष्णु के उस परमपद की प्राप्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतएव—

> विष्णुर परम पद पाइते चाहिले।
> पञ्चगङ्गा धारा धरो महा कुतूहले॥
> 'संग्रह' प्रथम धारा, जीव अन्तर्यामी।
> 'प्रतिग्रह' धारा परे स्पर्शावेशगामी॥
> 'विग्रह' ओ 'परिग्रह' तृतीय चतुर्थ।
> 'अनुग्रह' शेष धारा परम पदार्थ॥
> ए पाँचे आश्रय छाड़ा ना आछे उपाय।
> विष्णुर परम पद जाहे पावा जाय॥

भावार्थ—विष्णु का परम पद पाने की यदि इच्छा हो तो पञ्चगंगा की धारा को निष्ठा सहित पकड़ो। प्रथम धारा है 'संग्रह' और उसके दो भेद हैं

जीव और अन्तर्यामी। द्वितीय धारा है 'प्रतिग्रह' और उसकी दो वृत्तियाँ हैं, स्पर्श और आवेश। 'विग्रह' और 'परिग्रह' तृतीय चतुर्थ धारा हैं और 'अनुग्रह' अन्तिम धारा है जो परम पदार्थ है। इन पाँचों के आश्रय के विना विष्णु का परमपद लाभ करने का कोई उपाय नहीं है ॥५॥

तिस्रो मात्रा अकाराद्या नादबिन्दू च मूर्द्धनि।
एवमोङ्कारमीक्षस्व पञ्चगङ्गा यथाक्रमम् ॥६॥

अन्वय—अकाराद्याः तिस्रः मात्राः (अकार, उकार, मकार ये तीन और नाद तथा विन्दु) पञ्चगङ्गा (ये पाँच गंगा) यथाक्रमम् (क्रमशः) हैं; एवं (इस प्रकार) ॐकारं (प्रणव को) ईक्षस्व (देखो)।

भाष्य—ॐकार की मात्राओं का यथाक्रम से इस पञ्चगंगा में दर्शन करें। अकार, उकार, मकार—ये तीन मात्रा एवं मूर्द्धा में नाद और विन्दु ये दो—ये पाँचों ही यथाक्रम से पञ्चगंगा हैं। अतएव प्रणव का सर्वतोभाव से आश्रय लेना होगा ॥६॥

[शुद्धिपञ्चकम् श्लो० ७-११]

आचारसञ्चारविचारशुद्धिमाहारपूर्वामपि सन्दधीत।
युञ्जीत ताभिर्जितसङ्गदोषः प्रचारशुद्धिं क्रतुसिद्धिगोप्त्रीम् ॥७॥

अन्वय—आहारपूर्वां (आहारशुद्धि के साथ) आचार-संचार-विचारशुद्धिं (आचारशुद्धि, सञ्चारशुद्धि, विचारशुद्धि, इन शुद्धियों का) अपि (भी) सन्दधीत (सन्धान करना चाहिए), ताभिः (इनके द्वारा). जितसङ्गदोषः (संगदोष को जीत कर) क्रतुसिद्धिगोप्त्रीम् (साधन-क्रिया द्वारा जो सिद्धि होती है उसकी रक्षा करने वाली) प्रचारशुद्धिं (इस प्रचारशुद्धि को) युञ्जीत (प्राप्त करो)।

भाष्य—सर्वतोभाव से आश्रय लेने के लिए शुद्धि आवश्यक है। आहार, आचार, विचार, प्रचार और संचार-शुद्धि। इन सब शुद्धियों में से प्रचारशुद्धि, साधनक्रिया द्वारा जो सिद्धि होती है, उसकी विशेष भाव से रक्षा किया करती है। आहार, आचार और विचार-शुद्धि के द्वारा सङ्गदोष को जय किया जाता है, एवं सञ्चारशुद्धि के द्वारा युञ्जान और युक्त हुआ जाता है ॥७॥

पुनाति ह्यन्नमाहारोऽसूनाचारस्ततः क्रमात्।
अज्ञसौपयिकाश्चान्ये पुनन्ति कोषपञ्चकम् ॥८॥

अन्वय—आहारः (आहारशुद्धि) अन्नं (अन्नमय कोषको), आचारः

(आचारशुद्धि) असून् (प्राणमय कोश को) पुनाति (शुद्ध करती हैं) ततः क्रमात् (उसी क्रमसे) अन्ये (दूसरे, अर्थात्) औपयिकाः (उपाय, विचारशुद्धि, प्रचारशुद्धि, संचारशुद्धि) कोषपञ्चकं (पाँच कोषों को, उक्त के अतिरिक्त मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषों को) अञ्जसा (शीघ्र) पुनन्ति (शुद्ध करते हैं)।

भाष्य—आहारशुद्धि अन्नमयकोष को, आचारशुद्धि प्राणमय कोश को, विचारशुद्धि मनोमय कोश को, प्रचारशुद्धि विज्ञानमय को एवं सञ्चारशुद्धि आनन्दमय कोश को शुद्ध करती है। इस प्रकार शुद्धिपञ्चक कोषपञ्चक के शोधन का निश्चित और प्रकृष्ट उपाय है ॥८॥

अणुतनुपृथुभेदैर्गृह्यते कोषदोष-
स्त्वधिकरणनिधानात् पार्थिवादित्वमेति ।
त्रितयमपि मलानां पाञ्चमल्यं पुनर्वा
प्रणवपुटितशुद्धिस्तानपास्तान् करोति ॥९॥

अन्वय—कोषदोषः (कोष-पञ्चक का दोष या मल), अणुतनुपृथुभेदैः (अणु, तनु व पृथु भेद से) गृह्यते (गृहीत होता है), अधिकरणनिधानात् (अधिकरण के अनुसार) पार्थिवादित्वं (पार्थिव आदि अवस्था को) एति (प्राप्त करता है) मलानां (दोष) त्रितयम् अपि (तीन हों अथवा) पाञ्चमल्यम् (पाँच मल हों), प्रणवपुटितशुद्धिः (प्रणवजपाश्रित आहारादि शुद्धि) तान् (उन्हें) अपास्तान् (दूर) करोति (करती है)।

भाष्य—कोष-पंचक में जो दोष वा मल हैं, वे अणु, तनु व पृथु भेद से त्रिविध हैं। इनमें से जो मल की सूक्ष्मतम वा कारण-अवस्था है, उसे कहते हैं 'अणु' वा 'आणव' मल। सूक्ष्म मल को कहते हैं तनु वा 'मानस' और स्थूल वा व्यक्त मल को कहते हैं पृथु वा 'पार्थिव'। शैवागम के आणवादि मलत्रय भी यहाँ आलोच्य हैं; ये मल पुनः अधिकरण के अनुसार अर्थात् ये कहाँ रहते हैं इस विचार से, अन्नादिरूप से पंचविध हैं। अर्थात्—अन्नगतमल, प्राणगतमल इत्यादि हैं। मल त्रिविध हों अथवा पञ्चविध हों, प्रणव (अथवा ईश्वरवाचक)—जपाश्रित आहारादि शुद्धि उन्हें दूर करती है ॥९॥

पञ्चमात्रा अकाराद्या आहारादिकपावकाः ।
ताभिः पुनीत वाचस्तु तनुः पुनीत तैरपि ॥१०॥
पञ्चगङ्गाः पुनीरन् गाः पञ्चगव्यानि वै तनुः ।
मूलस्पन्दनवैरूप्ये सारूप्यं विद्धि पावनम् ॥११॥

अन्वय -- **अकाराद्याः पञ्चमात्राः** (अकार आदि पाँच मात्राएँ), (और) **आहारादिकपावकाः** (आहारादि पाँच शुद्धियाँ), **पञ्चगङ्गाः** (पाँच गङ्गा), (और) **पञ्चगव्यानि** (पञ्चगव्य हैं)। **ताभिः** (अकारादि पञ्चमात्रा-रूपी पञ्चगङ्गा से) **वाचः** (वाक् को) **पुनीत** (पवित्र करे)। **तैः** (आहारादि पञ्चगव्यों से) **तनु** (शरीर को) **पुनीत** (पवित्र करे)। **पञ्चगङ्गाः** (अकारादि पञ्चगङ्गा) **गाः** (वाक् को) **पुनीरन्** (पवित्र करती हैं)। **पञ्च-गव्यानि** (आहारादि) **तनुः** (शरीर को) **पुनीरन्** (पवित्र करते हैं)। **मूल-स्पन्दनवैरूप्ये** (मूलीभूत स्पन्दन के विरूप हो जाने पर) **सारूप्यं** (जिसके द्वारा सरूपता सम्पन्न होती है, उसे ही) **पावनं** (शुद्धि) **विद्धि** (समझो)।

भाष्य -- प्रणवादि बीजमन्त्र में अकारादि पञ्चमात्रा ही पञ्चगङ्गा हैं और आहारादि पञ्चशुद्धि ही पञ्चगव्य हैं। पञ्चगङ्गा के द्वारा वाक् को पवित्र करें एवं पञ्चगव्य अर्थात् आहारादि पञ्च पावक के द्वारा स्थूल-सूक्ष्मादि तनु को पवित्र करें। मूलीभूत स्पन्दन यदि किसी कारण से विरूप हो जाय तो जिसके द्वारा उसका पुनः सारूप्य बनता है, उसे ही पावन अथवा शुद्धि समझना चाहिये। अतएव मूलस्पन्दन में विरूपता दूर करके उसके स्वभाव-स्वाच्छन्द्य को पुनः ले जाना ही सब शुद्धियों का लक्ष्य है ॥१०-११॥

[छन्दस्तत्त्वम् श्लो० १२-१५]

अरिच्छन्दो विषच्छन्दः स्पन्दस्य प्रातिकूल्यतः।
मित्रच्छन्दो मधुच्छन्दो यदाऽनुकूलतान्वयम् ॥१२॥

अन्वय---**स्पन्दस्य** (स्पन्दन के) **प्रातिकूल्यतः** (स्वभाव और स्वच्छन्द के प्रतिकूल होने से) **अरिच्छन्दः विषच्छन्दः** (ये दोनों होते हैं); **यदा** (जब) **अनुकूलतान्वयम्** (स्वभाव और स्वच्छन्द की अनुकूलता होती है, तब होते हैं—) **मित्रच्छन्दः मधुच्छन्दः**।

भाष्य --स्वभाव और स्वच्छन्द के प्रतिकूल स्पन्दन जिसके द्वारा उत्पन्न होते हैं, उसे कहते हैं अरिच्छन्दः और विषच्छन्दः; एवं जिसके द्वारा स्वभाव और स्वच्छन्द की अनुकूलता अक्षुण्ण रहती है अथवा क्षुण्ण होकर पुनः स्वभाव और स्वच्छन्द में प्रतिष्ठित हो जाती है, उसे कहते हैं — मित्रच्छन्द और मधुच्छन्द ॥१२॥

विपश्चिच्छन्दसां मातुर्ब्रह्मयोनेः स्वरूपताम्।
समीहते मधुच्छन्दः क्रमवर्त्मानुसारतः ॥३१॥

अन्वय—विपश्चित् (धीर एवं विज्ञ साधक) ब्रह्मयोनेः (ब्रह्मयोनि) छन्दसां मातुः (छन्दोमाता गायत्री के) स्वरूपतां (स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए) क्रमवर्त्मानुसारतः मधुच्छन्दः (क्रमवर्त्म का अनुसरण करके मधुच्छन्द की) समीहते (इच्छा करता है, यत्नवान् होता है)।

भाष्य—जो ब्रह्मयोनि छन्दोमाता गायत्री हैं, जो साक्षात् अमृत-दोहन करती हैं, धीर एवं विज्ञ साधक मधुच्छन्द में क्रमवर्त्म का अनुसरण करके उसी के स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिये यत्नवान् होते हैं ॥१३॥

आनुरूप्यं च सारूप्यं प्रातिरूप्यैकरूप्यते।
चतुर्णामनुयोगित्वमभावस्य विरूपता ॥१४॥

अन्वय—आनुरूप्यं (अनुरूपता) सारूप्यं (सरूपता या समरूपता), प्रातिरूप्यैकरूप्यते (प्रतिरूपता एवं एकरूपता) (इन) चतुर्णां (चारों से स्वरूप का) अनुयोगित्वं (अनुगतत्व) [होता है], [और] अभावस्य [स्थितौ] (इन चारों के अभाव की स्थिति में) विरूपता (वैरूप्य) (होता है)।

भाष्य—जो वस्तु जो है, ठीक वही उसका स्वरूप है। इस स्वरूप के अनुगत एवं अनुकूल होते हैं चार—अनुरूप, समरूप, प्रतिरूप एवं एकरूप। इनमें से स्वरूप के साथ एकरूप वह है जिसमें स्वगत, सजातीय एवं विजातीय—इन तीन प्रकार के भेदों में से कोई सा भी नहीं रहता; स्वगत भेद न्यूनाधिक रहने पर भी सजातीय भेद यदि न रहे तब होता है समरूप अथवा सरूप; स्वगत एवं सजातीय यह उभयभेद रहने पर भी यदि विजातीय भेद का अभाव हो, तब होता है प्रतिरूप; और विजातीय भेद कियत्परिमाण में रहने पर भी यदि वह स्वरूप के अनुगत और अनुकूल हो तब होता है अनुरूप। अब इन चारों का ही—(अर्थात् अनुरूपता इत्यादि का) अभाव जहाँ रहता है, उसे कहते हैं विरूपता या वैरूप्य। मित्रच्छन्दः और मधुच्छन्दः द्वारा मूलस्पन्द के साथ विरूपता दूर होकर क्रमशः अनुरूपता, प्रतिरूपता, समरूपता एवं एकरूपता हुआ करती हैं ॥१४॥

दिवौकसो यदिच्छन्तोऽवारिषुर्वेदमातरम्।
अमृतच्छन्दसा स्वेन तदमृतमदूदुहत् ॥१५॥

अन्वय—दिवौकसः (देवताओं ने), यदिच्छन्तः (जिसकी इच्छा करते हुए) वेदमातरं (गायत्री को) अवारिषुः (वरण किया था) (वेदमाता ने)

स्वेन अमृतच्छन्दसा (अपने अमृतच्छन्द के द्वारा) (उन देवताओं के लिए) **तद् अमृतं** (उस अमृत का) **अदूदुहत्** (दोहन कराया था)।

भाष्य—सब छन्दों की माता ब्रह्मयोनि गायत्री स्वयं हैं—परम मधुच्छन्दः। प्रणव का छन्द है—गायत्री। प्रणव में यह छन्द व्यक्तरूप से न रहने पर भी अव्यक्त बीज-भाव से निहित है। उस अव्यक्त बीज के भीतर उस छन्द का अनुसन्धान करना होता है। ब्रह्मवर्च्चः (अग्नि) प्रणव का देवता है। अतएव ब्रह्मवर्च्चस् के अनुग्रह से, प्रणव में निगूढ़ छन्दोमाता को प्रकाशित करने का नाम ही प्रणव की साधना है। प्रकाशित होने पर प्रणव साक्षात् ब्रह्म का ही वाङ्मय रूप है; अतएव यह विश्व ही प्रणव का रूप है **'ॐकार एवेदं सर्वम्'**।* देवताओं ने जिसकी इच्छा से वेद-माता का वरण किया था, वेद माता ने अपने अमृतच्छन्द के द्वारा देवताओं के लिये उस अमृत का दोहन कराया था। ॥१५॥

[शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-धारि-श्रीभगवत्स्तुतिः]

'अध्मासीच्छ्रुतिसारमूर्जितमृतं शङ्खं य एवार्पिपद्
यः सौदर्शनमध्वरं कुशलकृच्छन्दोभिरातीतनत्।
योऽदारीन्मधुकैटभोरुसहसं कौमोदकीं गीष्पति-
र्धृत्वाब्जं व्यचकाशदाशु सुधियां बोधाय तस्मै नमः ॥१६॥

अन्वय—**यः** (जिन्होंने) **श्रुतिसारं** (वेदों के सार प्रणव के) **ऊर्जितम् ऋतं** (निरतिशय शुद्ध और समर्थ स्वरूप को) **शङ्खं** (शंख के रूप में) **अध्मासीत्** (बजाया था), **यः** (जिन) **कुशलकृत्** (कुशलकर्मा ने) **सौदर्शनम् अध्वरं** (यज्ञ को सुदर्शन चक्र के रूप में) **आर्पिपत्** (चालित किया था) (एवं) **छन्दोभिः** (छन्दःसमूह के द्वारा), **आतीतनत्** (विस्तारित किया था), **यः** (जिन्होंने) **मधुकैटभोरुसहसं** (मधुकैटभ के विपुल साहस को) **कौमोदकीं** (कौमोदकी गदा को) **धृत्वा** (धारण करके) **अदारीत्** (विदीर्ण किया था), **गीष्पतिः** (उन वाणीपति भगवान् ने) (प्रजापति के बुद्धिरूप—वाङ्मनोरूप) **अब्जं** (कमल को) **व्यचकाशत्** (विकसित कराया था), **सुधियां** (सुधी-गणों के) **बोधाय** (बोध के लिए) **तस्मै** (उन भगवान् को) **नमः** (नमस्कार है)।

भाष्य—श्रुतिसार जो प्रणव है, उस प्रणव का जो निरतिशय शुद्ध और समर्थ-स्वरूप है (ऋतम् ऊर्जितम्), उसे पांचजन्य शंख के रूप में जिन्होंने बजाया

*ओङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा ओङ्कार एवेदं सर्वम्।
(छान्दोग्य उपनिषत् २. २३. ४)—अनुवादिका।

था (अध्मासीत्); जिन कुशलकर्म्मा ने पुनः इस विश्वसृष्टि-रूप यज्ञ को अपने सर्वतोभद्र सुदर्शन-चक्र के रूप में चालित किया था (आर्पिपत्) एवं विचित्र छन्दःसमूह के द्वारा विस्तारित किया था (आतीतनत्); पुनश्च जिन्होंने इस विश्वयज्ञ के महावाधा-स्वरूप मधुकैटभ के विपुल साहस को कौमोदकी गदा-धारण-पूर्वक विदीर्ण किया था (कौ=वेद में, मोदक=रसयिता, अतएव कौमोदकी=वेदमन्त्र-समूह का जो चेतयिता और रसयिता है), उन गीष्पति भगवान् ने इन सब वाधाओं का निरसन करके स्वयं पद्मपाणि के रूप में प्रजापति के बुद्धिरूप (वाङ्मनो-रूप) कमल को आशु विकसित कराया था (व्यचकाशत्), सुधीगणों की बुद्धि जिससे सम्यक् वेदोज्ज्वला हो (बोधाय) उन शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी भगवान् को इस निमित्त से नमस्कार करता हूँ। ॥१६॥

[ऋत-सत्य-च्छन्दस्तत्त्वम् श्लो० १७-२२]

ऋतं विद्यान्महाकालीं सत्यं विद्यात् सरस्वतीम्।
छन्दो विद्यान्महालक्ष्मीं योजिते येन ते उभे ॥१७॥

अन्वय—ऋतं (ऋत को) महाकालीं (महाकाली) विद्यात् (समझें), सत्यं (सत्य को) सरस्वतीं (सरस्वती) विद्यात् (समझें), येन (जिसने) ते उभे (उन दोनों ऋत व सत्य को) योजिते (जोड़ रखा है), (उस) छन्दः (छन्द को) महालक्ष्मीं (महालक्ष्मी) विद्यात् (समझें) ॥

भाष्य—ऋत को महाकाली समझें एवं सत्य को महासरस्वती। जो छन्द ऋत एवं सत्य को एक दूसरे के साथ जोड़ कर रखता है, उसे महालक्ष्मी समझें ॥१७॥

ऋताध्वना लयं याति प्रपञ्चोपशमं पुनः।
अस्तितया चकास्तीदं सत्येन सच्चिदात्मना ॥१८॥

अन्वय—ऋताध्वना (ऋत को आश्रय करने से या ऋत-पथ से) लयं (लय को) पुनः (और) प्रपञ्चोपशमं (प्रपञ्च के उपशम को) याति (प्राप्त करता है), सच्चिदात्मना (सच्चिदानन्द-स्वरूप) सत्येन (सत्य के द्वारा) इदं (यह जगत्) अस्तितया (अस्तिरूप में और भातिरूप में) चकास्ति (प्रकाश पा रहा है)।

भाष्य—ऋत का आश्रय लेने से इस प्रपंच का उपशम-रूप जो लय है, वह प्राप्त होता है; सच्चिदानन्दात्मस्वरूप जो सत्य है उसके द्वारा यह समस्त

(जगत्) अस्तिता और भातिता के रूप में स्थित है और प्रकाश पा रहा है ॥१८॥

पिहितस्यापि सर्वस्मिन्नानन्दस्यावगुण्ठनम् ।
यदपावृणुते सुष्ठु मधुच्छन्दस्तदीरितम् ॥१९॥

अन्वय—सर्वस्मिन् (सर्वत्र) पिहितस्य (ढके हुए) आनन्दस्य (आनन्द का) [जो] अवगुण्ठनं (पर्दा) [है], यत् (जो) सुष्ठु (सर्वथा) [उस अवगुण्ठन का] अपावृणते (उन्मोचन करता है) तत् (उसे) मधुच्छन्दः (मधुच्छन्द) ईरितम् (कहा है) ॥

भाष्य—'अस्ति' और 'भाति' के रूप में सब कुछ रहता है और प्रकाशित होता है, फिर भी उस का आनन्दस्वरूप न जाने किस अवगुण्ठन से आवृत है; इसलिये 'सब कुछ ही आनन्द है और आनन्द ही ब्रह्म है' इस रूप से भान नहीं होता। जिसके द्वारा स्वरूपगत आनन्द के अवगुण्ठन का सर्वथा उन्मोचन होता है, उस का नाम है मधुच्छन्दः ॥१९॥

ऋतं तदनृतं ज्ञेयं यदृच्छति न तिष्ठति ।
अवस्यत्यालयञ्चैकमन्यद् द्वैतं निरस्यति ॥२०॥

अन्वय—यद् ऋच्छति (जो गतिमान् है) न तिष्ठति (जो कभी स्थितिमान् नहीं रहता) तद् अनृतं ज्ञेयम् (उसे अनृत समझना चाहिए) ऋतम् (उस के विपरीत है ऋत)। एकम् (पहला, अनृत) आलयम् (श्रम, क्लान्ति, मृत्यु के आलय की) अवस्यति (रक्षा करता है) अन्यत् (दूसरा, ऋत) द्वैतम् (द्वैत का) निरस्यति (निरास करता है)।

भाष्य—जिसकी केवल गति ही है, किन्तु स्वरूपतः स्थिति नहीं है, उसे अनृत समझना चाहिये, यह ऋत नहीं है। जिसमें अनृत रहता है, अथवा जिसका अनृत आश्रय लेता है, वह श्रम, क्लान्ति, मृत्यु के अधिकार में ही रहता है, किन्तु ऋत समस्त द्वैत का, अतएव भय का निरसन कर के नित्य स्थिति में ले जाता है ॥२०॥

खड्गमुण्डकरा सव्ये कराली प्रलयङ्करी ।
वराभयकराऽसव्ये काली कैवल्यदायिनी ॥२१॥

अन्वय—काली (माँ काली) सव्ये (वाम में, वामभाग में) खड्गमुण्डकरा (खड्ग-मुण्ड हाथ में लिए) कराली (भीषण) प्रलयङ्करी (प्रलय करने

वाली) (हैं) (किन्तु) असव्ये (दक्षिण में, दक्षिण-भाग में), वराभयकरा, (वर-अभयप्रद हस्तमुद्रायुक्त) कैवल्यदायिनी (कैवल्य = मोक्ष देने वाली) [हैं] ॥

भाष्य – माँ काली वाम (–भाग) में खड्गमुण्ड-करा के रूप में कराली प्रलयंकरी सजी हैं, वही फिर दक्षिण (भाग) में वराभयकरा के रूप में काली कैवल्यदायिनी बनी हैं। यहाँ एक ओर अनृत और मृत्यु का रूप है, दूसरी ओर ऋत अथवा अमृत का रूप है ॥२१॥

अस्तीति च चकास्तीति संसर्गविरहादिमे ।
ऋतस्य छन्दसो बोधे प्रमात्वेतरतामितः ॥२२॥

अन्वय—बोधे (ज्ञान में) अस्ति इति (है, ऐसा) च (और) चकास्ति इति (भाति, भासित होता है, ऐसा) इमे (ये दो प्रकार हैं); ऋतस्य छन्दसः (ऋतच्छन्द के) संसर्गविरहात् (संसर्ग से अथवा—संसर्ग के अभाव से) प्रमात्वेतरताम् (प्रमात्व अथवा तदितरता अर्थात् अप्रमात्व को) [ये दोनों] इतः (प्राप्त होते हैं)।

भाष्य—हमारा सब कुछ बोध 'अस्ति' एवं 'भाति' इस प्रकार का होने पर भी उन दोनों में से कोई सा प्रमा वा यथार्थ ज्ञान होता है, और कोई सा अप्रमा अर्थात् मिथ्याज्ञान होता है। जैसे रज्जु-सर्प, गन्धर्वनगर इत्यादि : इस प्रकार होने का कारण क्या है ? 'अस्ति' और 'भाति' रूप में सर्वत्र तो एक ही रूप है। यथार्थज्ञान और मिथ्याज्ञान का भेद किस प्रकार आया करता है—यह समझने के लिये हमें विचार करना पड़ता है कि 'अस्ति' और 'भाति' इस बोध-मात्र के साथ अपर एक वस्तु विद्यमान है अथवा नहीं है। वह अपर वस्तु यदि विद्यमान हो तो प्रमा होती है, अन्यथा अप्रमा। उसी अपरवस्तु का नाम है ऋतच्छन्द। अतएव ऋतच्छन्द के सहकार से जो 'अस्ति' और 'भाति' का बोध है, वही यथार्थ ज्ञान है एवं उसके आश्रय के विना जो 'अस्ति' और 'भाति' का बोध है वह मिथ्याज्ञान है ॥२२॥

[समावृत्तिच्छन्दस्तत्त्वम् श्लो० २३-३६]

ऋतस्य छन्दसो ज्ञेया सत्यत्वे व्यवसायिता ।
मधुच्छन्दः समावृत्त्या चानन्दे पर्यवस्यति ॥२३॥

अन्वय—ऋतस्य छन्दसः (ऋतच्छन्द का) सत्यत्वे (सत्यत्व में) व्यवसायिता (निश्चय) ज्ञेया (जानना चाहिये)। च (और) मधुच्छन्दः (मधु-

च्छन्द) समावृत्त्या (समावृत्ति द्वारा) आनन्दे (आनन्द में) पर्यवस्यति (पर्यवसित होता है)।

भाष्य—ऋतच्छन्द उसी को समझें जिसके द्वारा सत्यत्व का निश्चय होता है, एवं मधुच्छन्द उसे जानें जो समावृत्ति द्वारा आनन्द में पर्यवसान को प्राप्त होता है ॥२३॥

उभात्मकेन छन्दसा भूमा यो वै रसोऽपि सः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्य स्वारूप्यमीह्यते ॥२४॥

अन्वय—उभात्मकेन छन्दसा (ऋतच्छन्द और मधुच्छन्द द्वारा) यः भूमा (जो भूमा है) सः वै रसोऽपि (वह रसस्वरूप भी है) (अतः) तस्य (उस भूमा की) स्वारूप्यं (स्वरूपता को) अन्वयव्यतिरेकाभ्यां (अन्वय-व्यतिरेक द्वारा) ईह्यते (लाभ करने की चेष्टा की जाती है)।

भाष्य—उभयात्मक छन्द द्वारा अर्थात् सम्मिलित ऋतच्छन्द और मधुच्छन्द के द्वारा साक्षात् रसस्वरूप जो भूमा है, उस भूमा का स्वारूप्य अन्वय एवं व्यतिरेक-भाव से लाभ करने की चेष्टा करें। 'मधुवाता ऋतायते'* —इत्यादि हैं अन्वय-मुख से अन्वेषण। एवं 'नेति नेति' करके सब अल्प एवं खण्डित नामरूप का परिहार करके जो शुद्ध एकरस ब्रह्मानुभूति होती है, वह होती है व्यतिरेक-मुख से ॥२४॥

उभात्मकतया सम्यगाब्रह्माकारवृत्तिता।
वर्तिता येन तच्छन्दः समावृत्तितयोदितम् ॥२५॥

अन्वय—येन (जो छन्द) उभात्मकतया (ऋतच्छन्द और मधुच्छन्द इन दो रूपों में) सम्यगाब्रह्माकारवृत्तिता (सम्यक् ब्रह्माकारा वृत्ति तक उपनीत होने की धारा को) वर्तित्ता (प्रवर्त्तित करता है) तत् छन्दः (वह छन्द) समावृत्तितया ('समावृत्ति' इस नाम से) उदितम् (कहा गया है)।

भाष्य—अब विचार करना होगा कि समावृत्ति किसे कहते हैं। जो छन्द ऋतच्छन्द और मधुच्छन्द इन दो रूपों में सम्यक् ब्रह्माकारा वृत्ति तक उपनीत होने की धारा को प्रवर्त्तित करता है, वही छन्द 'समावृत्ति' इस नाम से कथित है ॥२५॥

सत्यमेव सकारः स्यान्मकार इति यन्मधु।
आनन्दश्च य आकारो वकारो ब्रह्मता पुनः ॥२६॥

* ऋग्वेद १।९०।६—अनुवादिका।

ऋतं विद्याद् ऋकारेण ततुं तप्तुं च तद्द्वयम् ।
जनिमृतिसृतेः पारमात्मनीयादिसंज्ञकः ॥२७॥

अन्वय—['समावृत्ति' का] सकारः सत्यमेव स्यात् ('स'कार सत्य ही है), मकारः मधु (मकार मधु है), आनन्दश्च आकारः (आनन्द 'आ'कार है), पुनः वकारः ब्रह्मता ('व'कार ब्रह्मत्व है), ऋतं ऋकारेण विद्यात् (ऋत को ऋकार से जाने), तद्द्वयं (दो 'त'कार) ततुं तप्तुं च (तरण और तृप्ति के लिए) 'इ' संज्ञकः (इकार) जनिमृति-सृतेः पारं (जन्म-मृत्यु-रूप संसार के पार) आत्मनि (आत्मस्वरूप तक) इयात् (ले जाने में समर्थ है) ।

भाष्य—अब 'समावृत्ति' इस शब्द के अक्षरों पर विचार करके देखें। सत्य ही 'स'कार है, मधु 'म'कार है, आनन्द 'आ'कार है, ब्रह्मत्व 'व'कार है, ऋत 'ऋ'कार है, दो 'त'कारों में से एक है तरण और दूसरा है तृप्ति, अर्थात् एक श्रेय व दूसरा प्रेय; शेष जो ह्रस्व 'इ'कार बचा उससे क्या समझना होगा ? जन्म-मृत्यु रूप संसार के पार में जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मस्वरूप है, उस तक ले जाने में वह समर्थ है; यही 'इ'कार का रहस्य है। ('इ' धातु=गमन) ॥२६-२७॥

समिति चानुसन्धत्ते धामेत्याकारसूचितम् ।
यद्गत्वा न निवर्तन्त इति चरमवृत्तिता ॥२८॥

अन्वय – सम् इति ('सम्' से) अनुसन्धत्ते (अनुसन्धान करता है, यह अभिप्राय विदित होता है), आकारसूचितं धाम इति ('आ'कार से 'धाम' सूचित है), यत् (जिस धाम को) गत्वा (प्राप्त कर, पहुँच कर) न निवर्तन्ते (पुनः लौटना नहीं होता) इति (इस प्रकार) चरमवृत्तिता (अनुसन्धान से, परम धाम में 'वृत्ति' होती है) ।

भाष्य—पुनः विचार करें, 'सम्' इस शब्द द्वारा 'अनुसन्धान करो' यह अभिप्राय समझना होगा; 'सम्' के बाद जो 'आ'कार है, वह धामवाचक है, किन्तु वह धाम कौन सा है ? जिस धाम में जाकर फिर लौटना नहीं होता, वह परम-धाम ही लक्ष्यार्थ है, अतएव समावृत्ति कहने से उस प्रकार का अनुसंधान समझना होगा जो परम धाम में 'वृत्ति' अथवा विश्रान्ति प्राप्त करा दे ॥२८॥

गायत्र्याऽऽकार आयाति मधुमत्या समित्र्यृचा ।
हंसवत्या च वृत्तित्वं हौंस इत्यर्यते त्रिभिः ॥२९॥

अन्वय— मधुमत्या ऋचा (मधुमती ऋक् से) 'सम्' इति ('सम्' है) गायत्र्या (गायत्री ऋक् से) आकारः ('आ'कार है) हंसवत्या (हंसवती ऋक् से) वृत्तित्वं (वृत्तिता) आयाति (प्राप्त होती है), त्रिभिः (तीन ऋचाओं के सम्मेलन से) 'ह्रौंसः' इति (यह वीजमन्त्र) अर्यते (कहा जाता है)।

भाष्य—मधुमती ऋक् से 'सम्', गायत्री ऋक् से 'आकार', हंसवती ऋक् से 'वृत्ति'—इस प्रकार 'समावृत्ति' इस शब्द में तीन ऋचाओं की त्रिधारा सम्मिलित हुई है। फिर क्योंकि हम देखते हैं कि 'ह्रौंसः' इस वीज में ये तीन ऋक् सम्मिलित हैं, अतएव समावृत्ति का मन्त्र है 'ह्रौंसः' ॥२९॥

समित्यस्य त्रिधा वृत्तिराकारस्य पुनस्तथा।
तद्धानिमदवृत्तित्वं समावृत्तिरितीरितम् ॥ ३० ॥

अन्वय—सम् इति अस्य (सम् की) पुनः तथा (फिर उसी प्रकार) आकारस्य ('आ' कार की) त्रिधा वृत्तिः (त्रिविध वृत्ति है) तद्धानिमदवृत्तित्वं समावृत्तिः (वह त्रिविध वृत्ति जहाँ नहीं है वह समावृत्ति नहीं है, ऐसा) ईरितम् (कहा गया है)।

भाष्य—वाद में हम देखेंगे कि 'सम्' की त्रिविध वृत्ति है, एवं 'आ'कार की भी त्रिविध वृत्ति है। अत एव 'समा' इस शब्द की उक्त त्रिविध वृत्ति जहाँ नहीं है, वहाँ समावृत्ति भी नहीं है, ऐसा अनुमान करना होगा ॥३०॥

सत्त्वं ज्योतिष्ट्वरसत्वे मा गमय इति श्रुतिः।
समावृत्तिमृते तु स्यान्मा गमः शाश्वतीः समाः ॥३१॥

अन्वय सत्त्वं ('असतो मा सद्गमय') ज्योतिष्ट्वं ('तमसो मा ज्योतिर्गमय') रसत्वं ('मृत्योर्मा अमृतं गमय') इति श्रुतिः (ये वेदवचन हैं) तु (किन्तु) समावृत्तिम् ऋते (समावृत्ति के विना) मा गमः शाश्वतीः समाः (असत्य, अज्ञान और मृत्यु के पार अनन्त काल में भी नहीं उतरा जा सकता)।

भाष्य—श्रुति ने जो कहा है* असत् से सत् में ले चलो, तमः से ज्योतिः में ले चलो एवं मृत्युरूप महादुःख से साक्षात् रसस्वरूप अमृत में ले चलो' यह गमन वा अभ्यारोह समावृत्ति के विना संभव नहीं होता। समावृत्ति के विना असत्य, अज्ञान और मृत्यु के पार अनन्तकाल में भी नहीं उतरा जा

---

*वृहदारण्यक उपनिषत् १. ३. २८—अनुवादिका।

सकता। ('गमय' प्लुत भाव से उच्चारित होता है, इसीलिये कारिका में 'इति' के साथ उसकी सन्धि नहीं हुई है) ॥२१॥

किञ्चिद् वा बाधते सम्यक् सम्यगन्वेति किञ्चन।
विशिनष्टि पुनः सम्यक् तिस्रः समिति वृत्तिताः ॥३२॥

अन्वय—किञ्चित् (कोई) सम्यक् (सम्यक् रूप से) बाधते (बाधित होता है), किञ्चन (कोई) सम्यक् अन्वेति (अन्वित होता है) (और कोई) सम्यक् (सम्यक् रूप से) विशिनष्टि (विशेषित होता है) (इस प्रकार) सम् इति तिस्रः वृत्तिताः (सम् की तीन वृत्तियाँ हैं)।

भाष्य—अब वह त्रिविध वृत्ति क्या है यह समझने का यत्न करें। 'सम्यक्' शब्द के भीतर ही यह तीन प्रकार की वृत्ति लक्ष्य करनी होगी। कैसे? कोई सम्यक् रूप से बाधित होता है, कोई सम्यक् रूप से अन्वित होता है, और अन्य कोई सम्यक् रूप से विशेषित व निरूपित होता है—ये तीन 'सम्' की वृत्ति के प्रकार हैं, ऐसा समझना होगा। किसी तत्त्व के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा का निरसन, कहाँ-कहाँ उस तत्त्व का अन्वय रहा हुआ है, उस का दर्शन, एवं तत्त्व के स्वरूप में प्रवेश, ये तीन सर्वथा न होने तक समावृत्ति नहीं होती ॥३२॥

सञ्जानीते समावृत्तौ समीक्षते समेति च।
ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च स्वरूपतो यथाक्रमम् ॥३३॥

अन्वय—समावृत्तौ स्वरूपतः यथाक्रमं (समावृत्ति में क्रमशः) ज्ञातुं सञ्जानीते (सम्यक् रूप से जानता है), द्रष्टुं समीक्षते (सम्यक् देखता है) प्रवेष्टुं समेति च (और सम्यक् प्रवेश करता है)।

भाष्य—अतएव समावृत्ति में 'सम्यक् रूप से जानता है' 'सम्यक् रूप से देखता है' एवं 'सम्यक् रूप से प्रविष्ट होता है' यानी 'तद्भावभावित हो जाता है'—ये तीनों हैं। जिस किसी भी तत्त्व को स्वरूपतः प्राप्त होने जायँ तो यह क्रम समझना होगा—*ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च ॥३३॥

सूर्याचन्द्रमसौ चाग्नीषोमौ च नादविन्दुकौ।
प्राणापानाविति द्वन्द्वाश्चाध्यात्मिकादयस्त्रयः ॥३४॥

---

*भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ११. ५४)—अनुवादिका।

सम्यग्वर्तेरन्नस्यां वै समाससमतामिताः ।
अतएव समावृत्तिरिति व्युत्पाद्यते हि सा ॥३५॥

अन्वय—**सूर्याचन्द्रमसौ** (सूर्य और चन्द्रमा) **च** (और) **अग्नीषोमौ** (अग्नि और सोम) **च** (और) **नादबिन्दुकौ** (नाद और विन्दु) **प्राणापानौ** (प्राण और अपान) **इति द्वन्द्वाः** (ये विविध द्वन्द्व) **आध्यात्मिकादयः त्रयः** (आध्यात्मिक आदि त्रिपुटी-भेद) **अस्यां** (इस समावृत्ति में) **समाससमतां** (सुषम समन्वय को) **इताः** (प्राप्त हुए) **वर्तेरन्** (रहते हैं) **अतएव** (इसलिए) **सा 'समावृत्ति'रिति व्युत्पाद्यते** (इस प्रकार समावृत्ति की व्युत्पत्ति की जा सकती है) ।

भाष्य—सूर्य और चन्द्रमा, अग्नि और सोम, नाद और बिन्दु, प्राण और अपान इत्यादि विविध द्वन्द्व एवं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक एवंविध सभी प्रकार के त्रिपुटीभेद जिस अवस्था में परस्पर वैषम्य और विरोध त्याग कर सुषम समन्वय लाभ करते हैं, उस अवस्था को समावृत्ति का लक्ष्य समझना होगा। समा=समञ्जसा, वृत्ति=गति व स्थिति। मान लें कि प्राण और अपान ये दो वृत्ति हैं, ये दोनों वृत्ति अवश्य ही परस्पर संगत हैं, किन्तु सचराचर सुसंगत नहीं हैं, अर्थात् प्राण-व्यापार और अपान-व्यापार के मध्य समता की रक्षा नहीं हो रही है। प्राणायाम के द्वारा इस समता की रक्षा का प्रयत्न करना होता है। *'प्राणापानौ समौ कृत्वा'। अग्नि और सोम प्रभृति युग्म तत्त्व के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समताविधान का यत्न करना होगा। यह समस्त साधन ही समावृत्ति का अंग है ॥३४-३५॥

छन्दसां समतावृत्तिः समासतः समञ्जसा ।
समावृत्तिर्हि सा ज्ञेया व्यासविषमतां विना ॥३६॥

अन्वय - **समासतः** (जपस्पन्दन-समूह के समुच्चय में) **छन्दसां** (छन्दों की) **समतावृत्तिः** (समता की स्थिति में रहना) **समञ्जसा** (अपेक्षित है), **हि** (क्योंकि) **समावृत्तिः** (समावृत्ति) **व्यासविषमतां विना** (व्यास-विषमता की स्थिति से रहित) **ज्ञेया** (जाननी चाहिये) ।

भाष्य—पुनश्च, जब समास अथवा अविभक्तावस्था से व्यास अथवा विभक्तावस्था में लौट आना होगा, तब भी यह ध्यान रखना होगा कि कहीं

---

*स्पर्शान् कृत्वा वहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५. २७)—अनुवादिका ।

व्यास-विषमता आकर उपस्थित न हो जाय, अर्थात् विभक्त हो कर भी प्राणापानादि विषमता को प्राप्त न हों। जैसे, कुम्भक में वायु स्थिर हो कर प्राण और अपान के स्वतन्त्र वृत्तिद्वय का लय कराता है, कुम्भक के अवसान में भी यह ध्यान रखना होगा कि प्राण और अपान का वृत्तिद्वय सुषमभाव से ही प्रवर्तित हो, विषमभाव से नहीं। मन्त्र के सहकार से जप आदि साधन में भी इन दो मूल सूत्रों का अनुस्मरण करके अग्रसर होना होगा—समास में अथवा जपस्पन्दन-समूह के समुच्चय में समता रहे एवं समुच्चय से पुनः विचय की भूमि में लौट आने पर भी विषमता उपस्थित न हो। प्राणायाम के फल से जैसे प्राणापानादि का लय हो कर वायु की स्थिरता व केवल कुम्भक उपस्थित होता है, उस प्रकार जप करते-करते भी शुद्ध प्रणव में अथवा अनाहत ध्वनि या नाद में जप का लय हो जाता है। इस प्रकार के लय की अवस्था शान्तावस्था है। क्षोभ अथवा उत्तेजना रहने पर समझना होगा कि समास-समता हुई नहीं है, किसी बाधा द्वारा आहत होकर जप मूर्छित और स्तब्धमात्र हुआ है। इस प्रकार की जप-मूर्च्छा काम्य नहीं है। पुनश्च अव्यक्त शान्त-भूमि से जब जप व्यक्त रूप से सक्रिय होता है, तब भी ध्यान रखना होगा कि व्यास-विषमता दोष आक्रमण न करे। जप से जो सत्त्वोद्रेक होता है, उसी के फल में उक्त प्रकार का अव्यक्त शान्त भाव होता है। किन्तु सत्त्व का उद्रेक होते ही प्राकृतिक नियमानुसार रजः और तमः की ओर से प्रतिक्रिया होने की संभावना हुआ करती है। पुराण की आख्यायिका में यही है—मधु और कैटभ का प्रादुर्भाव। जपजनित जो तन्मय-भाव है, उसके अवसान में जब फिर से स्पष्टतः जपक्रिया में प्रवृत्त होने का उपक्रम करते हैं, तब रजः और तमः की संभावित प्रतिक्रिया वास्तव रूप में दिखाई दे सकती है। उसके दिखाई देने पर व्यास-विषमता दोष आयेगा। अतएव ध्यान रखना होगा कि जप की तन्मयता से उतर कर भी जप की निरुपद्रव प्रशान्तवाहिता में रह सकें। 'समावृत्ति' कहने से आरोह-अवरोह दोनों क्षेत्रों में निरुपद्रव समता समझना होगा ॥३६॥

[श्रीगणेश-स्तुतिः श्लो० ३७-४३]

नादबिन्दुकलात्मा यः प्रणवादिवपुश्च यः।
गिरां चतुष्टयं यस्य चत्वारो बाहवः क्रमात् ॥३७॥
शङ्खेन वैखरीं वाचं गदया मध्यमां गिरम्।
सुदर्शनेन पश्यन्तीं पद्मेन च परां श्रियात् ॥३८॥

एकदन्त उदग्रेण दता व्यामोहदारकः ।
मूषिको वाहनं यस्य सोऽव्याद् रहस्यविग्रहः ॥३९॥

अन्वय—यः (जो) नादविन्दुकलात्मा (हैं), च (और) यः (जो) प्रणवादिवपुः (प्रणवादि वीजमन्त्ररूप शरीर वाले हैं), यस्य (जिनकी) चत्वारः (चार) बाहवः (भुजाएं) क्रमात् (क्रमशः) गिरां चतुष्टयम् (वाक्चतुष्टय) [हैं], (वे) शङ्खेन (शङ्ख से) वैखरीं वाचं (वैखरी वाणी को) गदया (गदा द्वारा) मध्यमां (मध्यमा वाणी को) सुदर्शनेन (सुदर्शन चक्र द्वारा) पश्यन्तीं (पश्यन्ती वाणी को) पद्मेन (पद्म द्वारा) परां (परा वाणी को) भ्रियात् (भरण करते हैं)। एकदन्तः (एक दाँत वाले) उदग्रेण दता (ऊँचे दाँत से) व्यामोह-दारकः (व्यामोह का विदारण करते हैं) यस्य मूषिको वाहनं (जिनका वाहन मूषिक है) सः (वह गणपति) रहस्यविग्रहः (Mystic figure) अव्यात् (रक्षा करें)।

भाष्य—जो नादविन्दु-कलात्मा हैं, प्रणवादि वीज-मन्त्र जिनका शरीर है, वाक्चतुष्टय जिनके चार वाहु हैं, उन गणपति का स्मरण करता हूँ। वे शंख द्वारा वैखरी, गदा द्वारा मध्यमा, सुदर्शन चक्र द्वारा पश्यन्ती एवं पद्म के द्वारा परा वाक् का भरण कर रहे हैं। वे रहस्यविग्रह (Mystic figure) भगवान् एकदन्त अपने उदग्र दन्त द्वारा व्यामोह का विदारण किया करते हैं। मूषिक उनका वाहन है, वे हमारी रक्षा करें ॥३७–३९॥

द्वे रूपे मूषिकस्यास्य सितासितेऽखिलात्मनः ।
कृत्स्नच्छिदश्च भूतानामन्तःकुहरगाहिनः ॥
नक्तन्दिवञ्च सर्वेषामायुर्मूलानि कृन्ततः ॥४०॥

अन्वय—भूतानां (निखिल भूतों के) अन्तःकुहरगाहिनः (अन्तःकुहर में प्रविष्ट होकर) कृत्स्नच्छिदः (समस्त का कृन्तन करने वाले) च (और) नक्तन्दिवं (दिवारात्रि) सर्वेषां (चराचर सभी भूतों के) आयुर्मूलानि (आयुमूल को) कृन्ततः (काटते हुए) अस्य (उन गणपति के) अखिलात्मनः (विश्वरूप वाले) मूषिकस्य (मूषिक के) सितासिते (शुक्ल और कृष्ण) द्वे रूपे (दो रूप हैं)।

भाष्य—उनका वाहन मूषिक अखिलात्मा विश्वरूप है, उस मूषिक के शुक्ल और कृष्ण दो रूप हैं। वे निखिलभूतों के अन्तःकुहर में प्रविष्ट होकर समस्त (सब कुछ का) 'कृन्तन' अर्थात् छेदन कर रहे हैं, एवं रात्रि और दिवा

(कृष्ण और शुक्ल) इन दो रूपों में चराचर सर्वभूतों के आयु के मूल को काट रहे हैं। ॥४०॥

व्यस्तौ च विषमौ यौ तु नासाविवरचारिणौ ।
रूपे मूषिकवर्यस्य तौ जानीयाद् विशेषतः ॥४१॥

अन्वय—यौ (जो) नासाविवरचारिणौ (नासा-विवरों में संचरण करने वाले) व्यस्तौ विषमौ च (प्राण और अपान वायु हैं) तौ (उन दोनों को) विशेषतः (विशेष भाव से) मूषिकवर्यस्य (मूषिकवर के) रूपे (रूप) जानीयात् (जानना चाहिए)।

भाष्य—प्राणी के नासाविवरचारी व्यस्त और विषम जो दो वायु हैं—प्राण और अपान—उन दोनों को विशेष भाव से मूषिक-वर का रूप समझें अर्थात् इतस्ततः विक्षिप्त भाव से नासिका-रूप छिद्र में जो प्राण और अपान वायु एक बार प्रविष्ट हो रहा है और फिर बाहर आ रहा है, वही मानो मूषिक का प्रकट रूप है, क्योंकि इसी के द्वारा समस्त प्राणियों की आयु अज्ञात-रूप से क्षय व नाश को प्राप्त हो रही है ॥४१॥

समासेन समत्वेन संयमेन समीहया ।
तयोः सन्धौ समारोहं नादबिन्दुकलात्मनः ॥४२॥

ओङ्कारस्य विजानीत मातृकागणगीष्पतेः ।
समावृत्तिं गणेशस्य या बहुश्रेयसी मता ॥४३॥

अन्वय—तयोः (व्यस्त और विषम वायु-द्वय की) सन्धौ (स्थिर सन्धि में) संयमेन (प्राण-संयम-द्वारा) समीहया (मनःसंयम द्वारा) समासेन समत्वेन (समास-समता बनाकर) समारोहं (समारोहण) (करना होगा), नादबिन्दु-कलात्मनः (नादबिन्दुकलात्मा) ओङ्कारस्य (ॐकारस्वरूप) मातृकागणगीष्पतेः (मातृकागणवाचस्पति) गणेशस्य (गणेश की) समावृत्तिं विजानीयात् (समावृत्ति समझें) या (जो) बहुश्रेयसी (प्रभूत श्रेयोलाभ का हेतु) मता (मानी गई है)।

भाष्य—प्राणसंयम और मनःसंयम के द्वारा इस व्यस्त और विषम वायु-द्वय की समास-समता बनाकर, उनकी जो स्थिर सन्धि है, उसमें समारोहण करना होगा। जो नाद-बिन्दु-कलात्मा ओङ्कार हैं, वे मातृकागण-वाचस्पति स्वयं गणेश हैं अर्थात् गणेश ही ॐकार की प्रकट मूर्त्ति हैं। प्राण, मन के संयमन द्वारा व्यासविषमता का परिहार करके समास-समता में ओंकार की

शान्त स्वरूप में स्थिति—इसे ही समावृत्ति समझें। इस प्रकार की समावृत्ति प्रभूत श्रेयोलाभ का हेतु है ॥४२, ४३॥

[ॐकार के अकार, उकार, मकार, नाद, विन्दु, शान्त, शान्तातीत—ये ७ लोक हैं, इनमें से प्रथम तीन से प्रत्यावृत्ति हुआ करती है, अर्थात् केवल अकार, उकार, मकार—इन तीन के आश्रय से किये गए प्रणव-जप में हमें इस व्यस्त और विषम अवस्था में लौट आना पड़ता है। यदि नाद और विन्दु का अनुग्रह-लाभ हो जाए, तो प्रत्यावर्त्तन का वेग कटकर शान्त भूमि में आरूढ़ होने का वेग मिल जाता है। यह द्वितीय वेग न आने तक हम समावृत्ति की धारा में पतित नहीं हो सकते।]

[वृत्तिभेद-पञ्चकम् श्लो० ४४, ४५]

समावृत्तौ समाधानं प्रत्यावृत्तौ प्रतिक्रिया।
परावृत्तौ परेतस्य पारीणवृत्तिता मता ॥४४॥

अन्वय—समावृत्तौ (समावृत्ति में) **समाधानं** (व्यवधान के व्यपगत होने पर समाधान होता है), **प्रत्यावृत्तौ** (प्रत्यावृत्ति के क्षेत्र में) **प्रतिक्रिया** (क्रिया-मात्र की प्रतियोगी क्रिया होती है), **परावृत्तौ** (परावृत्ति में) **परेतस्य** (भूमि, स्तर या भाव से अतीत की) **पारीणवृत्तिता** (शान्तातीत में गति) **मता** (मानी गई है)।

भाष्य—समावृत्ति में लक्ष्य वस्तु के साथ व्यवधान दूर हो जाता है। व्यवधान दूर होने पर ही समाधान होता है। प्रत्यावृत्ति के क्षेत्र में क्रियामात्र की ही प्रतियोगी क्रिया अर्थात् प्रतिक्रिया के लिए हमें प्रस्तुत रहना पड़ता है। इन दो के अतिरिक्त और भी एक प्रकार की वृत्ति है, जिसका नाम है परावृत्ति। इस परावृत्ति का अर्थ है—जिस भूमि में अथवा स्तर में, जिस भाव से वृत्ति हो रही है, उस भूमि, स्तर अथवा भाव से अतीत हो जाना। जिस प्रकार प्रणवजप के फल से यदि शान्तभूमि के भी पार—शान्तातीत में गति होती है, उसे परावृत्ति कहा जायेगा ॥४४॥

अनुक्रमोऽनुवृत्तौ च व्यावृत्तौ गूढबाधनम्।
अन्योन्यता परीतौ च वैकल्पिकी ह्यतादृशी।
एवं भेदा इमे पञ्च विद्यन्ते सर्ववृत्तिषु ॥४५॥

अन्वय—व्यावृत्तौ (व्यावृत्ति में) **गूढबाधनम्** (ब्रह्मस्वरूप अथवा ओंकार

का बाधन होता है), **अनुवृत्तौ** (अनुवृत्ति में) **अनुक्रमः** (नैरन्तर्य का अभाव होता है) **परीतौ** (परिवृत्ति में) **अन्योन्यता** (पारस्परिक अपेक्षा होती है) **वैकल्पिकी** (अनिश्चयवृत्तिता) **अतादृशी** (विरूपा होती है)। **एवम् इमे पञ्च भेदाः सर्ववृत्तिषु विद्यन्ते** (ये पाँच भेद सभी वृत्तियों में हैं)।

भाष्य—यहाँ पर सब प्रकार की वृत्तियों में पाँच भेद लक्ष्य में लेने होंगे—प्रथम व्यावृत्ति है। इसके द्वारा सर्वभूत और निखिल प्राणी एक व्यूह-रूप धारण किए हुए हैं। इस व्यूहरूप-धारण के फल से उनके ब्रह्म-स्वरूप अथवा ओङ्कार-स्वरूप का बाध हुआ है। व्यूहरूपता की प्राप्ति के फल से सब कुछ ही अविद्या आदि पञ्चक्लेशों का विषय बन गया है। जब यह क्लेशसंकुल व्यूहरूपता अपने को शिथिल वा मुक्त करने की चेष्टा करती है, तब जिस वृत्ति का उदय होता है, वह है द्वितीय अनुवृत्ति, किन्तु अनुवृत्ति के उदित होते ही उसमें निरुपद्रव नैरन्तर्य नहीं आता। अर्थात् यह वृत्ति विच्छिन्न एवं व्याहत होती है। प्रकृतिजन्य प्रतिक्रिया के फल से ही ऐसा हुआ करता है। व्यूह खुलते-खुलते फिर बन्द हो जाता है, ऋजु होते-होते फिर कुटिल हो उठता है। इस तृतीय वृत्ति का नाम है—प्रत्यावृत्ति। किन्तु व्यूह-मोचन के अनुकूल जो वेग है, वह यदि क्षीण न हो तो व्यूह का सम्प्रसारण एवं शङ्खावर्त-भङ्गी से क्रमशः ऊर्ध्वगति होती रहती है, यह चतुर्थवृत्ति है—परिवृत्ति। किन्तु परिवृत्ति आरम्भ होने से ही विपद् कट नहीं गई, क्योंकि तब भी व्यूहाकार में बन्द रहने का जो वेग है, एवं व्यूह से मुक्त होने का जो वेग है—इन दो वेगों की अन्योन्यता अर्थात् पारस्परिक अपेक्षा रह जाती है। अतएव इस परिवृत्ति के क्षेत्र में आकर भी हमें सावधान रहना होता है, जिससे वृत्ति वैकल्पिकी न हो एवं अतादृशी न हो। वैकल्पिकी का अर्थ है—जो लक्ष्य है, एवं जो लक्ष्य नहीं है—इन दोनों के बीच अनिश्चयवृत्तिता—कौन सा मित्रच्छन्द है और कौन सा मित्रच्छन्द नहीं है—इसमें संशय-दोलायमान अवस्था। अतादृशी का अर्थ है—गति और स्थिति का जो ऋत और सत्य-रूप है, उसके अनुरूप न होकर विरूप हो जाना। इस द्विविध अवस्था का परिहार करके शंखावर्त्त में ऊर्ध्वगति होते-होते जब आवृत्ति से एकान्तभाव से मुक्त हुआ जाता है, अर्थात् जब व्यूहसाधक शक्ति एवं व्यूहबाधक शक्ति—इन दोनों के अनुपात की अपेक्षा फिर नहीं करनी पड़ती, तब जिस चरमवृत्ति का उदय होता है, वह पंचम परावृत्ति है। कहना न होगा कि परावृत्ति दुस्तर भवसागर के पार में स्थित है। अनुवृत्ति से आरम्भ करके इस चरम परावृत्ति-

पर्यन्त समग्र व्यापार जिसके द्वारा सुष्ठुभाव से निर्वाहित होता है, उसी का नाम है समावृत्ति। अतएव प्रणववादी जप समावृत्ति का अङ्गीभूत है ॥४५॥

[वाधा-प्रतिक्रिया-निरूपणम् श्लो० ४६-४९]

अनुवृत्तिरकारस्योकारस्य वृत्तिता द्विधा।
एकयाऽपोहते बाधमन्ययेष्टे प्रतिक्रियाम् ॥४६॥

अन्वय—अकारस्य (अर्थात् अकार के द्वारा) अनुवृत्तिः (अर्थात् अनुवृत्ति का आरम्भ होता है)। उकारस्य (उकार की) वृत्तिता द्विधा (वृत्तिता दो प्रकार की है); एकया (एक अनुवृत्ति से) बाधं (पथ की वाधा का) अपोहते (अपनोदन करते हैं) अन्यया (दूसरी अनुवृत्ति से) प्रतिक्रियां (प्रतिक्रिया को) ईष्टे (वशीभूत करते हैं)।

भाष्य—इस के वाद ॐकार के द्वारा समावृत्ति का विचार करना होगा। ॐकार की जो प्रथम मात्रा है अकार, उस के द्वारा अनुवृत्ति का आरम्भ होता है। द्वितीय मात्रा उकार की द्विविध वृत्ति है—एक, अनुवृत्ति के पथ में जो वाधा है, उसका अपनोदन करने को प्रवृत्त होती है एवं दूसरी अनुवृत्ति के फल से जो प्रतिक्रिया आरंभ होती है, उस प्रतिक्रिया को वशीभूत करती हैं। सर्वदा स्मरण रखना होगा कि चाहे जिस साधन के द्वारा किसी भी अनुकूल वृत्ति की सूचना होते ही दो आकार में अन्तराय आ कर उपस्थित हो जाता है। प्रथमतः जिस व्यूह को भेद कर के मुक्त होना चाहते हैं, उसकी जड़ता अथवा उस के निजस्व संस्कार पत्थर की दीवार के समान सामने मस्तक खड़ा करते हैं, किसी प्रकार अग्रसर नहीं होने देते। जिस यन्त्र से मेरा व्यवहार हो रहा है, उसी यन्त्र का जड़वेग (momentum) काट कर मैं उठ नहीं सकता। यह हुआ पहला अन्तराय।

यन्त्रपाश से मुक्त होने के लिए मैं जो यत्न करता हूँ, उस के फल से उस यन्त्र में एवं उस के पारिपार्श्विक सब कुछ में एक प्रतिक्रिया (reaction) भी उपस्थित होती है। जैसे इस शरीर में कोई व्याधि हुई है। उस व्याधि को ठीक करने के लिए मैंने औषधि खाई। औषधिसेवन की द्विविध क्रिया है। रोग से शरीर की स्वच्छन्दता में जो वाधा उपस्थित हुई है, उस बाधा को दूर करना एवं शरीरयन्त्र में एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया की सृष्टि करना। यह प्रतिक्रिया स्वास्थ्य के पुनर्लाभ के लिए अनुकूल भी हो सकती है, और

प्रतिकूल भी हो सकती है। यदि प्रतिकूल हो तो वह प्रतिक्रिया अपक्रिया वा विक्रिया है। इसीलिए औषध-सेवन के फल-स्वरूप शरीर की कोई विक्रिया उपस्थित हुई या नहीं, इस पर विशेष ध्यान रखना होता है। साधन-मात्र में भी इस नियम का दृष्टान्त मिलेगा। किसी मन्त्रका जप कर रहा हूँ। जप के फल से जपकर्त्ता के यन्त्र में अवश्य ही एक प्रतिक्रिया आरम्भ होती है। वह प्रतिक्रिया अनुकूल हो तो शुभ है। प्रतिकूल अथवा विक्रिया होने पर उस का दमन (control) करने की व्यवस्था साथ-साथ होनी चाहिये। अव प्रणव की जो द्वितीय मात्रा उकार है, वह दोनों प्रकार से काम करने में प्रवृत्त होती है—यन्त्र का जो जड़वेग वा momentum है, उसे काटने में प्रवृत्त होती है एवं प्रतिक्रिया जिससे विक्रिया में पर्यवसित न हो, वैसा विधान भी करती है ॥४६॥

बाधाप्रतिक्रिये येऽपि रिपुच्छन्दोऽनुगच्छतः।
ऋतस्य वर्त्मनि याभ्यामनृजुत्वञ्च जन्यते ॥४७॥

अन्वय— ये अपि (जो भी) **बाधाप्रतिक्रिये** (बाधा और प्रतिक्रिया) (हैं, वे) **रिपुच्छन्दः अनुगच्छतः** (रिपुच्छन्द की अनुवर्तिनी होती हैं) **याभ्यां** (जिन बाधा और प्रतिक्रिया से) **ऋतस्य वर्त्मनि** (ऋत के मार्ग में) **अनृजुत्वं** (कुटिलत्व) **जन्यते** (उत्पन्न होता है)।

भाष्य— इस के बाद लक्ष्य करना होगा कि बाधा एवं प्रतिक्रिया रिपुच्छन्द की अनुवर्त्ती हो सकती हैं, अथवा मित्रच्छन्द की भी अनुवर्त्ती हो सकती हैं। प्रतिक्रिया की भाँति बाधा भी अनुकूल, प्रतिकूल—शुभ, अशुभ भेद से द्विविध है। बद्ध संस्कार की जो बाधा है, वही अशुभ बाधा है; यह बाधा अरिच्छन्द के अनुगत है, क्योंकि यह व्यूह-बन्धन काट कर जाने नहीं देती। किन्तु जपादि साधन के द्वारा जितना ही मेरे भीतर जप आदि का संस्कार दृढ़ होता रहेगा उतना ही, अथवा उसी परिमाण में शुभ संस्कार पूर्वतन अशुभ संस्कारों को रोकने में समर्थ होंगे। संस्कार-मात्र का ही एक निजस्व वेग है। शुभ संस्कार का वेग प्रबल होने पर अशुभ संस्कार के वेग को सफल बाधा देने में समर्थ होगा। Positive (धनात्मक) दिशा में momentum (वेग) की सृष्टि कर के negative momentum (ऋणात्मक वेग) काट कर ऊपर उठना होता है। यह जो शुभ संस्कार के वेग के निमित्त शुभ बाधा है, यह मित्रच्छन्द की अनुवर्त्ती है। इस प्रकार देखा जाता है कि रिपुच्छन्द

के अनुवर्ती हो कर बाधा एवं प्रतिक्रिया—ऋत और सत्य-साधना का जो सरल पथ है, उसे सरल नहीं रहने देतीं—वक्र, कुटिल बना देती हैं ।।४७।।

तयोर्निरसने हि स्यादुकारस्यायमुद्यमः ।
मित्रच्छन्दस्यृजुत्वे च मकारवृत्तिता भवेत् ।।४८।।

अन्वय—**तयोः** (बाधा और प्रतिक्रिया के) **निरसने** (निरसन में) **अयं** (यह) **अकारस्य** (अकार का) **उद्यमः** (उद्योग) (समझना चाहिए), **मकार-वृत्तिता** ('म'कार की स्थिति) **मित्रच्छन्दसि** (मित्रच्छन्द में) **च** (और) **ऋजुत्वे** (ऋजुता में) **भवेत्** (होती है) ।

भाष्य—इस वक्र कुटिलता के निरसन के लिए ओङ्कार की द्वितीय मात्रा उकार का उद्यम समझना होगा । अर्थात् जब प्रथम मात्रा अकार का उच्चारण हुआ तब अनुवृत्ति अथवा अनुकूल प्रवाह की सूचना हुई । किन्तु बाधा प्रतिक्रिया उपस्थित होने के कारण प्रवाह सरल-स्वच्छन्द-गति नहीं होता, वक्र-कुटिल हो जाता है, स्तब्ध भी हो जाता है । द्वितीय मात्रा उकार उच्चारित हो कर इस स्तब्धता और वक्रता का निरसन करती है । तृतीय मात्रा जो मकार है, वह मित्रच्छन्द का आश्रय लेती है, एवं ऋजुता लाती है ।।४८।।

लीना वैकल्पिकी नादे बिन्दावताहशी पुनः ।
ओमित्यस्य समावृत्तिर्यया सर्वं समाप्यते ।।४९।।

अन्वय—**वैकल्पिकी** (इस नाम की बाधा) **नादे** (नाद में) **लीना** (लय प्राप्त होती है) **पुनः** (और) **अतादृशी** (इस नाम की बाधा) **बिन्दौ** (बिन्दु में) [लय प्राप्त होती है] । **ओमित्यस्य** (ओंकार की) **समावृत्तिः** (है) **यया** (जिस समावृत्ति द्वारा) **सर्वं** (सब का) **समाप्यते** (समापन हो जाता है) ।

भाष्य—पहले जो वैकल्पिकी और अतादृशी इस द्विविध अन्तराय की बात कही गई है, उनमें से वैकल्पिकी का लय होता है नाद में एवं अतादृशी का लय होता है बिन्दु में; अर्थात् अकार, उकार, मकार—इन तीन मात्राओं के ऊर्ध्व में जो अर्द्धमात्रा नादबिन्दु है, उसमें जप की जो संशय वृत्ति है एवं जो अयथार्थ वृत्ति है—वे दोनों तिरोहित हो जाती हैं । तब प्रणव निःसंशय रूप से स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । ओङ्कार की समावृत्ति को इस प्रकार समझना होगा—जिस समावृत्ति के द्वारा सर्वसमापन हो जाता है ।।४९।।

[मीनशक्तिनिरूपणम् श्लो० ५०-५३]

बीजं यद् विशति क्षेत्रं शेते तु जाड्यमूर्च्छितम्।
तज्जागर्त्ति यदा बाधा प्रतिबध्नाति नोदयम् ॥५०॥
अकारवृत्तिताव्याप्य एष एव ह्यनुक्रमः ॥५१॥
अव्याकृते बीजमात्रे जिजागरिषति पुनः।
चञ्चल्यते सुप्तमीनस्तदा स्यादङ्कुरोद्गमः ॥५२॥
उकारतनुभाग् भास्वान् वराहो हेतुरुद्गमे।
येन बाधाविक्रिये च तृह्येते अवलीलया ॥५३॥

अन्वय—यत् (जो) बीजं (बीज) क्षेत्रे (खेत में) विशति (पतित होता है), (जो) जाड्यमूर्च्छितं (जड़ता से मूर्च्छित होकर) शेते (सोता रहता है, उसमें प्राणसञ्चार का लक्षण दिखाई नहीं देता)। यदा (जब) बाधा (प्रतिबन्धक हेतु) उदयं न प्रतिबध्नाति (उदय को नहीं रोकता) [तब] तत् (वह बीज) जागर्ति (जागरण प्राप्त करता है) एष एव हि (यह ही) अनुक्रमः (अनुक्रम) अकारवृत्तिताव्याप्यः (अकार की वृत्तिता का व्याप्य) [होता है], [जब] पुनः (फिर) अव्याकृते (अव्याकृत स्थिति के) बीजमात्रे (बीजमात्र) जिजागरिषति (जागरित होना चाहता है), सुप्तमीनः (बीज के मध्य की प्रसुप्त मीनशक्ति) चञ्चल्यते (चञ्चल हो उठती है) तदा (तब) अङ्कुरोद्गमः (अङ्कुर का उद्गम) स्यात् (होता है)। उकारतनुभाक् (उकार रूप शरीर का धारण करने वाले) भास्वान् (तेजस्वी) वराहः (वाराही शक्ति) उद्गमे (अङ्कुरोदय में) हेतुः (कारण है), येन (जिससे) बाधाविक्रिये (बाधा और विक्रिया) अवलीलया (लीलापूर्वक) तृह्येते (विदूरित होती हैं)।

भाष्य—अब एक स्थूल बीज का दृष्टान्त लेकर यह समापन-क्रिया समझने का प्रयत्न कीजिए। क्षेत्र में बीज पतित रहता है, किन्तु वह बीज जड़ता से मूर्च्छित है, उसमें प्राणसञ्चार का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता है। उस बीज का जागरण कब होता है? जब कोई बाधा उसके उदय में प्रतिबन्धक न हो तब। बीज जब जागने की इच्छा करता है, तब बीज की नाभि में जो ॐकार विराजता है, वही ॐकार की प्रथम मात्रा 'अकार' उसके व्यापार का आरम्भ है। अब तक जो अव्याकृत, अव्यक्त बीजमात्र था, वह अङ्कुरित होने का उपक्रम करता है। हम देख चुके हैं कि यह उपक्रम या अनुक्रम ही

अकार की वृत्ति है। बीज के बीच जो प्रसुप्त मीनशक्ति पड़ी हुई है, उस शक्ति की स्तब्धता का नशा मानो कट जाता है। और वह शक्ति चञ्चल हो उठती है। इसी को बीज की उच्छून अवस्था (swelling) कहते हैं। किन्तु अब भी अङ्कुर का उद्गम नहीं हुआ है। सुषुप्ति भङ्ग हुई है, किन्तु जागरण अब भी नहीं हुआ है। यह सुप्ति-जागरण की सन्धि-अवस्था है। उसके बाद सुप्त मीनशक्ति के चञ्चल होने के बाद बीज के मध्य 'उकार-तनुधृक्' वा तनुधारी तेजस्वती जो वाराही शक्ति है, उसी शक्ति का उद्रेक होता है। उद्रेक के फलस्वरूप बाधा और विक्रिया लीलापूर्वक विदूरित हो जाती हैं एवं बीज से अङ्कुरोद्गम हो जाता है ॥५०-५३॥

[कूर्म्मशक्तिनिरूपणम्]

सांग्रहिकश्च धातूनामसूनां परिपोषकः।
प्ररोहयति कूर्मो यो मकारमधितिष्ठति ॥५४॥

अन्वय—धातूनां (उपादानों का) सांग्रहिकः (संग्रह करने वाला) असूनां (प्राणों का) परिपोषकः (परिपोष करने वाला) कूर्मः (कूर्म-शक्ति) प्ररोहयति (अङ्कुरित करता है) यः (जो कूर्म) मकारं (प्रणव के मकार पर) अधितिष्ठति (आश्रित है)।

भाष्य—किन्तु बीज से अङ्कुरोद्गम होना ही तो पूर्ण विकास नहीं है। अङ्कुर का जो उपादान है, वह संग्रह करने में निपुण है एवं उसके बीच जो प्राण-स्रोत चलते रहते हैं, उन सबकी परिपोषिका किसी एक शक्ति को उनके बीच रहना आवश्यक है। उस शक्ति के वर्तमान न होने पर बीज से जो अङ्कुर उद्गत होता है, वह एक विशेष रूप और धर्म का परिग्रह करके किसी एक विशेष जाति वाले पादप में परिणत नहीं हो सकता। बीज के भीतर की इस संग्रह-कुशल, पोषक शक्ति को कूर्म्मशक्ति कहते हैं। प्रणव की जो तृतीय मात्रा 'म'कार है, वह यही कूर्म्मशक्ति है ॥५४॥

[नृसिंह-वामन-निरूपणम्]

नादबिन्दू च विज्ञेयौ नृसिंहवामनौ ततः।
वेविष्टे पूर्वया वृत्त्या पुनर्बीजायतेऽन्यया ॥५५॥

अन्वय—ततः (तब) नादबिन्दू (नाद और बिन्दु) नृसिंहवामनौ (नृसिंह और वामन) विज्ञेयौ (जानने चाहिएँ)। पूर्वया वृत्त्या (नृसिंह रूप नाद-

शक्ति) वेविष्टे (विस्तार करती हैं) पुनः (फिर) अन्यया (वामन रूप विन्दुशक्ति) बीजायते (बीजरूप में रूपायित करती है)।

भाष्य—नाद और बिन्दु को यथाक्रम नृसिंह और वामन कह कर समझें। नृसिंहरूप नादशक्ति बीज का विस्तार करके उसे परिपूर्ण विकास की ओर ले जाती है, एवं वामनरूप बिन्दुशक्ति उसी पूर्णता-प्राप्त पादप को पुनः बीज-रूप में रूपायित करती है ॥५५॥

[अम्भ-उर्वी-तत्त्वम् श्लो० ५६-५८]

अम्भसाऽत्र विजानीत लीनसंस्कारसङ्करम्।
क्लेशपञ्चमूलाऽविद्यां यत्रासतेऽस्मितादयः ॥५६॥

अन्वय – अत्र (यहाँ) अम्भसा (जल से) लीनसंस्कारसंकरां (लीन अनादि संस्कारों वाली) क्लेशपञ्चमूलाऽविद्यां (क्लेशपञ्चक की मूलरूपा अविद्या को) विजानीत (समझें) यत्र (जिस अविद्या में) अस्मितादयः (अस्मिता आदि) आसते (रहते हैं)।

भाष्य —यहाँ जिन मीन-कूर्मादि पञ्चशक्तियों की बात कही है, श्रीगुरु एकाधार में इस पञ्चशक्ति वा पञ्चावतार का रूप हैं। यह बात 'श्रीगुरु-पादाब्जदलपंचक' के अन्तिम श्लोक में कही गई है। वहाँ श्रीगुरु की पञ्चमूर्ति के वर्णन के प्रसंग में जिस पयः या जल की बात कही है ('मग्नामुर्वीमिव पयसि'), वह जल कौन सा जल है? अम्भः वा जल कहने पर समझना होगा स्वरूप के सम्बन्ध में अज्ञान वा अविद्या —जिसमें शुभ-अशुभ, शुक्ल-कृष्ण अनादि संस्कार-समूह लीन अवस्था में वर्तमान रहते हैं; जो क्लेशपञ्चक का मूल है, सुतरां जिस कारण अस्मितादि क्लेशचतुष्टय के अर्थात् अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का उद्भव होता है ॥५६॥

उर्वीं विद्यात् त्रयीमत्र नादबिन्दुकलात्मिकाम्।
सोमाग्निसूर्यरूपां वौषधिवनस्पती च गाम् ॥५७॥

अन्वय—अत्र (यहाँ) उर्वीं (मूल तत्त्व के व्यक्त रूप उर्वी को) त्रयीं (त्रयी) नादबिन्दुकलात्मिकाम् (नादबिन्दुकला-रूपा) च सोमाग्निसूर्यरूपां (सोमाग्नि-सूर्य रूपा) वा (या) ओषधिवनस्पती गाम् (ओषधिवनस्पति गो-रूपा) विद्यात् (जाने)।

भाष्य—'जल में मग्न उर्वी की भाँति'—इस स्थल में उर्वी कहने से क्या

समझेंगे ? मूल तत्त्वों का जो उरु या व्यक्तरूप है वही उर्वी शब्द का अर्थ है। यह उर्वी त्रयी है, जो त्रयी नादविन्दु-कलात्मिका, सोमाग्निसूर्यरूपा अथवा ओषधि-वनस्पति-गोस्वरूपा है ॥५७॥

तत्त्वानामुरुरूपत्वं लीयतेऽव्याकृतेऽम्भसि।
यदम्भो हि नासदीये सृष्टिसूक्ते च कल्पितम् ॥५८॥

अन्वय—तत्त्वानां (तत्त्वों की) उरुरूपत्वं (उरुरूपता) अव्याकृते अम्भसि (अव्याकृत जल में) लीयते (लीन हो जाती है), यत् (जो) अम्भः (जल) नासदीये (नासदीय सूक्त में) च (और) सृष्टिसूक्ते (सृष्टिसूक्त में) कल्पितम् (कथित है)।

भाष्य—तत्त्वसमूह का जो उरुरूप है, वह अव्याकृत होकर जिसमें लीन होता है, उसे वेद के नासदीय सूक्त एवं सृष्टि-सूक्त में यथाक्रम से 'अम्भः' और 'अर्णव' कहा गया है। ॥५८॥

[तपस्तत्त्वम् श्लो० ५९, ६०]

तपसा चीयते ब्रह्म* भर्गोरूपञ्च तत्तपः।
यतोऽभीद्धादृतं † सत्यमध्वरायाध्यजायत ॥५९॥

अन्वय—तपसा (तप से) ब्रह्म चीयते (ब्रह्म का ध्यान करना होता है) च (और) तत् तपः (वह तप) भर्गोरूपं (भर्गरूप होता है) यतः (क्योंकि) अध्वराय (यज्ञ के निमित्त) अभीद्धात् (अभीद्ध से) ऋतं सत्यं (ऋत और सत्य) अध्यजायत (उत्पन्न हुए हैं)।

भाष्य—श्रुति ने कहा है—'तपसा चीयते ब्रह्म'। यह तप ज्ञानमय है,‡ यह भी श्रुति ने अन्यत्र कहा है। सुतरां तप कहने से भर्ग ही समझना होगा। जगत्-सविता के इस वरणीय भर्ग का ही गायत्री मन्त्र में ध्यान करना होता है। सृष्टिरूप यज्ञविस्तार के निमित्त 'अभीद्धतपः' † से पहले ऋत और सत्य उत्पन्न हुए यह बात सृष्टिसूक्त में कही है ॥५९॥

---

*द्रष्टव्य—मुण्डकोपनिषत् १. १. ८—अनुवादिका।

† तुलनीय—ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्रिरजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
(महानारायणोपनिषत् १-१३)—अनुवादिका।

‡यस्य ज्ञानमयं तपः। (मुण्डकोपनिषत्—१-१-९)—अनुवादिका।

तपस आविरायाति सर्गतावच्छिन्नता सतः ।
बीजाङ्कुरप्ररोहाणां विशेषाभावरूपता ॥६०॥

अन्वय—तपसः (तप से) सतः (सद् वस्तु की) आविः ('आविः' अवस्था) आयाति (प्रकट होती है), सर्गतावच्छिन्नता (सर्ग अथवा सृष्टि के अभिमुख अवस्था 'आविः' है, जो कि) बीजाङ्कुरप्ररोहाणां (बीज, अङ्कुर अथवा प्ररोह की) विशेषाभावरूपता (विशेषहीन अवस्था है) ।

भाष्य—जब एकमात्र सद्वस्तु है, सर्ग वा सृष्टि जब नहीं हुई है, ऐसी अवस्था में सद् वस्तु सृष्टि का सामान्य सङ्कल्परूप है अथवा सर्गाभिमुखीन जो आदिम अव्यक्त भाव है, उसी को सद्वस्तु का आवीरूप कहना होगा। इस आविः अवस्था में बीज, अङ्कुर, प्ररोह प्रभृति कोई 'विशेष' अभी तक दिखाई नहीं दिया है अर्थात् आविः को सृष्टि का बीज अथवा अङ्कुर अथवा प्ररोह—इन सब में से कोई आख्या नहीं दी जाती। वस्तुतः—'सद् वस्तु ने कल्पना की थी, कामना की थी, ईक्षण किया था'—इत्यादि रूप में सृष्टि की जिस बीजावस्था की बात श्रुति ने हमसे बार-बार कही है, वह भी मानो 'आविः' की परवर्ती अवस्था है। इस प्रकार सब प्रकार की अभिव्यक्ति के आदि में जो 'आविः' है, वह सब प्रकार के 'विशेष' वा निरूपक के अभाव के कारण स्वयं अव्यक्त है ॥६०॥

[आविस्तत्त्वम् श्लो० ६१-६५]

पयोधेर्निस्तरङ्गस्य प्राग्वीचिभङ्गतो यथा ।
वायूर्जितस्य दृश्येत कदाप्युच्छूनतागतिः ॥६१॥

अन्वय—यथा (जैसे) निस्तरङ्गस्य (तरङ्गरहित) पयोधेः (समुद्र के) वीचिभङ्गतः (वीचिभङ्ग से) प्राक् (पहले) वायूर्जितस्य (वायु के प्रभाव से) कदापि (कभी) उच्छूनतागतिः (उच्छ्वासमात्र गति) [दिखाई देती है] ।

भाष्य—बाहर का एक चित्र देकर इसे समझने की चेष्टा कीजिए। सीमाहीन महासमुद्र निस्तरङ्ग पड़ा हुआ है। वीचिभङ्ग के दिखाई देने के पूर्व वायु के प्रभाव से समुद्र-वक्ष पर एक उच्छ्वासमात्र पहले परिलक्षित होता है। विचित्र नाम-रूप-विशिष्ट सृष्टिरूप में दिखाई देने के पूर्व ब्रह्म का अथवा सद्वस्तु का जो आविर्भाव है, उसे कुछ-कुछ इसी प्रकार समझने का यत्न करना होगा। गाढ़ सुषुप्ति के बाद जागरण के ठीक आरम्भ में इस प्रकार की एक अव्यक्त अवस्था होती है ॥६१॥

विशेषसर्गतादौ या विशेषाभावरूपता।
उच्छ्वासमात्रभावेनाकल्पनीया तु कल्प्यते ॥६२॥

अन्वय—**या** (जो) **विशेषसर्गतादौ** (विशेष सृष्टि के आदि में) **विशेषाभावरूपता** (विशेष की अभावात्मक स्थिति) [विद्यमान होती है, उसकी हम] **उच्छ्वासमात्रभावेन** (उच्छ्वास मात्र-रूप में) **अकल्पनीया** (अनिर्वचनीय) **कल्प्यते** (कल्पना करते हैं)।

भाष्य—सब प्रकार की 'विशेष सृष्टि' के आरम्भ में 'विशेष' की इस प्रकार अभावरूपता विद्यमान रहती है। अनिर्वचनीय उच्छ्वासमात्र के रूप में हम उसकी कल्पना किया करते हैं। वस्तुतः वह कल्पना के योग्य नहीं है ॥६२॥

आनन्दस्य य उल्लासारम्भोपक्रम एव च।
आत्मप्रत्ययगम्येऽपि योऽवाङ्मनसगोचरः ॥६३॥

अन्वय—**आनन्दस्य** (आनन्द का) **यः** (जो) **उल्लासारम्भोपक्रमः** (उल्लास का आरम्भ और उपक्रम है, इन दोनों के) **एव** (ही) **आत्मप्रत्ययगम्ये अपि** (आत्मप्रत्यय में जान लेने के योग्य होने पर भी) **यः** (जो उसका आरम्भ और उपक्रम है वह) **अवाङ्मनसगोचरः** (वाक् व मन दोनों का गोचर नहीं है)।

भाष्य—आनन्द का स्वभाव यही है—जब आनन्द का जो उल्लास है, उसका आरम्भ और उपक्रम होता है, तब उसे हम आत्मप्रत्यय में जान तो लेते हैं, किन्तु उसे हम क्या वाक्, क्या मन—इन दोनों में से किसी के द्वारा धारणा में नहीं ला पाते ॥६३॥

नान्तःप्रज्ञो बहिःप्रज्ञो न चाप्युभयरूपता।
नास्ति यत्र घनप्रज्ञा यत्रोपक्रमते सनात् ॥६४॥

अन्वय—**यः** (जो) **अन्तःप्रज्ञः** (भीतरी प्रज्ञा वाला) **न** (नहीं) **बहिःप्रज्ञः** (बाहरी प्रज्ञा वाला) **न** (नहीं), **यत्र** (जिसमें) **घनप्रज्ञा न** (अर्थात् जो घन-प्रज्ञा भी नहीं) (वह) **सनात्** (निरन्तर) **उपक्रमते** (उपक्रम करता है)।

भाष्य—जो बहिःप्रज्ञ भी नही है और अन्तःप्रज्ञ भी नहीं है, जिसे उभयतःप्रज्ञ कहा नहीं जाता, यहाँ तक कि जो घनप्रज्ञ भी नहीं है—इस प्रकार जो अलक्षण, अनिरुक्त, अव्यवहार्य सद्वस्तु है, उससे यह सकल त्रिविध प्रज्ञा की जो सूचना वा आरम्भ है उसकी किसी मन के द्वारा धारणा करना या किसी वाक्य के द्वारा उसको प्रकाशित करना सम्भव है क्या? ॥६४॥

अहर्निशं गतं सन्धिं यत्राहर्न च शर्वरी।
न जागर्तिर्न सुप्तिर्वा तस्याविशेषता मता ॥६५॥

अन्वय—यत्र (जहाँ) अहर्निशं (दिन और रात) सन्धिं गतं (सन्धि को प्राप्त हैं) (जहाँ) न अहः न च शर्वरी (न दिन है न रात्रि) (जहाँ) न जार्गतिः (न जागरण है) न सुप्तिः वा (अथवा न सुप्ति है) तस्य (उस की) अविशेषता (अविशेष भावरूपता) मता (मानते हैं)।

भाष्य—दिन और रात्रि जहाँ सन्धिप्राप्त होते हैं, सुतरां जहाँ दिन भी नहीं है, रात्रि भी नहीं है, जागरण भी नहीं है, सुप्ति भी नहीं है, उसे अविशेषभाव कह कर समझेंगे ॥६५॥

[आवीरात्रि-तत्त्वम्, तद्गतं समुद्र-अर्णव-तत्त्वञ्च श्लो० ६६-७६]

भर्गोरूपादभीद्धात्तज्जातमाविरितीर्यते।
तस्य प्रतिकृतो रात्रिर्या रात्रिसूक्तमन्विता ॥६६॥

यतोऽधिकृत्य चात्मानं भावोऽतश्च स्वभावता।
ब्रह्ममुखीनताऽऽविर्हि सर्गाभिमुखता क्षपा ॥६७॥

अन्वय—अभीद्धात् (अभीद्ध) भर्गोरूपात् (भर्गोरूप से) (जो) जातं (उत्पन्न है) तत् (उसे) 'आविः' इति (ऐसा) ईर्यते (कहते हैं) तस्य (उसकी) रात्रिः (रात्रि) प्रतिकृतिः (प्रतिकृति है,) या (जो) रात्रिसूक्तम् अन्विता (रात्रिसूक्त से सम्बद्ध है)।

भाष्य—आत्मा पर अधिकार कर के, आत्मा के सम्वन्व में जो भाव रहता है, उसे 'स्वभाव' समझें। स्वभाव सत्यस्वरूप और ऋतस्वरूप है। तत्त्वतः वस्तुरूप में जो सत्यस्वरूप है, गतिरूप में वह ऋतस्वरूप होता है। यह गति भी तत्त्वतः गति है, हमारी कल्पित वा अनुमित गति नहीं है। जिस किसी पदार्थ के सम्वन्ध में हम ये दो भूल प्रश्न कर सकते हैं। पदार्थ तत्त्वतः क्या है एवं यथार्थ में किस रूप से उस की वृत्ति होती है? इन दो प्रश्नों के सम्बन्ध में हमारे उत्तर ज्ञान के विभिन्न स्तरों में विभिन्न होते हैं। जैसे लौकिक साधारण ज्ञान में एक प्रकार, वैज्ञानिक ज्ञान में अन्य प्रकार और योगज ज्ञान में शायद फिर तृतीय प्रकार। किन्तु योगज ज्ञान के भी नाना स्तर वा भूमियाँ होती हैं। सुतरां जिज्ञासा रह जाती है—पदार्थ का निरतिशय रूप क्या है, गुण क्या है, वृत्ति क्या है? एक अनन्त सोपान-श्रेणी के

क्रम से हम अग्रसर हो रहे हैं। शेष वा चरम स्तर पर पहुँचने पर पूर्ण प्रज्ञान होता है—यही 'वेद' शब्द का मुख्य अर्थ है। पूर्ण प्रज्ञा की भूमि में पहुँचने पर वस्तु के स्वभाव की जो तत्त्वदृष्टि हमारे समीप उन्मोचित होती है वह तत्त्वदृष्टि ही हमें दिखा देती है कि सत्य क्या है एवं ऋत क्या है। कहना न होगा, इन दोनों के सम्बन्ध में हम सभी की धारणा न्यूनाधिक भ्रान्त कल्पनादिमिश्रित, सुतरां अयथार्थ है। सभी सृष्ट पदार्थ श्रद्धाभिमुखीन भाव से, अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष भाव से जो प्रतिभात हो रहे हैं, यह हुआ 'आविः'; एवं विचित्र नामरूपात्मक प्रपञ्च के रूप में स्वरूप को आवृत कर के उन का जो प्रकाशित होना है, उस का नाम क्षपा या रात्रि है।

अभीद्ध जो भर्गः वा तपः है, उसका जो आदिम रूप है, वह 'आविः' है। 'रात्रि' उसकी प्रतिकृति है, अथवा 'उल्टा रूप' है, सुतरां जो 'आविः' है वही 'रात्रि' है—यद्यपि सामान्य दृष्टि से ये दोनों आलोक व अन्धकार की भाँति विरुद्ध प्रतीत होते हैं। सृष्टि में सर्वत्र ये दोनों - 'आविः' और 'रात्रि' एक दूसरे के साथ में अन्वित हैं। सामने एक पेड़ देख रहा हूँ। 'अस्ति' और 'भाति' रूप में वह 'आविः' है। किन्तु स्वरूपगत जो आनन्द है एवं आनन्द का जो भूमात्व है--इन सब स्वरूपों का परिचय आवृत है। वृक्ष को खण्डित एवं परिवर्तनशील विचित्र धर्मविशिष्ट रूप में ही देख रहा हूँ। यह आवरण है 'रात्रि'। अपने आत्मा के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार—भान हो कर भी अभान हो रहा है, और अभान हो कर भी भान हो रहा है। 'आविः' एवं 'रात्रि'—दोनों मिल कर यह करते हैं। इस के फलस्वरूप सब कुछ व्यक्ताव्यक्त है। सृष्टिसूक्त में एवं प्रसिद्ध रात्रिसूक्त में इस अघटन-घटन-पटीयसी रात्रि की बात कही गई है। हम आगे देखेंगे कि इस रात्रि की और विचित्र मूर्तियाँ हैं—महारात्रि, मोहरात्रि, कालरात्रि इत्यादि ॥६६-६७॥

सत्ये ब्रह्मस्वरूपे स्यादभिमुखीनता कुतः।
ऋतमृते प्रसज्येत नाभिमुखीनवृत्तिता ॥६८॥

अन्वय—सत्ये (सत्यरूप) ब्रह्मस्वरूपे (ब्रह्मस्वरूप में) अभिमुखीनता कुतः (अर्थात् अभिमुखीनता आदि के प्रश्न का अवकाश नहीं), ऋतम् ऋते (ऋत के बिना) अभिमुखीनवृत्तिता (अभिमुखता का प्रश्न नहीं उठ पाता)।

भाष्य—सत्यस्वरूप ब्रह्म में दिक्, देश, कालादि का कोई परिच्छेद नहीं है। यदि ऐसा है तो फिर ब्रह्म के सम्बन्ध में अभिमुखीनता ही क्या और

विमुखीनता ही क्या ? वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप में अभिमुखीनतादि के प्रश्न का अवकाश नहीं है। हाँ, 'आविः' और 'रात्रि' का जो परस्पर भेद कल्पित है, वह किस प्रकार सिद्ध होगा ? कहना न होगा कि ब्रह्म-स्वरूप में, अथवा जो सत्य है उस में अथवा उस के सम्बन्ध में कोई गति कल्पित न होने पर इस प्रकार अभिमुखता का प्रश्न उठ नहीं पाता। क्योंकि गति की ही दिशा है, सत्य की दिशा नहीं है।

अतएव 'ऋतञ्च सत्यञ्च' इस रूप से द्विधा अभिव्यक्ति जब तक नहीं होती तब तक 'आविः' और 'रात्रि' का भेद कल्पित नहीं हो पाता ॥६८॥

आवी रात्री इति द्वे च व्योमवायू इतीरिते।
सत्येऽनवसरत्वेऽपि स्यातामृतस्य वृत्तिते ॥६९॥

अन्वय— आविः रात्रि इति द्वे च (और, 'आविः' तथा 'रात्रि' ये दोनों) व्योमवायू (व्योम और वायु) इति (इस प्रकार) ईरिते (कहे गए हैं), सत्ये अनवसरत्वेऽपि (यद्यपि सत्य इन दोनों में से किसी के द्वारा अवच्छिन्न नहीं होता, तथापि) ऋतस्य (ऋत की) वृत्तिते (ये दो वृत्तियाँ, 'आविः' 'रात्रि' अथवा व्योमवायु) स्याताम् (होती हैं)

भाष्य—'आविः' और 'रात्रि'—ये दोनों यथाक्रम से व्योम और वायु-रूप में भी कहे जायेंगे। इस उपोद्घात के तृतीय श्लोक में व्योम और वायु का प्रसंग हमने उठाया है। सत्य को व्योम और वायु—इन दोनों में से किसी के द्वारा भी अवच्छिन्न नहीं किया जा सकता; किन्तु 'ऋतञ्च सत्यञ्च' इस रूप में सत्य जब युग्म-तत्त्व होता है तब व्योम और वायु एवं अन्यान्य तत्त्वों के रूप में उसका विवर्त होने में कोई वाधा नहीं है ॥६९॥

अभीद्धादिति जानीयादाविरभिमुखीनता।
पराञ्चि खानि* मन्त्रे तु पराक् प्रत्यगिति द्विधा ॥७०॥

अन्वय—अभीद्धात् इति ('अभीद्धात्' इस मंत्र में जो) आविरभिमुखीनता (आविः रूप में अभिमुखीनता है, उसे) 'पराञ्चि खानि'-मन्त्रे तु (इस मन्त्र में) पराक् प्रत्यक् इति द्विधा (इन दो प्रकारों से) जानीयात् (जानना चाहिये)।

---

* पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
(कठोपनिषत् ४. १)—अनुवादिका।

भाष्य—'अभीद्धात्'—इस मन्त्र में आवीरूप में जो अभिमुखीनता की बात उठती है, वह अभिमुखीनता पराक् एवं प्रत्यक् रूप से दो प्रकार की है। श्रुति ने 'पराञ्चि खानि' इस मन्त्र में यह दिखा दिया है। प्रभेद यही है कि प्रत्यक् दृष्टि से शुद्ध (आवरण और विक्षेप-तिरस्कारपूर्वक) आविष्कार है; दूसरे पक्ष में, पराक् दृष्टि से अशुद्ध (आवरण और विक्षेप के साथ) आविष्कार है। दोनों स्थलों में ही आविष्कार होता है, अर्थात् 'अस्ति-भाति' रूप में साक्षात् अपरोक्ष रूप से ज्ञान होता है। प्रातिभासिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक —किसी स्तर में इसका व्यतिक्रम नहीं है ॥७०॥

र इति वाग्निरूपत्वमत्रीति न त्रिधा मता।
अभीद्धात्तपसो वायुरग्नितामयते यतः।
अग्निरेवादिमा रात्रिरव्याकृतविधात्रयः ॥७१॥

अन्वय—'र' इति वा अग्निरूपत्वम् (अथवा यों समझें कि 'रात्रि' का रकार अग्निरूप है) अत्रि+इति न त्रिधा मता ('अत्रि' अर्थात् जिसमें अभी त्रिधा 'व्याकरण' नहीं हुआ है) यतः (क्योंकि) अभीद्धात् तपसः ('अभीद्ध तप' से) वायुः (वायु) अग्निताम् (अग्निता को) अयते (प्राप्त होता है, इसलिए) आदिमा रात्रिः अव्याकृतविधात्रयः अग्निः एव (आदिम 'रात्रि' अग्नि ही है, जिसमें कि तीन विधाएँ व्याकृत नहीं हुई हैं)।

भाष्य—अथवा रात्रि को इस रूप से समझने की चेष्टा कीजिए। रात्रि=र+अ+त्रि। र=अग्नि। यह 'र' वा अग्नि 'अत्रि' है अर्थात् अब भी त्रिधा व्याकृत नहीं हुआ है। अग्नि-सूर्य-सोम, अथवा भूः—भुवः-स्वः – इस रूप में अग्नि का त्रिधा व्याकरण होता है। वह व्याकरण अथवा विस्तार अभी नहीं हुआ है। सुतरां रात्रिरूप जो अग्नि है, वह है विश्व का मूलीभूत अव्याकृत शक्तिपिण्ड। यह तेजःस्वरूप है। साक्षात् भर्गः का ही परिणाम होने से यह शक्ति अचेतन जड़ शक्ति नहीं है। रात्रिसूक्त चिच्छक्ति का ही कीर्त्तन करता है। मूल सद्वस्तु को गति वा वृत्ति-रूप में देखने पर वह होता है—ऋत=वायु; एवं 'गति' के जनक और गतिजन्य शक्ति-रूप में देखने पर वही होता है 'अग्नि'। 'आविः' इस शब्द के अन्तिम अक्षर 'र्' (अथवा 'स्') पर ध्यान देना होगा—अर्थात् ब्रह्म का मूल प्रकाश शक्तिरूप ही होता है। किन्तु शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं है।

ब्रह्मरूप में जो प्रकाश है, सृष्टि के अभिमुख वही है भर्गः=तेजः=अग्नि। इस प्रकार वह आदिम रात्रि हुई अग्नि ॥७१॥

आविरिति प्रकाशस्य मूलावृत्तिश्च विस्तृतेः।
तदेवान्वेति सर्वासु परासु सर्गवृत्तिषु ॥७२॥

अन्वय—'आविः' इति ('आविः' यह) प्रकाशस्य (प्रकाश की) च (और) विस्तृतेः (विस्तृति की) मूला वृत्तिः (मूलरूप है) तदेव (वही) सर्वासु परासु सर्गवृत्तिषु (सभी, सृष्टि की परा वृत्तियों में) अन्वेति (अनुस्यूत है)।

भाष्य—'आविः'—यह प्रकाश एवं विस्तृति का जो मूलरूप है, वह सृष्टि की सभी वृत्तियों में अनुस्यूत रहता है। किस रूप में? आविः=आ+वि+र्; इन तीन अक्षरों में हम क्रम से वायु, वियत् वा आकाश, और वह्नि—इन तीनों को प्राप्त करते हैं। मध्य में वियत् वा व्योमरूप में ब्रह्म अपना असीम विस्तार करता है। यह विस्तार केवलमात्र देश में विस्तार नहीं है, यहाँ तक कि केवल काल में भी विस्तार नहीं है। देश-काल-कारणादि की जो सीमाहीन व्याप्ति है, वही होती है इस विश्व का मौलिक आधारपट। शब्द-तत्त्व की दृष्टि से ब्रह्म का यह रूप है नाद। इस कारण इस उपोद्घात के तृतीय श्लोक में **'आवीरूपेण नादः समजनि विततं व्योम सर्वाश्रयं यत्'**—इस प्रकार से समझने की चेष्टा की गई है। ब्रह्म के इस व्योम वा नाद रूप में देश, काल, कारणता-प्रभृति सम्बन्ध का अभी व्यास अथवा व्याकरण नहीं हुआ है। जपसूत्र के एक सूत्र में **'ओमेव व्योम'** इस प्रकार 'ओम्' और 'व्योम' इन दोनों की अभिन्नता वाद में दिखाई गई है। विशेष केवल इतना ही है कि 'व्योम' इस शब्द में एक अतिरिक्त 'वि' है जो=वियत् वा विस्तृति है। तब, 'आविः' इस शब्द में लक्ष्य कीजिये कि मध्यस्थल में 'वि' को आश्रय करके दोनों पक्ष रहते हैं—एक है 'आ'=वायु (गत्यात्मक), दूसरा है 'र्' अथवा स्=अग्नि अथवा प्राण=विश्व का आदिम शक्तिरूप। सुतरां 'आविः' इस शब्द से समझता हूँ कि ॐकार क्रियात्मक और शक्त्यात्मक—इन दो रूपों में इस विश्व को प्रपञ्चित करता है। प्रणव की मूर्त्ति में भी यह रहस्य हम देख सकते हैं—एक ओर अकार, उकार, मकार—इस कलात्रयरूप में प्रणव का अथवा नाद का क्रियारूप है; दूसरी ओर विन्दु-रूप में नाद का शक्तिरूप है। अतएव स्पष्ट ही उपलब्धि होती है कि ॐकार से ही इस समस्त की अभिव्यक्ति होती है, एवं यह समस्त ही है प्रणव का रूप ॥७२॥

समुद्रोऽर्णव आयाति ह्याकारे रात्रिमन्विते
संपरिष्वक्तरूपोऽयमव्यक्तत्वेऽपि चान्यथा।
उच्छूनता समुद्रेण चार्णवेनैजनं सनात्
तयोरेव समासेन कारणस्य क्रियोद्यमः ॥७३॥

अन्वय—**आकारे रात्रिमन्विते समुद्रः अर्णवः हि आयाति** ('रात्रि' अर्थात् विराट् विश्व की सुषुप्ति जब 'आ'कार अर्थात् गत्यात्मक वायु द्वारा क्षोभित होती है, तब 'समुद्र-अर्णव' उद्भूत होता है) **अयं संपरिष्ववतरूपः अव्यवतत्वेऽपि च अन्यथा** (यह 'समुद्र-अर्णव' 'संपरिष्वक्त' अर्थात् भली-भाँति आलिङ्गनबद्ध है, और अव्यक्त होते हुए भी अन्यथा है अर्थात् व्यक्त है) **समुद्रेण उच्छूनता** ('समुद्र' से आदिम उच्छ्वास) **अर्णवेन च सनात् एजनं** (और 'अर्णव' से निरन्तर गति समझनी चाहिए) **तयोः एव समासेन** (इन दोनों के समास से) **कारणस्य क्रियोद्यमः** (कारण की क्रियोन्मुखता होती है)।

भाष्य—तत्पश्चात् सृष्टिसूक्त में देखते हैं—**'समुद्रोऽर्णवः'**। यह कहाँ से किस रूप में आया? निखिल सृष्टि की जो अनिर्वाच्य अव्याकृत अवस्था है, वही रात्रि नाम से अभिहित हुई है। व्यष्टि के जीवन में यह सुषुप्ति है। सुषुप्ति के समय में अज्ञान अथवा आवरण का ही ज्ञान होता है। इस विराट् विश्व की भी सुषुप्ति के समान एक अवस्था है। निखिल सुषुप्ति रूप रात्रि जब 'आकार' अर्थात् गत्यात्मक वायु द्वारा क्षोभित होती है, अर्थात् वही महा-सुषुप्ति की स्तब्धता जब भङ्गोन्मुख होती है, तब उसकी कुक्षि में जो अनन्त संस्कारराशि स्थिरभाव से थी, वह मानो चञ्चल हो उठती है; अथच अभी तक उनकी विशेष-विशेष अभिव्यक्ति कार्यतः नहीं हुई है। यह अवस्था भी प्रायः अव्यक्त होते हुए भी सुषुप्ति अथवा रात्रि की भाँति बिल्कुल अव्यक्त नहीं है। हमारी साधारण अनुभूति की ओर से इसी आदिम रात्रि की हम अन्य प्रकार से भी कल्पना कर सकते हैं। रूप-रसादि जो कुछ हमारी अन्त-रिन्द्रिय के अथवा बहिरिन्द्रिय के विषय हो रहे हैं वे तो देश-काल की पट-भूमि में चलचित्र के समान हैं— वे कहाँ से आते हैं, उनके पीछे क्या है? इस रूप में जिज्ञासा और अनुसन्धान आरम्भ होता है। अनुसन्धान की किसी एक धारा का अनुसरण करते-करते हम स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर इस प्रकार क्रमशः एक महान् अज्ञान की दिशा में अग्रसर होते रहते हैं। इसीलिये गीता ने कहा है—भूत-समह आदि में भी अव्यक्त हैं, अन्त में भी अव्यक्त हैं, केवल मध्य में

कुछ व्यक्त हैं$ । यह जो आदि एवं अन्त में महा अज्ञान है, वह रात्रि है । वहुतों की तत्त्वदृष्टि जगत् के मूलकारण के सम्बन्ध में इससे अधिक अग्रसर नहीं हो पाई है । रात्रि के उस पार क्या आलोक या रात्रि, जगत् के मूल के सम्बन्ध में, अन्तिम वात है ? हमने 'आविः' और 'रात्रि' इन दो दिशाओं से मूल को समझने का यत्न किया है । दोनों ही अनिरुक्त और अलक्षण हैं, तथापि एक प्रकाश-स्वरूप है, दूसरा आवरण-स्वरूप है । सृष्टि के अभ्यन्तर में चाहे जिस दृष्टिकेन्द्र से देखने पर सृष्टि का मूल रात्रि ही है, सन्देह नहीं । वेद के नासदीय सूक्त एवं मनुसंहिता* ने आरम्भ से ही, इस लक्षणहीन महा अज्ञान की वात ही कही है, किन्तु फिर ↑"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"—तम के पार साक्षात् भास्वर आदित्य के समान एक परम प्रकाश है—"‡यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" । यहाँ तक कि उस मूल रात्रि को भी वे ही प्रकाशित करते हैं । नहीं तो "+आसीदिदं तमोभूतं"—इस प्रकार के अज्ञान का जो ज्ञान है, जगत् की सुषुप्ति के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार का एक नित्य ज्ञान भी अवश्य ही रहता है । चलचित्र आलोक में प्रकट होते रहते हैं, किन्तु फिर भी वह नित्य ज्ञान ही उस प्राकट्य को जानता है एवं चलचित्र अन्वकार में मिल जाने पर भी उस लय को भी वही नित्य ज्ञान जानता है, और भी, सर्वतश्चक्षुः नित्य-अकुण्ठित-ज्ञान-युक्त यदि कोई पुरुष हों, तव जगत् के लिए जो तमसाच्छन्न रात्रि

$अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। गीता २।२८।।
--अनुवादिका ।

*अप एव ससर्जादो तासु वीजमवासृजत् ।।
(मनुस्मृति १.८)—अनुवादिका ।

↑ (१) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।
(श्वेताश्वतरोपनिषत् ३,८) --अनुवादिका ।

(२) कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।
(श्रीमद्भगवद्गीता ८.९.)—अनुवादिका ।

‡कठोपनिषत् ५.१५—अनुवादिका ।

+तुलनीय—तमो वा इदमग्र आसीदेकम् (मैत्रेय्युपनिषत् ५.२)
—अनुवादिका ।

है, वह उसकी दृष्टि में पौर्णमासी की रात्रि हो जाती है। रात्रि होकर भी वह उस पुरुष की परम पश्यन्ती दृष्टि में अपने महा अज्ञान के भण्डार को अज्ञात बना कर नहीं रख पा रही है, वे सर्वज्ञ, सर्ववित् हैं; समग्र रूप से भी जानते हैं, और विशेष-विशेष भाव से भी जानते हैं। "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी"*—गीता का यह संयमी कौन है यह भूलने से नहीं चलेगा। रात्रि के इस द्विविध प्रकाश (शुद्ध चैतन्य का प्रकाश और सर्वज्ञ सर्ववित् के द्वारा प्रकाश) के अलावा भी एक और तृतीय प्रकाश भी है या हो सकता है। वही है रात्रि के शुक्ल-पक्ष में कला वा आंशिक प्रकाश जिस भूमि में ↑'निरतिशय सर्वज्ञत्व का वीज' नहीं है, अथच बुद्धि की स्वच्छता से सर्वज्ञता की भाँति एक बोध उदित होता है, उस स्थल में रात्रि शुक्ल पक्ष की पौर्णमासी न होने पर भी तदपेक्षा न्यून किसी तिथि की रात्रि हो सकती है। इस प्रकार की दृष्टि योगज दृष्टि है। जगत् का मूल इस दृष्टि से समग्र भाव में ज्ञात न होने पर भी आंशिक भाव में ज्ञात है, एवं वह ज्ञान भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सादि-दोष से रहित होने के कारण यथार्थ ज्ञान के रूप में ही विवेचित होने योग्य है।

अव रात्रि से 'समुद्र' और 'अर्णव' की उत्पत्ति हुई—वेद के इस अंश के अर्थ का हमें अनुधावन करना होगा। 'समुद्र' शब्द के अक्षर-सन्निवेश की परीक्षा करने पर समुद्र-तत्त्व का जो अगाध रहस्य है, उसका वहुत कुछ आभास हम पा सकते हैं।

समुद्र=सम्+उत्+र। इसके द्वारा क्या समझेंगे ? सृष्टि के मूल में रात्रि-रूप जो अव्यक्त महावीज है, वह मानो किसी की प्रेरणा से अपने को अभिव्यक्त करने के लिये उच्छ्वसित हो उठता है। निस्तरङ्ग महासागर में जैसे वायुवेग से एक उच्छ्वास लक्षित होता है—उस प्रकार। अभी कोई तरङ्ग दिखाई नहीं दी है। अव्यक्त कारण की अभिव्यक्ति के निमित्त इस प्रकार का जो आदिम उच्छ्वास है, 'समुद्र' इस शब्द द्वारा उसी का निर्देश किया गया है। केवलमात्र विश्वसृष्टि के आदि में नहीं, सव प्रकार की सृष्टि के आदि में ही यह अव्यक्त उच्छ्वास है ऐसा दिखाई देता है। कवि या शिल्पी जव अपने काव्य वा शिल्प की सृष्टि करने के लिए उन्मुख होते है, तव भी उनके भीतर यह मौन उच्छ्वास पहले ही दिखाई देता है।

---

* श्रीमद्भगवद्गीता २.६९—अनुवादिका।

↑ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्ववीजम्—(योगसूत्र १.२५) अनुवादिका।

यह उच्छ्वास अभी तक किसी भाषा वा चित्र अथवा स्वर में अपने को प्रकट नहीं कर पाया है। बाहर की सृष्टि में भी यही घटित होते देखता हूँ। एक बीज पड़ा हुआ है, अभी भी उससे अङ्कुरोद्गम नहीं हुआ है। अङ्कुर उद्गम की सूचना जब होती है, तब बीज के भीतर सुप्त शक्ति जाग्रत हो कर अपने को बिखेर देना चाहती है। फलतः बीज स्फीत हो उठता है। जिस आवरण में उस बीज के विकास का प्रस्रवण अब तक रुद्ध था, वह आवरण मानो सहसा फट जाता है। बीज जब तक सो रहा था, तब तक बीज के पक्ष में वह 'रात्रि' थी। अङ्कुर के लिए जब वह फूट कर बाहर निकल पड़ता है तब बीज के भीतर जो अवस्था हम पाते हैं, वही है बीज के पक्ष में 'समुद्र'। यह समुद्र फिर दो प्रकार का है, एक है उस का उच्छ्वास रूप, दूसरा है उसकी चञ्चलता। बीज फिर चुप साधे नहीं रहेगा, वह अपना आवरण भंग कर के बाहर निकलेगा। अङ्कुरादिक्रम से, विचित्र विकास के पथ में अब वह यात्रा करेगा। यही है, उसका चञ्चल गतिरूप। इसी रूप की वैदिक परिभाषा है अर्णव। गत्यर्थक (अथवा ऋण्) धातु इस शब्द का बीज है। सुतरां 'समुद्र'—इस शब्द द्वारा उच्छ्वास वा उच्छूनता एवं 'अर्णव' इस शब्द द्वारा 'एजन' वा गति—ये दोनों दिशा हम एक साथ पाते हैं। मूल में रात्रि में उपादानभूत शक्ति-समूह की जो साम्यावस्था थी, अब तक उस साम्यावस्था में विसदृश परिणाम स्पष्ट नहीं हो पाया है। शक्तियाँ पिण्डावस्था से परस्पर भिन्न होना चाह कर भी अभी तक परस्पर के आलिङ्गन से मुक्त नहीं हो पाई हैं। रात्रि की अवस्था में शक्तिव्यूह का जो pattern वा आकृति थी, वह चञ्चल हो कर भी अब भी बनी रही है। इसी को 'सम्परिष्वक्त' अवस्था कहते हैं। यह अवस्था अव्यक्त हो कर भी फिर अव्यक्त नहीं है। अर्धनारीश्वर मूर्ति इस अवस्था का प्रतीक है। अव्यक्त एवं व्यक्त के बीच यह अवस्था आया करती है। जिस किसी कारण से क्रिया की उत्पत्ति होने जाय—यह सम्परिष्वक्त अवस्था अर्थात् वेद का 'समुद्रोऽर्णवः' अवश्य ही मिलेगा ॥७३॥

आविरिति तमश्छिद् या रात्रौ गम्भीरबाधता।
विद्युत्वत्यम्भसां रोधरूपतया च कल्पिता॥
मघवाऽमोघवज्रेण तां वारयति वृत्रहा ॥७४॥

अन्वय—तमश्छिद् (तमोहारी प्रकाश) आविरिति (आविः यह रूप है)

रात्रौ (रात्रि में) (उस की) **गम्भीरबाधता** (गम्भीर बाधरूपता) [विद्यमान रहती है] [वह गम्भीरबाधता] **विद्युत्वति** (मेघ में) **अम्भसां रोधरूपतया** (जल के रोध के रूप में) **कल्पिता** (कल्पित है) **वृत्रहा** (वृत्र का हनन करने वाले) **मघवा** (इन्द्र) **अमोघवज्रेण** (अपने कभी निष्फल न जोने वाले वज्र से) **तां** (उस रोधरूपता को) **वारयति** (समाप्त करते हैं)।

भाष्य - तमश्छिद् वा तमोहारी जो प्रकाश है वही आविः है। रात्रि में प्रकाश की एक गहन गम्भीर बाधरूपता विद्यमान रहती है। वेद के अनेक उपाख्यानों में मेघ में जल के रोध वा बाधा-रूप में यह कल्पित हुई है; अर्थात् मेघ हुआ है, विद्युत् की भी चमक देख रहा हूँ, किन्तु वृष्टि नहीं पड़ रही है। पता नहीं कौन मानो मेघ के जल-विन्दु को मिलित एवं भूतल पर पतित नहीं होने दे रहा है। इसी रोधरूपता को वेद ने अनेक स्थलों में 'वृत्र' यह आख्या दी है। इन्द्र अपने अमोघ वज्र द्वारा इस रोधिका शक्ति को विचूर्ण कर के वारिवर्षण की सम्भावना को घटित कर देते हैं। केवल मेघ के लिए नहीं, निखिल पदार्थ के विकास के आरम्भ में यह रोधरूप बाधा विद्यमान रहती है। हम आगे देखेंगे कि यह रोधरूप बाधा चतुर्विध है—देशनिमित्त (अवरोध), कालनिमित्त (प्रतिरोध), छन्दोनिमित्त (विरोध) एवं वस्तुनिमित्त (निरोध)। 'समुद्र'—इस अवस्था में यह चतुर्विध बाधा अभी भी रोध-रूप में पड़ी हुई है, किन्तु उस बाधा को विदूरित करने के निमित्त एक आवेग वा प्रयास भी मानो भीतर से फूट उठता है, इसी अवस्था का नाम उच्छ्वास वा उच्छूनता है ॥७४॥

क्रियामारभमाणे चार्णवे कलनवृत्तिता।
यया रूपायते विश्वं सृष्टिस्थितिलयक्रमात् ॥७५॥

अन्वय—**क्रियाम् आरभमाणे** (कालिक परिणाम-रूप क्रिया का आरम्भ करते हुए) **अर्णवे** (अर्णव में) **कलनवृत्तिता** (यह अभिनववृत्ति होती है), **यया** (जिस कलनवृत्ति से) **विश्वं** (समग्र ससार) **सृष्टिस्थितिलयक्रमात्** (सृष्टि-स्थिति-लय क्रम से) **रूपायते** (रूपायित होता हैं)।

भाष्य — उसके बाद 'समुद्र' जब 'अर्णव' हुआ, तब उसमें एक अभिनव-वृत्ति दिखाई दी। इसी वृत्ति को कहेंगे कलनवृत्ति। यही कालशक्ति है। यहाँ तक मूलतत्त्व का जो परिणाम है, वह काल को आश्रय करके नहीं है। वह अकाल बौद्ध परिणाम है। किन्तु 'अर्णव' अवस्था में कलनवृत्ति है, सुतरां

कालिक परिणाम आरम्भ होता है। इसके फलस्वरूप सृष्टि, स्थिति, लय क्रम में निखिल विश्व रूपायित हो जाता है ॥७५॥

सा आविर्भवति तस्या हिं संवत्सर इतीक्षणम्।
यतो द्वैतमहोरात्रं सूर्याचन्द्रमसौ पुनः ॥७६॥

अन्वय—सा (वह कलनवृत्तिता) आविर्भवति (आविर्भूत होती है), तस्याः हि संवत्सरः इति ईक्षणम् ('मैं संवत्सर बनूंगा' ऐसा उसका ईक्षण होता है) यतः (जिस संवत्सर से) द्वैतम् अहोरात्रं पुनः सूर्याचन्द्रमसौ (अहोरात्र और सूर्य-चन्द्रमा का युग्म उत्पन्न होता है)।

भाष्य—वह आदि कलनवृत्ति 'मैं संवत्सर हूँगा' इस रूप में ईक्षण करती है। उससे संवत्सररूप क्रमिक काल की उत्पत्ति होती है। अर्थात् काल का जो कलन है उसे अक्रमिक एवं क्रमिक—इन दो प्रकारों से समझना होगा। कला-काष्ठादि रूप में काल क्रमिक होने पर उसकी आख्या होती है संवत्सर। 'वत्सर' एवं 'संवत्सर'—इन दो शब्दों को हम मिला न दें। सृष्टिसूक्त में जो 'संवत्सर' शब्द है वह कलनवृत्ति का एक विशेष रूप है, यह हमें भूलना नहीं चाहिए। 'संवत्सर'—इस प्रकार के ईक्षण के बाद 'अहोरात्र' एवं उसके विधायक सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है। एक अनन्त क्रमिक कलन-धारा के बीच आवृत्ति वा बारी दिखाई दी। सब प्रकार की अनुक्रमिक गति वा rhythmic movement का बीज यहाँ है। स्थूल में, सूक्ष्म में—सर्वत्र। अब कालस्रोत केवलमात्र एक धारा नहीं है; यह धारा घूम फिर कर आती है। हिलती है, डोलती है, तरङ्गायित होती है, चक्रगति में किंवा शंखावृत्त गति में यह अपने को रूपायित करती है। इस प्रकार गति के लिए दो पक्षों एवं दो सीमाओं की आवश्यकता होती है। इसकी साधारण संज्ञा—'अहोरात्र' है एवं 'अहोरात्र' की गतिसीमा जिसके द्वारा निरूपित होती है उसकी साधारण संज्ञा है—'सूर्याचन्द्रमसौ'। कहना न होगा कि ये सब भी विश्व के मूलीभूत तत्त्व हैं; स्थूलभाव से समझने से नहीं चलेगा ॥७६॥

[गति-द्वैविध्य-निरूपणम्]

अहः शुक्लं क्षपा कृष्णा द्वे गती सर्ववृत्तिषु।
ऋचा साम्ना च कल्प्येते अर्केन्दू भर्गरोचिषी ॥७७॥

अन्वय—अहः (दिन) शुक्लं (शुक्ल रूप है) क्षपा (रात्रि) कृष्णा (कृष्ण है), सर्ववृत्तिषु (सकल पदार्थ की शक्तियों में) द्वे गती (ये दो गतियाँ

हैं), [ये दोनों] **ऋचा साम्ना च** (ऋक् और उद्गीथ द्वारा) **अर्केन्दू** (अर्क और इन्दु-रूप में) **भर्गरोचिषी** (भर्ग और रोचिः-रूप में) **कल्प्येते** (कल्पित होती हैं)।

भाष्य - पुनश्च अहः को शुक्ल एवं क्षपा को कृष्णा इस प्रकार अभिहित किया जाता है। सब पदार्थों की सब वृत्तियों में शुक्ल एवं कृष्ण—इन दो गतियों का अनुसन्धान करना होगा। एक प्रकाश और विकाश की ओर गति है, दूसरी विक्षेप और आवरण की ओर गति है। एक धन है, दूसरी ऋण है। ऋक् एवं साम – इन दोनों ने ऋक् एवं उद्गीथ के द्वारा अर्क एवं इन्दुरूप में एवं भर्ग और रोचिःरूप में इन दोनों की कल्पना की है।७७॥

[सवितृ-पूषतत्त्वम्]

सूयत ऋध्यते येन तेजो भुवननाभिषु।
सवितेति च तं विद्धि पूषेति भर्गरूपिणम् ॥७८॥

अन्वय—भुवननाभिषु (भुवन की नाभियों में) **येन** (जिसके द्वारा) **तेजः** (तेजः-शक्ति का) **सूयते ऋद्धयते च** (प्रसव और पुष्टि होती है) **तं भर्गरूपिणं** (उस भर्गरूपी देवता को) **सवितेति पूषेति** ('सविता' और 'पूषा') **विद्धि** (जानें)।

भाष्य—निखिल भुवन की नाभि में जो तेजःशक्ति रहती है, उस तेजः-शक्ति को जो प्रसव करता है और पोषण करता है, उसी साक्षात् भर्गरूपी देवता को सविता और पूषा कहकर जानें ॥७८॥

[विश्वचक्रनिरूपणम्]

निखिलनाभिनिष्ठेन सूर्यनारायणेन वै।
अरनेमिविभेदेन कल्पिता विश्वचक्रता ॥७९॥

अन्वय—निखिलनाभिनिष्ठेन (निखिल पदार्थ की नाभि में रहने वाले) **सूर्यनारायणेन** (भगवान् सूर्य ने) **अरनेमिविभेदेन** ('अर' और 'नेमि' इस प्रकार विभाग द्वारा) **विश्वचक्रता कल्पिता** (भुवनचक्र की कल्पना की है)।

भाष्य—निखिलपदार्थ की नाभि में रहने वाले भगवान् सूर्यनारायण ने अर और नेमि के विभाग द्वारा इस भुवनचक्र की कल्पना की है। अर्थात् स्वयं केन्द्र में अवस्थित होकर अर, नेमि, विस्तारपूर्वक यह भुवनचक्र बनाकर इसे धारण करके रखे हुए हैं और इसका पोषण करते हैं ॥७९॥

[सङ्कर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध-वासुदेव-तत्त्वम् श्लो० ८०-८३]

अणीयानणुतौकःसु महीयान् व्योमनीश्वरः।
सङ्कर्षणः स नोदेति नास्तमेति स्वरूपतः ॥८०॥

अन्वय—सः (वह) ईश्वरः (ईश्वर) अणुतौकःसु (क्षुद्रादपि क्षुद्र में) अणीयान् (अर्थात् और भी छोटा होकर अनुप्रविष्ट है)। व्योमनि महीयान् (महान् व्योम में महान् है)। (वह) सङ्कर्षणः (महासङ्कर्षण-रूप है) स्वरूपतः (स्वरूप से), (वह) न उदेति (न उदित होता है) (और) न अस्तमेति (न अस्त होता है)।

भाष्य—वे 'क्षुद्रादपि क्षुद्र' में क्षुद्रादपि क्षुद्र रूप में अनुप्रविष्ट हैं; और महत् से महान् जो व्योम है, उसमें महीयान् रूप में वे ईश्वर अथवा प्रभु हैं। इन्हें महासङ्कर्षण-रूप में समझें। परिदृश्यमान सूर्य की भाँति इनका स्वरूपतः उदय भी नहीं है, अस्त भी नहीं है ॥८०॥

नाभौ सङ्कर्षणोऽव्यान्नो नेमौ प्रद्युम्नविग्रहः।
अरेषु चानिरुद्धश्च वासुदेवो हि सर्वतः ॥८१॥

अन्वय—नाभौ (नाभि में) नः (हमारी) सङ्कर्षणः (सङ्कर्षण) अव्यात् (रक्षा करें), नेमौ (नेमि में) प्रद्युम्नविग्रहः (प्रद्युम्नरूप विग्रह वाले) च (और) अरेषु (अरों में) अनिरुद्धः (अनिरुद्ध हमारी रक्षा करें) सर्वतः (सर्व-भाव से या सभी ओर से) वासुदेवः (वासुदेव हमारी रक्षा करें)।

भाष्य—नाभि में संकर्षण हमारी रक्षा करें, नेमि में जो प्रद्युम्नविग्रह हैं, वह हमारी रक्षा करें, अरसमूह में अनिरुद्ध हमारी रक्षा करें और सर्वतः सब ओर सब प्रकार से वासुदेव हमारी रक्षा करें ॥८१॥

सङ्कर्षणञ्च कूर्माख्यं बिन्दुरूपमपि क्रमात्।
तौ प्रद्युम्नानिरुद्धौ च वराहमीनविग्रहौ ॥८२॥
विजानीयात् कलानादौ वासुदेवं परात्परम्।
बिन्दुनादकलात्मानं बिन्दुनादकलातिगम् ॥८३॥

अन्वय—सङ्कर्षणं (सङ्कर्षण को) कूर्माख्यं (कूर्म-रूप में) बिन्दुरूपं (बिन्दु-रूप में) अपि (भी) विजानीयात् (जानें); तौ प्रद्युम्नानिरुद्धौ (उन प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को) वराहमीनविग्रहौ (वराह और मीन रूप में) कलानादौ (कला और नादरूप में) च (और) परात्परं वासुदेवं (परात्पर वासुदेव को)

बिन्दुनादकलात्मानं बिन्दुनादकलातिगं (विन्दुनादकलात्मा एवं विन्दुनादकलातिग रूप में) [समझें] ॥

भाष्य—पुनश्च, सङ्कर्षण को विन्दुरूप में और कूर्म्मरूप में समझें, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को कला-नाद रूप और वराह-मीन रूप नें समझें, एवं परात्पर वासुदेव को विन्दुनादकलात्मा एवं विन्दुनादकलातीत इन दोनों रूपों में समझें ॥८२-८३॥

[चक्रगत-नेमि-नाभि-अर-निरूपणम् श्लो० ८४-८७]

कलारूपतया नेमिर्विदधाना क्षयोदयौ ।
नाभेररागतानंशूंश्चिन्वाना केन छन्दसा ॥८४॥

अन्वय- कलारूपतया (कलारूपतावशत:) [सकल पदार्थ के] क्षयोदयौ (क्षय-उदय) विदधाना (करती हुई) नेमि: (नेमि) नाभे: (नाभिकेन्द्र से) अरागतान् अंशून् (अरागत, विकीर्ण किरणों को) केन (किस) छन्दसा (छन्दस् द्वारा) चिन्वाना (रख लेतो हुई, होती है) ॥

भाष्य—नेमि कला-रूपता-वशत: सभी पदार्थों का क्षय और उदय-विधान करती रहती हैं, अर्थात् सकल पदार्थ का क्षय एवं उदय हुआ करता है, इसी कारण उन की जो आकृति और अवयव हैं वे कलाधर्मी हैं, उनको कला है, इसीलिये उनका क्षय और पूरण-रूप परिवर्तन-धर्म भी है, किन्तु नाभि समस्त तेजस् और शक्ति का भाण्डार है। नाभिकेन्द्र से ही शक्ति इतस्तत: विच्छुरित होती है। जिन सब व्यवस्थित रेखाओं में नाभिकेन्द्र से शक्ति-रश्मि-समूह का विकिरण होता है उन्हें कहते हैं अर। सुतरां प्रश्न उठता है कि नाभिकेन्द्र से जो रश्मिसमूह (radiations) विकीर्ण हो रहे हैं, उन सब को कलात्मक नेमि किस छन्दस् द्वारा अपने क्षय और प्रतिष्ठा के लिए चुन लेती हैं ? ॥८४॥

पुष्णात्यन्नञ्च सर्वस्मै यदोषध्युपलक्षणम् ।
सोम गतागतिचक्रं विभर्ति क्षयपूरणात् ॥८५॥

अन्वय—यत् (जो, छन्दस्) क्षयपूरणात् (भुवनचक्र के क्षय के पूरणार्थ) गतागतिचक्रं (गतागति के चक्र को) विभर्ति (धारण करता है), सर्वस्मै (सब के लिए) अन्नं (अन्न का) पुष्णाति (पोषण करता है) [वह] सोम (सोम है), ओषध्युपलक्षणम् (ओषधि एक उसका उपलक्षण है) ॥

भाष्य—परा जाति-भाव में देखने पर वह छन्दः द्विविध है—सोमच्छन्दः एवं अग्निच्छन्दः। इस विराट् गतागति-रूप भुवनचक्र के क्षय के पूरणार्थ जो छन्दः (जड़, उद्भिद्, चेतन) सब के लिये 'अन्न' का पोषण करता है, उसे सोम समझें; 'ओषधि' उसका एक उपलक्षण है ॥८५॥

नेमिवृत्त्या पराग्वृत्तिरावृत्तिर्धूमयानतः।
नाभावर्कं तु विध्येतार्चिरादिना य ईयिषुः ॥८६॥

अन्वय—[इस गतागति-चक्र की] नेमिवृत्त्या (नेमि वा परिधि से वृत्ति के चलने पर वह) पराग्वृत्तिः, (है), (उस के फलस्वरूप) धूमयानतः (धूमयान द्वारा) आवृत्तिः (पुनः पुनः आवर्तन होता है)। यः (जो व्यक्ति) अर्चिरादिना (अर्चिरादि मार्ग में) ईयिषुः (चलना चाहता है) [उसे] नाभौ (नाभि में) अर्कं तु विध्येत (अर्क का भेद करना होता है)॥

भाष्य - (कहना न होगा कि अग्निच्छन्दः द्वारा सब कुछ का दहन, पचन, क्षरण होता है। हम देखेंगे कि इसके कालाग्निरुद्र प्रभृति विविध-क्रियात्मक विविध रूप होते हैं। वस्तुतः, निखिल पदार्थ के अङ्गसमूह को रूपायित किए हुए हैं—अग्नि-रूप,—पृथुलेख, तनुलेख, अणुलेख, चाहे जिस प्रकार हम देखें)।

इस महा-गतागति-चक्र की नेमि ('नी' धातु) वा परिधि से ही यदि वृत्ति चलती हो तब वह पराग्वृत्ति है। उसके फलस्वरूप, धूमयान द्वारा पुनः पुनः आवृत्ति ही होती है। इस चलती चक्की के घूर्णन और पेषण से छुटकारा नहीं मिलता, किन्तु इस निरन्तर आवर्त्तन को समाप्त करने के निमित्त जो अर्चिरादि-मार्ग में चलने के इच्छुक हैं, उन्हें प्रत्यग्वृत्ति का आश्रय कर के भुवन की नाभि (Nucleus) में जो (काल और यम रूप में) अर्क स्थित हैं, उन्हें ही भेद कर के जाना होगा। चक्र की नाभि के भीतर से ही वह क्षुर की धार की भाँति निशित पथ है ॥८६॥

भूरिति नेमिता ज्ञेया ह्यरतेति भुवर्मता।
नाभिता स्वरितीत्थञ्च सर्गे कल्पितचक्रता ॥८७॥

अन्वय—भूरिति ('भूः' यह) नेमिता ज्ञेया (नेमिता जाननी चाहिये), भुवः हि,—(भुवः यह) अरता मता (अरता मानी गई है) स्वः इति ('स्वः' यह) नाभिता, (है) इत्थं (इस प्रकार) सर्गे (सृष्टि में) चक्रता कल्पिता (चक्रता बनी है)॥

भाष्य—'भूः' यह 'नेमिता' है, 'भुवः' यह अरता है, 'स्वः' यह 'नाभिता' है—इस रूप से स्थूल-सूक्ष्म, व्यष्टिसमष्टि इत्यादि समस्त सर्ग की चक्रता कल्पित हुई है, ऐसा समझना होगा ॥८७॥

[चक्रस्य शङ्खावृत्ति-निरूपणम् श्लो० ८८-९०]

नाभिनेमिक्रिया-शक्तितरतमतया पुनः ।
अराणामन्तरीक्षस्य संस्थाविशेषभावनात् ॥
सप्तव्याहृतिभिश्चक्रे शङ्खावृत्तेन वृत्तिता ८८॥

अन्वय—पुनः (फिर) नाभिनेमिक्रियाशक्तितरतमतया (नाभिशक्ति और नेमिशक्ति में क्रिया की तरतमता—कमी व वेशी से) अराणां (अरों के) अन्तरीक्षस्य (अन्तरीक्ष के) संस्थाविशेषभावनात् (संस्थाविशेष की भावना से) सप्तव्याहृतिभिः (भूः आदि सप्तव्याहृतियों से) शङ्खावृत्तेन (शङ्खावर्त्त भङ्गी से) चक्रे (चक्र में) वृत्तिता (गति है) ॥

भाष्य—नाभि में स्वः, नेमि में भूः—उभयत्र शक्ति है। नाभि में शक्ति का घन (कारक) रूप, नेमि में वितत (क्रिया) रूप है। यह नाभि-शक्ति (nuclear evolving power) एवं नेमिशक्ति (revolving power) सर्वत्र एक दूसरे के साथ एक ही अनुपात नहीं रखतीं, अनुपात में तरतमता रहती है। इस कारण से 'चक्र' स्थिर (stable) नहीं है, सङ्कोच-विकास-धर्मी है। चक्र की जो वर्तमान संस्था (configuration scheme) है, उसका निरूपक (determinant) है 'अन्तरीक्ष'=अर=देश-कालादिगत व्यवधान (time-space-power-interval)। यह व्यवधान वा संस्था-नियामक जो अन्तरिक्ष वा अरसमूह हैं, वे सब जब भूः, भुवः, स्वः, महः जन, तपः, सत्य—इन सप्त व्याहृतियों द्वारा 'रूपायित' होते हैं तब चक्र की जो विशेष भङ्गी होती है, उसे कहते हैं, शङ्खावृत्तभङ्गी। सुतरां तब चक्र की वृत्तिता शंखावृत्त-वृत्तिता (Movement in accordance with spiral pattern) का आकार धारण करती है ॥८८॥

शङ्खावृत्तेर्धुरं विद्धयक्षरूपामूर्ध्वगां पुनः ।
सौषुम्णमार्गमित्येवं चक्रभृद् विरजा यतः ॥८९॥

अन्वय—पुनः (फिर) शङ्खावृत्तेः (शङ्खावृत्ति की) धुरं (धुरी को) अक्षरूपां (अक्षरूपा) [एवं] ऊर्ध्वगां (ऊर्ध्व में गमन करने वाली) विद्धि (समझो), [निखिल पदार्थ में] सौषुम्णमार्गं (सौषुम्णमार्ग को) विद्धि (समझो)

इत्येवं (इस प्रकार, इसके फलस्वरूप) चक्रभिद् (चक्र को भेदन करने वाला) विरजाः (रजोरहित) (होता है) ॥

भाष्य—शङ्खावृत्ति में जो धुरी है, उसे 'ऊर्ध्वग अक्ष' (axis of ascent) के रूप में समझना होगा। 'निखिल पदार्थ में इस 'सौषुम्ण मार्ग' के आश्रय से ही पदार्थ की वस्तु एवं शक्ति (matter and momentum) की नैसर्गिक जड़ता (inertia) दूर होने पर अभ्युदय और विवर्तन (evolution and emergence) सम्भव होता है ॥८९॥

अकारश्चक्ररूपः स्यान्मकारे शङ्खरूपता ।
उकारेणाक्षसूत्रेण चक्रं शङ्खायतेऽञ्जसा ॥९०॥

अन्वय—अकारः (प्रणव का अकार) चक्ररूपः (चक्ररूप) स्यात् (होता है), मकारे (मकार में) शङ्खरूपता (होती है) अक्षसूत्रेण (मध्य में रहने वाले अक्षरूप) उकारेण (उकार से) चक्रं (चक्र) अञ्जसा (शीघ्र) शङ्खायते (शङ्ख रूप में परिणत होता है) ॥

भाष्य—चक्र शङ्खाकार में सत्वर किस रूप में रूपायित होगा? प्रणव ही उसका मुख्य साधन है। प्रणव के 'अकार' में चक्ररूपता है एवं 'म'कार में शङ्खरूपता है; मध्य में जो 'उ'कार है, वह है अक्ष। इस 'उ'कार-रूप अक्ष के आश्रय में ही जो चक्ररूप है, उसे शङ्खरूप में परिणत करना होगा ॥९०॥

[शङ्खस्य कमल-गदारूपेणाभिव्यक्तिः]

शङ्खत्वे नादताव्यक्तिः शङ्खोऽपि कमलायते ।
नादबिन्दुकलात्वेन भूयस्या गदया गिरा ॥९१॥

अन्वय—शङ्खत्वे (चक्र के शङ्खायमान होने पर) नादताव्यक्तिः (नादता की अभिव्यक्ति) (होती है), शङ्खः अपि (शङ्ख भी) कमलायते (कमल के रूप में विवर्तित होता है) नादबिन्दु-कलात्वेन भूयस्या गदया गिरा (शङ्ख फिर गदारूप में भी वितर्तित होता है। गदा अव्यक्त परा वाक् है, जिसमें नाद-बिन्दु-कला का लय होता है) ॥

भाष्य—चक्र जब शङ्खायमान होता है, तब नाद की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। जब तक प्रणव अथवा अन्य किसी बीजमन्त्र की चक्रावृत्तिमात्र होती रहती है, तब तक नाद का अनुसन्धान नहीं होता। प्रणव का 'अ'कार, 'उ'कार 'म'कार—इन तीनों मात्राओं की आवृत्ति हम करते जा रहे हैं; किन्तु

इनके सृष्टि-स्थिति-लय का मूलाधार-स्वरूप जो नाद हैं, वह हम पर कृपा नहीं कर रहा है, जपादि के फल-स्वरूप जब आवृत्तिचक्र फिर चक्र न रह कर शङ्खाकार में ऊर्ध्वंग अक्षाश्रय लाभ करता है, तब नाद की कृपा हमें प्राप्त होती है। तब संख्या-जप शङ्खावर्त्त जप में परिणत होता है। पुनश्च, शङ्ख फिर गदा एवं पद्म—इन दो भावों में विवर्तित होता है। इस विवर्तन के फल-स्वरूप मन्त्र नाद-विन्दु-कला इन तीन स्वरूपों में एवं इन तीन स्वरूपों के अतीत रूप में भी निरतिशय प्रकाश को प्राप्त होते हैं। कमलरूप में नाद-बिन्दु-कला का पूर्ण विकास है, एवं गदारूप में परम अव्यक्त जो परा वाक् है उसमें ही नाद-विन्दु-कला का लय होता है। प्रणवादि वीजमन्त्र के साधन में श्रीहरि एव श्रीगणपति के हस्त में चक्र, शङ्ख, पद्म एवं गदा को इस रहस्य के रूप में हमें देखना होगा ॥९१॥

[अक्षर-खग-वर्णनम् श्लो० ९२-९४]

एकायनो द्विपक्षश्च त्रिशिरास्त्रिरुतः खगः।
त्रिनेत्रश्च चतुष्पाद् यश्चतुर्नागाशनो बली ॥९२॥
हिरण्यपुच्छपञ्चभ्यः पञ्चगङ्गाम्बुगोमुखः।
षडूर्मिशमनच्छन्दाः षड्योगैः कृत्स्नकामधुक् ॥९३॥
सप्तधामसु सप्तान्नो गायति मान्त्रवर्णिकः।
अभ्यारोहयतीत्यस्मात् क्षरादक्षर उच्यते ॥९४॥

अन्वय—(एक रहस्यमय खग की वात) **एकायनः** (एक-लक्ष्याभिमुख गति वाला), **द्विपक्षः** (दो पक्षों वाला), **त्रिशिराः** (तीन शिर वाला), **त्रिरुतः** (तीन रव वाला), **त्रिनेत्रः** (तीन नेत्र वाला), **चतुष्पात्** (चार पैरों वाला), **चतुर्नागाशनः** (चार नाग-रूपी वाधाओं का नाश करने वाला), **बली**, **हिरण्यपुच्छपञ्चभ्यः** (हिरणमय पाँच पुच्छों से शोभित), **पञ्चगङ्गाम्बुगोमुखः** (संग्रहादि पञ्च गङ्गाजल को गोमुख से प्रवाहित करने वाला), **षडूर्मिशमनच्छन्दाः** (छन्द द्वारा छः ऊर्मियों का शमन करने वाला) **षड्योगैः** (क्रिया आदि छः योगों से) **कृत्स्नकामधुक्** (समस्त इष्टकामदोहन करने वाला) **सप्तधामसु** (सात लोकों में) **सप्तान्नः** (सात अन्नों को ग्रहण करने वाला है); [यह] **मान्त्रवर्णिकः** (मन्त्रवर्ण-रूप से) **गायति** (उद्गीथ रूप में गाता है); [यह] **क्षरात्** (क्षर से) **अभि+आरोहयति** (आरोहण करता है) **इति अस्मात्** (इसीसे) [यह खग] **अक्षर उच्यते** (अक्षर कहा जाता है)।

भाष्य अब एक रहस्यमय खग (पक्षी) की बात कही जाती है। वे खगेन्द्र एकायन हैं, अर्थात् उनकी गति एकलक्ष्याभिमुख ही है। और वे द्विपक्ष हैं —वाक् और प्राण, अथवा प्राण और अपान, अथवा शुक्ल और कृष्ण—ये उनके दो पक्ष हैं। उनके तीन शिर एवं तीन 'रुत' वा रव हैं। तीन शिर हैं : नाद, विन्दु, कला (अथवा भूः, भुवः, स्वः); तीन रव हैं :—वाचिक, उपांशु, मानस (अथवा अ, उ, म्)। वे त्रिनेत्र हैं—बहिःप्रज्ञा (जाग्रत्), अन्तःप्रज्ञा+घनप्रज्ञा (मननादि, स्वप्न, सुषुप्ति) एवं अनिर्वाणप्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञान एवं तुरीय)। वे चतुष्पात् हैं - मात्रा-त्रय एवं अर्धमात्र-अमात्र, अथवा वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा-रूप में। वे महाबली हैं, चार नागों का भक्षण करते हैं। चार नाग हैं - अवरोध, प्रतिरोध, विरोध और निरोध। ये चारों (देशादिनिमित्त) बाधाएँ हैं। हिरण्मय पञ्च पुच्छों द्वारा ये शोभित हैं। पूर्वोक्त पञ्च शुद्धियों को इनकी पञ्चपुच्छा (प्रतिष्ठा) समझ सकते हैं। ये अपने गोमुख (गो=वाक्) द्वारा पूर्वोक्त संग्रहाख्यादि पञ्च गङ्गाजल को विश्वजीवों के श्रेयः एवं प्रेयः के निमित्त समन्तात् प्रवाहित करते हैं। इनकी गति-स्थिति-लयादि का जो छन्द है, उसके द्वारा अविद्यादि पञ्चक्लेश एवं उनका विपाक—इन षडूर्मियों का प्रशमन होता है। क्रिया, स्मृति, अनुस्मृति, ध्यान, अनुध्यान एवं (ध्रुवलम्भजनित) सम्भाव्य-भावन—इस षड्योग द्वारा निखिल इष्टकाम-दोहन करने में ये समर्थ हैं। भूः, भुवः, स्वः प्रभृति सप्त 'लोक' (अथवा वाक् और जीव—इन दोनों के अन्तर्भाव में अन्नादि सप्त 'कोष') इनके सप्तधाम हैं। इन सप्तधामों में ये सप्त 'अन्न' (स्थूल, तनुस्थूल, अणुस्थूल, सूक्ष्म, तनुसूक्ष्म, अणुसूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म वा परम—ये सात) ग्रहण करते हैं। ये मन्त्रवर्णसमूह द्वारा 'गायति' अर्थात् उद्गीथ के रूप में (स्वरादि की सहायता से) मन्त्रवर्ण गाये जाते हैं। क्योंकि 'क्षर' (असत्, तमः एवं मृत्यु) से अक्षर में (सत्, ज्योतिः, अमृत में) आरोहण इनके द्वारा होता है, इसलिए यह रहस्यविग्रह खग 'अक्षर' नाम से अभिहित है ॥९२-९४॥

[आदिपुरुष-स्तुतिः]

योगस्वापं पुमान् यः प्रलयजलनिधौ मायया सेवमानः
शेते यः पद्मनाभोऽवति निखिलसृजां वेदवाचां निवासम्।
जागर्त्त्वेष प्रसन्नः प्रभवतु हृदि वः शुद्धसत्त्वोर्जितौजा
घोरं मूढं सपत्नं सपदि निरसयन् वाग्भवैरिध्यमानः ॥९५॥

अन्वय - **यः पुमान्** (जो आदि पुरुष) **प्रलयजलनिधौ** (प्रलयसमुद्र में) **मायया** (अपनी मायाशक्ति से) **योगस्वापं** (योगनिद्रा का) **सेवमानः** (सेवन करते हुए) **शेते** (शयन करते हैं) **यः पद्मनाभः** (जो पद्म-नाभि वाले) **निखिलसृजां** (सकल की सृष्टि करने वाली) **वेदवाचां** (वेदवाणी के) **निवासं** (निवासरूप प्रजापति ब्रह्मा की) **अवति** (रक्षा करते हैं) **एषः** (ये), **प्रसन्नः**, **शुद्धसत्त्वोर्जितौजाः** (शुद्ध सत्त्वमय तेज से सम्पन्न वपु वाले) **वः** (आप लोगों के) **हृदि** (हृदय में) **घोरं, मूढं, सपत्नं** (मधु-कैटभ — इन शत्रुद्वय को) **सपदि** (शीघ्र) **निरसयन्** (निवारण करते हुए) **वाग्भवैः इध्यमानः** (वाग्भव वीज द्वारा सम्यक् प्रदीप्त-चैतन्य होकर) **प्रभवतु** (अपना प्रभाव विस्तार करें)।।९५।।

भाष्य—जो आदिपुरुष अपनी अचिन्त्य मायाशक्ति से प्रलयपयोधि-जल में योगनिद्रा का आश्रय लेकर शयन करते हैं, जो पद्मनाभिरूप से, निखिल पदार्थ का सृष्टि-बीज जो वेदवाणी है, उस वेदवाणी के जो निवास हैं, उनकी (अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा की) रक्षा करते हैं, वही **'शुद्धसत्त्वोर्जितवपुः उत्तमौजाः'** नारायण तुम्हारे हृदय में भी (योगनिद्रा से) जागृत हों एवं 'ऐं' इस वाग्भववीज के द्वारा सम्यक् प्रदीप्तचैतन्य होकर तुम्हारे घोर एवं मूढ़ (मधु और कैटभ) ये जो चिरशत्रु हैं, उन दोनों का शीघ्र ही निरसन करके अपने प्रसन्न प्रभाव का विस्तार करें ।।९५।।

[श्रीराम-कृष्ण-स्तुतिः]

कालिन्दीरोधसीशो ललितसुरगिरां वेणुगीतैर्हरिर्यैः
शैलान् विद्रावयंस्तैः प्रकटयति परां वाचमोङ्कारयोनिम् ।
सम्यक् सन्धानशूरो गमयति निधनं राघवो यो दशास्यं
प्रत्यक्चैतन्यमूर्ती वचसि विहरतामत्र तौ रामकृष्णौ ।।९६।।

अन्वय—**ललितसुरगिराम् ईशः** (ललित सुरलहरी के प्रभु) **यः हरिः** (जो हरि) **कालिन्दीरोधसि** (कालिन्दी-यमुना के पुलिन पर) **तैः** (उस) **वेणुगीतैः** (वेणुसङ्गीत से) **शैलान्** (शैल-समूह को, और) **ओङ्कारयोनिम्** (ओङ्कार की योनि) **परां वाचं** (परा वाक् को) **प्रकटयति** (प्रकटित करते हैं, और) **सम्यक् सन्धानशूरः** (सम्यक् शरसन्धान में निपुण) **यः** (जो हरि) **राघवः** (राघव रूप में) **दशास्यं** (रावण को) **निधनं गमयति** (समाप्त करते हैं) **तौ** (वे दोनों) **प्रत्यक् चैतन्यमूर्ती** (साक्षात् चैतन्यस्वरूप) **रामकृष्णौ** (राम और कृष्ण) **अत्र** (यहाँ, मेरे) **वचसि** (वचन में) **विहरताम्** (विहार करें) ।।९६।।

भाष्य—ललित सुर-लहरी के प्रभु जो हरि कालिन्दी-पुलिन पर अपने वेणुसङ्गीत से शैलसमूह को भी विगलित करते हैं एवं ओङ्कार की योनि जो परा वाक् है उसे सम्यक् प्रकटित (और लीलायित) करते हैं; और जो रघुपति राघव रूप में सम्यक् सन्धाननिपुण शर द्वारा दशानन का निधन करते हैं, वे दोनों साक्षात् चैतन्यमूर्त्तियाँ—राम और कृष्ण हमारे इस वाक्य में विहार करें ॥९६॥

[श्रीगणेश-स्तुतिः श्लो० ९७-९९]

स्फारास्यं ब्रह्मसूक्तं प्रमितिरुतिरदं सम्यगुद्गीथशुण्डं
द्वे विद्ये यत्र नेत्रे विशदपरिचयापास्ततामिस्रभालम् ।
मन्त्रं वक्षश्च पार्श्वौ यतिततिकुशलौ दोष ऋष्यादयश्च
मात्राद्यैस्ते समाढ्याः सकलमखतनुं नौमि सिद्ध्यृद्धिपादम् ॥९७॥

अन्वय—स्फारास्यं ब्रह्मसूक्तं (स्फार या नादमय ब्रह्मसूक्त या वेद उन गणपति का मुख है) प्रमितिरुतिरदं (प्रमिति या प्रकृष्ट ज्ञानरूप 'रुति' वा 'शब्द' उन का दन्त है) सम्यगुद्गीथशुण्डं (सम्यक् रूप में निष्पन्न उद्गीथ उन का शुण्ड है) द्वे विद्ये (परा और अपरा रूप दो विद्याएँ) यत्र नेत्रे (उन के नेत्र हैं) विशदपरिचयापास्ततामिस्रभालं (दो विद्याओं के विशेष ज्ञान के फल-स्वरूप तमिस्रा या अज्ञानान्धकार के हट जाने से उन का भाल विशद या उज्ज्वल है), मन्त्रं वक्षश्च (और उन का वक्षोदेश है मन्त्र), यति-तति-कुशलौ (यति और तति या यन्त्र और तन्त्र में कुशलता ही) पार्श्वौ (उन के दोनों पार्श्व हैं)। ऋष्यादयः च (और ऋषि आदि चार) दोषः (उन की भुजाएँ हैं) ते (वे उन की भुजाएँ) मात्राद्यैः (मात्रा आदि से) समाढ्याः (सम्पन्न हैं) सकलमखतनुं (उन का शरीर सकल यज्ञमय है) सिद्ध्यृद्धिपादम् (सिद्धि और ऋद्धि उन के चरण हैं) [ऐसे गणेश को) नौमि (नमस्कार करता हूँ) ॥९७॥

भाष्य श्रीगणपति की मूर्त्ति वहुत रहस्यमय है, इसलिए यहाँ प्रथमतः उन के प्रत्येक अङ्ग का—मस्तक से पाद-पर्यन्त सकल अङ्गों का तात्पर्य समझने का यत्न किया जाता है।

श्रीगणेश हैं ज्ञान-विज्ञान के आदि-प्रवर्त्तक। इसीलिए उन के मुख-कमल में साक्षात् वेद-वाणी प्रकटित है। 'स्फार' वा नादमयी जो 'श्रुति' वा 'ब्रह्म' हैं उसी श्रुति वा वेद का 'सूक्त' वा मन्त्र ही है गणपति का वक्त्र, अर्थात् उन का वदन-कमल मानो वेदकमल की प्रकट मूर्त्ति है।

उसके वाद, उनका 'रद' या दन्त किसे समझाता है? 'प्रमिति' वा प्रकृष्ट ज्ञान वा यथार्थ ज्ञानरूप जो 'रुति' वा शब्द है, वही उन का दन्त है। 'सम्यक्' वा यथायथभाव में निष्पन्न जो 'उद्गीथ' वा छान्दोग्य-उपनिषदुक्त जो उद्गान है, वही उन का शुण्ड है। इसी शुण्ड द्वारा ही ऊर्ध्व में उत्तोलन रूप उद्गीथ-क्रियादि सूचित होते हैं। उसी से वे शुण्डधारी हैं। उस के वाद उनके दोनों नेत्रों पर दृष्टि डालने से समझ में आता है कि दो विद्याएँ अर्थात् परा एवं अपरा-रूप उपनिषदुक्त उन के दोनों नेत्र हैं। कोई ज्ञान वा कोई विद्या – वह जागतिक ज्ञान हो या पारमार्थिक ज्ञान हो—जो उन की दृष्टि से वहिर्भूत नहीं है, उसे जनाने के लिए मानो उन्होंने अपनी नयन-ज्योति से दोनों विद्याओं को प्रकट कर के रखा है।

श्रीगणेश का ललाटदेश शुभ्र-समुज्ज्वल है, यद्यपि उन का समग्र वदन रक्तवर्ण है। यह प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त द्विविध विद्या से ही उन का विशद वा सम्यक् परिचय है। इस सम्यक् परिचय व विज्ञान के अभाव में ही नारद शोक के एवं तमस् के पार नहीं जा सके थे, इसीलिए वे गुरु सनत्कुमार के शरणागत हुए थे, **तमसः पारं दर्शयति'*** किन्तु गणेश का समुज्ज्वल ललाट ही बताता है कि उन्हें इस द्विविध विद्या में केवल सामान्य ज्ञान ही नहीं, विशेषज्ञान वा विज्ञान भी है एवं उसके फलस्वरूप अर्थात् इस विशद परिचय के लिए ही समस्त तमिस्रा वा अज्ञान अन्धकार अपगत वा अपास्त हो गया है। इसीलिए विज्ञानभाति में ललाटदेश समुज्ज्वल है, प्रतिभा की छटा में भास्वर है।

उन का वक्षोदेश वा हृदयदेश ही है मन्त्र। श्रीगणेश का मर्मस्थल ही है मन्त्र एवं 'यति' और 'तति' अर्थात् यन्त्र और तन्त्र में जो कुशलता है, वही उन के दोनों पार्श्वदेश हैं सुतरां मध्यस्थल में मन्त्र एवं दोनों पार्श्व में यन्त्र और तन्त्र इस रूप से वे मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र की सम्मिलित मूर्ति हैं।

और उन के 'दोषः' अर्थात् चारों भुजाएँ हैं– ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग। मन्त्र जिस प्रकार उन का मर्म्मस्थल है, उसी प्रकार मन्त्र की यथायथ प्रयोगविधि जनाने के लिए उन की चार भुजाएँ मन्त्र के चार अपरिहार्य अङ्गों को बताती हैं।

---

* छान्दोग्योपनिषत् ७।२६।२—अनुवादिका

इन चारों भुजाओं में वे धारण करते हैं मात्रा, पाद, कला और काष्ठा। छन्दोरूप हस्त में उन की मात्रा, विनियोगरूप हस्त में पाद, ऋषिरूप हस्त में कला एवं देवतारूप हस्त में काष्ठा है। इस प्रकार उन के चार हाथ मात्रादि द्वारा 'समाढ्य' वा समृद्ध हैं।

और उन की समस्त तनु या देह ही यज्ञमय है; वे 'सकलमखतनु' हैं। सकल यज्ञ अर्थात् गीतोक्त द्रव्य-यज्ञ से आरम्भ कर के ब्रह्मयज्ञ-पर्यन्त द्वादश प्रकार के यज्ञ ही उन का शरीर-निर्माण करते हैं। उनकी देह का सिन्दूर वर्ण इस यज्ञाग्नि के वर्ण—रक्तवर्ण को ही बताता है।

श्रीगणेश के चरणयुगल ऋद्धि और सिद्धि हैं। अभ्युदय और निःश्रेयस् सभी उन के दोनों चरणों पर आश्रित हैं; ऐसे श्रीगणेश को नमस्कार है ॥९७॥

व्यूहं जिह्मं व्यदारीदृतचरितदता दन्तियूथेशतुण्डो
व्यामोहं च व्यतर्दीद् व्यसनपरिकरं तूर्णमोङ्कारशुण्डः।
नादस्पन्दस्फुरत्ताऽरुणरुचिरतनुः स्विन्नबिन्द्वच्छमौलि-
र्मात्राक्लृप्तैः स दोर्भिर्जयतु गणपतिस्तुर्यपश्यद्द्विनेत्रः ॥९८॥

अन्वय—ऋतचरितदता (ऋत-सत्य आचरण के दन्त द्वारा) जिह्मं (जटिल) व्यूहं (विघ्न-बाधा को) (जो गणपति) व्यदारीत् (विदीर्ण करते हैं) दन्तियूथेशतुण्डः (गजयूथपति के मुख वाले) (एवं) ओङ्कारशुण्डः (ओङ्काररूपी शुण्ड वाले) [वे] तूर्णं (शीघ्र) व्यसनपरिकरं (व्यसन से घिरे) व्यामोहं (व्यामोह को) व्यतर्दीत् (निरसन करते है)। नादस्पन्दस्फुरत्ताऽरुणरुचिरतनुः (नाद-रूप मूलस्पन्द के स्फुरण-रूप रक्तिम अङ्गराग से युक्त शरीर वाले) स्विन्नबिन्द्वच्छमौलिः (जिनके शुभ्र भाल पर 'अघटनघटन' रूप स्वेद-बिन्दु केन्द्रीण शक्ति के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है) तुर्यपश्यद्-द्विनेत्रः ('तुर्य' और 'पश्यद्' रूप दो नेत्रों वाले) मात्राक्लृप्तैः दोर्भिः (चार मात्राओं की भुजाओं से युक्त) स गणपतिः जयतु (वे गणपति जययुक्त हों)।

भाष्य—गणपति की इस रहस्यमूर्ति की प्रकारान्तर से भावना करें। मातङ्गयूथपति अरण्य में विचरण-काल में वृक्ष-लतादिनिर्मित दुर्गम व्यूह को भी अवलीला-क्रम से विदीर्ण करके अग्रसर होता है; और रणस्थल में शत्रुरचित जटिल दुर्भेद्य व्यूह को भी विदीर्ण करने में समर्थ है। उसी प्रकार जीवन के अन्तर्बहिः निखिल बाधा-विघ्न जिस समय व्यूह-रचना करके अपने दुश्छेद्य

कौटिल्यपाश में उसे अवरुद्ध करके उसकी अग्रगति को व्याहत करते हैं, तब दन्ति-यूथपति की भाँति ही अपने (असीम शौर्य-समन्वित) वक्त्र से (एक परमाद्भुत) दन्त विस्तार करके वे उस व्यूह को समूल विनष्ट करते हैं। (इससे पहले उन्होंने वही किया था, सुतरां वर्तमान में एवं भविष्य में भी वही करेंगे—यह निःसन्दिग्ध है। क्रिया में अतीत काल का प्रयोग यह सूचित करता है — † 'यदा यदा महाबाधा दानवोत्था भविष्यति'—इत्यादि)। अच्छा, उनके इस परम रहस्यमय दन्त से क्या समझना होगा? समझेंगे—ऋतचरित —वाक्-काय मन का जो ऋजु, सत्य आचरण है वही अर्थात् वागादि कुटिल (जिह्म), अनृत अध्व का परिहार कर के ऋजु, ऋत जो अध्व है, उसका अनुसरण करने में जिस श्रेयोवीर्य द्वारा समर्थ होते हैं, वही है श्रीगणपति का दन्त। (दम्=दमन, control, 'त'कार' द्वारा विदित होता है अमृत=अभ्युदय, निःश्रेयस्)। सुतरां जिसके द्वारा हमारे इस working apparatus के disharmony curvature and function नियन्त्रित होकर harmonic rectitude and harmonic function में रूपायित होते हैं, वही है दन्त—rectifying, harmonising factor)। इसीलिए न श्रुति ने साधन के आरम्भ में ही प्रार्थना की है 'ऋत से, सत्य से हम भ्रष्ट न हों'! सकल साधना के मूल में यह ऋतान्वय, यह सत्यनिष्ठा है। अच्छा, दन्त क्या एक है, या दो हैं अथवा वहुत हैं? दन्त एक ही है—व्यवसायात्मिका वुद्धि जैसे एक ही होती है,* ऋतान्वय वा ऋतचरित भी एक ही होता है। उसमें संशय की 'दोला' एवं विकल्प का 'जंजाल'—ये दोनों ही नहीं रहते। A straight, unswerving singleness of purpose and pursuit (साधन में ऐकान्तिकी अचल निष्ठा) चाहिए ही।

अशुभ वा अन्तराय मुख्यतः दो रूपों में आकर उपस्थित होते हैं—व्यूह और व्यामोह। प्रथम स्तब्ध (static) भाव से होने पर भी दुर्भेद्य है। द्वितीय प्रसारी (aggressive) एवं आततायी पुरुभुज (octopus) के समान केवल अपनी वाहें फैलाता है। यह दुर्निवार है। इसकी वाहें अन्तहीन हैं एवं वे सचराचर विविध (कामज, क्रोधज इत्यादि) व्यसन के आकार में जीव को शृङ्खलित करती हैं। यह व्यसन-परिवृत व्यामोह किस-प्रकार विदूरित

---

† दुर्गासप्तशती ११-५४—अनुवादिका।

* व्यवसायात्मिका वुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। श्रीमद्भगवद्गीता २।४१—अनुवादिका।

होगा ? श्रीविनायक अपने ॐकाररूपी शुण्ड द्वारा इस महोपद्रव का शीघ्र निरसन करते हैं; अर्थात् प्रणवादि का श्रद्धापूर्वक जप ही मुख्य साधन है, क्योंकि उसके द्वारा ही इस यन्त्र का स्पन्दन-गत वैरूप्य वा प्रतिकूलता तिरोहित होने पर ऋत एवं सत्य छन्द के साथ अनुरूपतादि साधित होते हैं।

उसके बाद श्रीगणेश के दिव्य कलेवर में अरुण-रक्तिम-रुचि क्या है, इसकी भावना करें। निःस्पन्द परमतत्त्व में नादरूप जो मूलस्पन्द है, उसका ही जो समन्तात्-स्फुरण है, वही उस दिव्य कलेवर में रक्तिम अङ्गराग है। वाच्य-वाचकमय यह जो चराचर विश्व है, इसके जीवन का प्रथम प्रतिस्पन्द (response) इस अरुण रक्तिमा में ही है। विश्वप्राण का 'रस', जीवन का 'रङ्ग' —पादप में शीत अपगत होने पर विपुल प्राण-हिल्लोल से उद्गत नव किसलय-मञ्जरी की भाँति ही लाल जो है। विश्व के चित्रपट की वर्णाली में भी इसी लाल से ही तो वर्ण-ग्राम (समूह) का उत्तरोत्तर उन्मेष है। स्वरसप्तक में जैसे षड्ज ('स')। 'मैं एक हूँ मिथुन होऊँगा' ब्रह्मवस्तु में यह आदिम काम, इस रक्तराग में ही तो अपने को प्रस्फुटित करना चाहता है। विश्वदोल का जो 'भाग' है, वह भी तो मूल में यही है। तन्त्र में 'कामकला-विलास'* में भी यही है। वर्ण के मूल में जाकर इसे खोज लो।

अच्छा, गणपति के अङ्गों का सिन्दूरवर्ण तो मान लें हो गया, किन्तु उनके शुभ्र स्वच्छ ललाटदेश पर मुक्ता की भाँति स्वेदबिन्दु जो शोभा पा रहा है, वह क्या हैं ? विश्व की प्राणधारा में, जीवन-चाञ्चल्य में रहकर भी (though immanent) वे इसके ऊपर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप में विराजते हैं। और, अपनी उस नित्य क्षोभहीन (सुतरां निःस्पन्द) सत्ता में प्रतिष्ठित रहते हुए ही वे निखिल स्पन्दात्मक प्रपञ्च में 'अवगाहन' करते हैं; वर्णहीन होकर भी विश्ववर्णालि बने हुए हैं। यह 'अघटनघटन' है उनके ललाट का 'स्वेद', एवं वह अचिन्त्य घटन बिन्दुरूप में अभिव्यक्त होता है, अर्थात् उससे ही विश्व का निखिल स्पन्द अपनी 'केन्द्रीण' वा नाभिशक्ति को पा रहा है— समष्टि में और व्यष्टि में। वेद कहते हैं—'अदिति से दक्ष ने जन्म लिया और दक्ष से अदिति ने'; तन्त्र कहते हैं—'नाद से बिन्दु और बिन्दु से नाद'; — इन सबको ही सांचकर देखो गणपति के शुभ्रभालदेश में झलकते हुए इस स्वेदबिन्दु की ओर ताक कर।

---

* एक तान्त्रिक ग्रन्थ (पुण्यानन्द – रचित)।—अनुवादिका।

और, गणपति के चार हस्त हैं—मात्राचतुष्टय—मात्रा, अर्धमात्रा, पूर्णमात्रा, और अमात्रा (अन्यत्र ये व्याख्यात हैं)। और उनके दो नेत्र हैं—'पश्यत्' और 'तुर्य' (पर और परम) प्रथम के द्वारा निखिल तत्त्व, वस्तु एवं सम्बन्ध के 'दर्शन' करते हैं; द्वितीय के द्वारा सब त्रिपुटियों के मूल में जो परमाव्यक्त सत्ता है, उसमें ही साक्षात् अपरोक्षानुभूति रूप में अच्युतप्रतिष्ठ रहते हैं। यह तुरीय दृष्टि भी परा और परमारूप से द्विविध है (बाद में इसकी व्याख्या होगी)।

ऐसा रहस्य-वपु धारण करने वाले श्री गणपति हमारे अशुभ के विनाश के निमित्त जययुक्त हों ॥९८॥

सम्यक् साम्यं समासे यदवति कुशलं कर्मणां शुण्डशौर्यं
वीर्यं दन्तस्य यस्माद् हरति विषमतां व्यासमन्वेति या च।
आब्रह्माकारवृत्तिः प्रभवति च यतो धाम मौलेः प्रसन्नं
वर्तेते द्वौ समाधी च नयनयुगलेऽतः समावृत्तिमूर्त्तिः ॥९९॥

अन्वय –(श्रीगणेश का) यत् (जो) कर्मणां कुशलं (कर्मों में कुशल) शुण्डशौर्य (शुण्डदण्ड का शौर्य) सम्यक् (पूर्णरूप से) समासे (समास में) साम्यं (समता की) अवति (रक्षा करता है) यस्मात् (जिस कारण) दन्तस्य (दाँत का) वीर्यं (वीर्य) विषमतां (विषमता का) हरति (हरण करता है) व्यासम् अन्वेति (व्यास का अनुगमन करता है), या च (और जो) आब्रह्माकारवृत्तिः (जब तक ब्रह्माकारावृत्ति उदित नहीं होती तब तक) मौलेः (मस्तक का) प्रसन्नं धाम (ज्योतिःप्रसाद) (साधक पर) प्रभवति (प्रभावशील होता है), नयनयुगले (उनके दोनों नेत्रों में) द्वौ समाधी (दो समाधियाँ) वर्तेते (विद्यमान हैं) अतः (इस प्रकार) (वे श्रीगणेश) समावृत्तिमूर्त्तिः (समावृत्ति की ही प्रकट मूर्ति हैं) ॥९९॥

भाष्य—अब इस श्लोक में श्रीगणेश के प्रति-अङ्ग की क्रिया वर्णित है। प्रथमतः, अपने शुण्ड के शौर्य द्वारा वे क्या करते हैं? पूर्वकथित समास-समता की सम्यक् भाव से रक्षा करते हैं। इस अनुकूल धारा का रक्षण वा पोषण शुण्डशौर्य के द्वारा ही सम्भव होता है।

उसके बाद, अपने दन्त के वीर्य द्वारा व्यास में अर्थात् विच्छिन्न भाव (dissipation, scattering) के बीच अन्वित वा युक्त जो विषमता (disharmony) है, उसका हरण वा नाश करते हैं। शुण्डशौर्य द्वारा जिस

प्रकार समता का रक्षण है, उसी प्रकार दन्तवीर्य द्वारा विषमता का हरण है। अनुकूलता का पोषण और प्रतिकूलता का विहरण—साधनासिद्धि के पक्ष में अपरिहार्य ये मुख्य दो क्रियाएं श्रीगणेश के इन दोनों अङ्गों द्वारा सम्पादित होती हैं।

केवल, इन दो क्रियाओं से उनका कर्तव्य समाप्त नहीं होता—वे अपने मौलि वा मस्तक के प्रसन्न धाम वा ज्योतिःप्रसाद द्वारा साधक को प्रभावित करते हैं उसकी साधना की सरणि को आलोकोद्भासित करके रखते हैं, जब तक कि ब्रह्माकारा वृत्ति का उदय नहीं होता, अर्थात् साधक के चरम सिद्धि के क्षेत्र में न पहुँचने तक उनकी करुणाज्योतिः के विकिरण में कार्पण्य नहीं। यही उनके मौलि वा मस्तक का कार्य है।

और योगशास्त्र में जो सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात रूप द्विविध समाधि की कथा वर्णित है, वह उभयविध समाधि ही उनके नयन-युगल में स्थान पाती है, अर्थात् उनके दोनों नेत्रों के मध्य समाधि द्विविध रूप में निहित है। उनके उसी नयन-प्रसाद वा दृष्टि-प्रसाद से साधक को भी द्विविध समाधिलाभ सम्भव होता है।

इस प्रकार श्रीगणेश के सभी अवयवों के कार्य लक्ष्य करने पर स्पष्ट ही प्रतीति होती है, कि ये समावृत्ति की ही प्रकटमूर्त्ति हैं ॥९९॥

[यह समावृत्ति-रूप लाभ करने के लिए 'गणेश' इस रहस्य-नाम का विश्लेषण करके देखिये। 'ग' कार जिह्वामूलीय कवर्ग का तृतीय वर्ण है—मूलत्रय का निरूपक है अर्थात् मूल को तीन संख्या में लेने का निर्देश करता है; जैसे, रसायनशास्त्र में $H_2 So_4$ निर्देश करता है कि किस मौलिक को कितनी संख्या में लेना होगा। मूल तीन कौन से हैं? वाक्, मनः एवं प्राण, अथवा विद्या, श्रद्धा, उपनिषद्; अथवा अ, उ, म् इत्यादि। 'ण'कार मूर्धन्य एवं पञ्चम वर्ण है। यह निर्देश करता है 'ऊर्ध्वलोक' से पाँच शक्ति-धाराओं (यथा, पञ्चगङ्गा) के अवतरण का। इस प्रकार मूलत्रयाश्रय में प्रयत्न के उपयुक्त वीर्यमात्रा लाभ करने पर उक्त मूर्धन्य धारा में उसका मिलन होता है। 'ग' तृतीय वर्ण है, 'ण' पञ्चम वर्ण है। दोनों ही 'घोषवत्' (calling each other) अवश्य हैं, किन्तु पूरी तरह 'अल्पप्राण' हैं (उनके आपेक्षिक 'शक्तिमान्' अधिक नहीं रहते) हैं। इस कारण 'गण'—केवल इस रूप में दोनों का समर्थ और सफल मिलन नहीं होता। दोनों की

व्यावृत्ति (hiatus) रह जाती है, समावृत्ति साधित नहीं होती। किन्तु 'गणेश' नाम में 'ई'कार दीर्घ तालव्यस्वर है - गणेश के शुण्डशौर्य का प्रतीक है; और शकार 'महाप्राण' है। सुतरां 'ईश' के संयोग में व्यावृत्तिक्षेत्र में समावृत्ति सूचित होती है। प्रत्येक रहस्य-नाम अध्यात्म-विज्ञान में एक-एक 'फ़ॉर्मूला' (सूत्र) है।]

[अष्टमूर्ति-शिव-स्तुतिः]

वाचामोङ्कारगङ्गा गहनगतिजटागूढसप्तोर्मिभङ्गा
प्राणव्यापारक्लृप्ताऽहिवलयसहितं सार्द्धमात्रोत्तमाङ्गम्।
वैरूपाक्षं विरूपं परशुमृगवराभीतिभिश्च्छन्द ईष्टे
वैयर्थ्यं च त्रयीदृग् जयतु पशुपतिर्योऽष्टमूर्त्तिस्त्वमूर्त्तः ॥१००॥

अन्वय—वाचाम् ओङ्कारगङ्गा (वाणी की ओङ्कार-रूपी जो गङ्गा है) (उस की) गहनगतिजटागूढ-सप्तोर्मिभङ्गा- (सात उर्मियाँ शिव के गहनगति जटाजाल में गूढ़ अर्थात् छिपी हुई हैं), सार्द्धमात्रा+उत्तमाङ्गम् (शिव का उत्तमाङ्ग अर्थात् मस्तक अर्धमात्रा से विभूषित है और) प्राणव्यापारक्लृप्त+अहिवलय-सहितं (प्राणव्यापार की अनुकृति पर जिन अहियों अथवा सर्पों की कल्पना हुई उनके वलय यानी कुण्डली से शिव का मस्तक युक्त है) (वे) परशु-मृगवराभीतिभिः (चार हाथों में धृत परशु मृग, वर, अभय इन चार उपायों द्वारा) वैरूपाक्षं (विरूपाक्ष) विरूपं (विरूप) छन्दः (छन्द का) ईष्टे (शासन करते हैं) वैयर्थ्यं च (वाक् के वैयर्थ्य का भी शासन करते हैं) यः (जो शिव) अष्टमूर्त्तिः+तु+अमूर्त्तः (अष्टमूर्त्ति होते हुए भी अमूर्त्त हैं, वे) त्रयीदृक् (त्रिवेदी दिव्य चक्षुधारी) पशुपतिः (पशुपति) जयतु (जययुक्त हों)।

भाष्य—इस के बाद श्रीमहादेव की मूर्त्ति की भावना कीजिए। महादेव अपने जटाजाल में गङ्गा को धारण किए हुए हैं। सभी वाक्यों का 'मधु' अथवा 'रस' जो ॐकार है, उसी को गङ्गा समझें। वाक्य की गति गहन, अर्थात् दुर्ज्ञेय है। यह गहन गति ही हर-शिर पर जटा की कुण्डली है। इस जटागर्भ में वाक्यसार जो प्रणव (ईश्वरवाचक नाम) है, वह निगूढ़ हो कर अपनी सात ऊर्मियों (जगत्यादि सप्त छन्द, भूर्भुवरादि सप्त व्याहृतियाँ, अकार से लेकर शान्तातीत तक सात 'भूमियाँ' इत्यादि) को मानो छिपाए हुए हैं। शिव का उत्तमाङ्ग, अथवा मस्तक अर्धमात्रा (सम्पुटित नाद-बिन्दु कला—जो पहले और आगे व्याख्यात है) के द्वारा विभूषित है; और, वह अहि-वलय

द्वारा वेष्टित है। वाक् की अभिव्यक्ति में जो प्राणन-व्यापार रहता है, वही अहिरूप में कल्पित हुआ समझिए। 'अह्+इ' यह आकृति (pattern) समझ कर देखिए। अ= प्रथम स्वरवर्ण; ह्=शेष व्यञ्जनवर्ण; सुतराँ अह्=मातृका वर्णमाला। इ=गति। अर्थात् वर्णमाला की गति, अव्याकृति से व्याकृति, अभिव्यक्ति इत्यादि सूचित होती हैं। 'विलेशय' अहि कुण्डली मार कर रहता है, किन्तु फिर चलता भी है, (उसी से सर्प है)। प्राणन-क्रिया वीचि की भाँति (wave pattern में) चलती है, वही अहि+भुजग है। शिव विरूपाक्ष हैं, वे अपने 'वैरूपाक्ष' छन्द द्वारा निखिल वाक् का, सुतरां प्राणी का जो 'विरूप' छन्द है, उस का शासन करते हैं, परशु, मृग, वर, अभय— अपने चार हाथों में इन चार 'उपायों' द्वारा। परशु द्वारा जो विरूप है, उसे अनुरूप होने के लिए 'आकृति' देते हैं; मृग (अन्वेषण, लक्ष्यानुवृत्ति) द्वारा उसे लक्ष्य के वा आदर्श के अनुरूप प्रतिरूप कर लेते हैं; वर द्वारा उसे समरूप एवं अभय द्वारा उसे एकरूप वा अभिन्नरूप करते हैं (अनुरूपादि पहले व्याख्यात हो चुके हैं)। जो विरूप (heterogeneous) है, उसमें अक्ष वा axis रूप में प्रविष्ट हो कर उस का मन्थन करते हैं, जिस के फलस्वरूप वह अनुरूपादि (homogeneous) हो जाता है। (विरूपाक्ष शब्द का अन्य अर्थ भी है)। और, वाक् को समर्थ करने के लिए उस के वैयर्थ्य का भी पूर्वोक्त रीति से शासन करते हैं। वाक् को वे त्रयीदृक्-रूप में सार्थक करते हैं, त्रिवेदी-दिव्य चक्षुःरूप से। वे क्षित्यादि अष्टमूर्ति (यथा* 'शाकुन्तलम्' में मङ्गलाचरण में वर्णित है) हो कर भी अमूर्त्त (शुद्ध निरञ्जन ज्ञानमूर्त्ति) हैं। वाक् वा प्रणव की ओर से भी इस अष्टमूर्ति एवं तदनुगत और तदतीत मूर्त रूप की भावना करनी होगी। एवंविध असामान्य रहस्यवपु जो पशुपति हैं वे जययुक्त हों ॥१००॥

[अघोर-सद्योजात-तत्पुरुष-ईशान-तत्त्वम्]

सोऽघोरोऽदग्निचिद् यो मिति मृशति यतः सोमसुद् वामदेवः
सद्योजातो ह्युवर्णात् स्वरसमुदयतोऽजायतोर्ज्जश्च सद्यः।

---

* या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥
शाकुन्तलम् १।१—अनुवादिका

आदावन्ते च यौ तत्पुरुष इति हुतौ होतृहव्ये द्विवर्णा-
वीशानश्चेष्टिकामान् कति सिति सुषुवे सर्वधुक् चैकहौंसः ॥१०१॥

अन्वय—यः (जो) **अग्निचित्** (अग्नि का चयनकारी) **अत्** (स्वर का आदि वर्ण) **सः** (वह) **अघोरः** (अघोररूप है) **म् इति** (जो मकार है वह) **यतः** (क्योंकि) **मृशति** (मर्श या मर्षण करता है अतः) **सोमसुत्** (सोम का सवनकारी) **वामदेवः** (वामदेवरूप है)। **स्वरसमुदयतः** (स्वरसमुदाय के) **उवर्णात्** ('उ'वर्ण से) **सद्यः** (निरन्तर, अविच्छेद रूप में गति) **ऊर्ज्जः** (अभ्युदय) **अजायत** (उत्पन्न होता है), (वह ऊर्ज्ज) **सद्योजातः** (सद्योजात रूप है)। **होतृहव्ये हुतौ** (द्रव्य-यज्ञ से हवन-यज्ञ पर्यन्त यज्ञों में) **आदौ, अन्ते च** (और आदि तथा अन्त में दो वर्ण) ('ह्' एवं ':') **द्विवर्णौ** (ये दोनों वर्ण) **तत्पुरुष इति** (तत्पुरुष रूप हैं) **ईशानः** (यज्ञफल-नियन्ता के) **कति च इष्टिकामान् स् इति सुषुवे** (कितने ही यज्ञ-फलों को 'स' इस वर्ण से प्रसव किया था) (सुतरां) **एक हौंसः** (एक 'हौंसः' रूप महावीजरूप वाक्) (ही) **सर्वधुक्** (सब कुछ दुहने वाली हैं)।

भाष्य—कृत्तिवास, शितिकण्ठ, शूलपाणि, पञ्चवक्त्र इत्यादि के रहस्य का भी अवगाहन कर लें। किन्तु यहाँ विशेष रूप से 'हौंसः' इस महावीज का विश्लेषण करने का यत्न कीजिए। वीज के आदि-अन्त में 'ह्' एवं ' : ' हैं। मध्य में ओंकार=अ, उ, म् है। उसके वाद स् है। विचार कीजिए कि यह विश्व-महायज्ञ है। वाक्, प्राण, मन, समष्टि, व्यष्टि---सब कुछ लेकर यह यज्ञ है। इस यज्ञ में 'अग्निचित्' —अग्नि का चयनकारी (storing and massing of energy) वना था 'अत्' अर्थात् स्वर का आदि जो अवर्ण है वह। यह अघोर रूप है। क्योंकि मूढ़ एवं घोर रूप को लाँघे विना उक्त चयन-कर्म सम्भव नहीं होता। उसके वाद, अन्त्य स्पर्श वर्ण जो 'म'कार है वह 'मृशति', या स्पर्श (मर्षण, मर्शनादि) कर के 'सोमसुत्'—सोम के सवनकारी हुए थे। सोम =निखिल पदार्थ में ओत-प्रोत जो 'रस' है वह। यज्ञ में उसका क्षरण या सवन होना आवश्यक है। यह सोमसुत् वामदेवरूप है। अग्नि एवं सोम मिलित हो कर (energy+value) अग्नीषोम बने अवश्य हैं, किन्तु चाहिए ऊर्जः अर्थात् अभ्युदय शक्ति। स्वर-समुदाय में जो उवर्ण है, उससे ही ऊर्ज्जः उत्पन्न हुआ था, सद्यः—अविच्छेद में, अव्यवधान में ही—जात हुआ था। यह सद्योजात रूप है। इसके अभाव में कर्म स्तब्ध, व्याहत आदि होगा। 'सद्य' शब्द

को विशेष रूप से लक्ष्य कीजिए। सद्यः = सद्+यः = निरन्तर, अविच्छेद में गतिशील। अथच स्वयं यह सत् = अव्यय है। उसके बाद, आदि एवं अन्त में जो दो वर्ण (ह् एवं :) हैं, वे दोनों यथाक्रम से इस हवन में (हुतौ) होता एवं हव्य हैं—द्रव्ययज्ञ से ब्रह्मयज्ञ-पर्यन्त सभी यज्ञों में इन दोनों का अनुसन्धान करें—भावना करें। एवं दो मिल कर तत्पुरुषरूप हैं (तत् = that पुरुष = I or you, object-subject इत्यादि)। इस प्रकार क्रिया-कारक-संघात मिला। किन्तु फल? 'कति' कितने ही इष्टिकाम यज्ञों के फल इन्होंने प्रसव किए थे 'स्' इस वर्ण के रूप में। यज्ञ-फल-नियन्ता यह ईशान हैं। सुतरां एक 'ह्रींसः' यह महावीज रूप वाक् ही हुई सर्वयुक् - सर्वसम्मेलन, सर्वभावन और सर्वसमापन कर्म में निरतिशयकुशला ॥१०१॥

[सोम-तत्त्वम्]

जिघृक्षति शिशुः सोमं यः शम्भोर्मौलिभूषणम्।
ओषधमत्ति यः सोमं स किं वेत्ति स ओमिति ॥१०२॥

अन्वय—शिशुः (बालक) सोमं (चन्द्र को) जिघृक्षति (पकड़ना = ग्रहण करना चाहता है) यः (जो) शम्भोः (शिव का) मौलिभूषणं (शिरोभूषण-भूत है)। यः (जो) सोमं (सोम को) ओषधं (ओषध रूप में) अत्ति (खाता है) सः (वह) किं वेत्ति (क्या जानता है कि) स ओम् इति (यह 'स् उ म्' ऐसा है)?।

भाष्य - शिशु हाथ बढ़ा कर आकाश के सोम (चन्द्र) को ग्रहण करने की इच्छा करता है। वह क्या जानता है कि सोम शम्भु का मौलिभूषण ('सोमार्धधारिणे') है? और, ओषधिरूप में (व्रीहि, यव इत्यादि रूप में) जो सोम का भक्षण करता है, वह क्या जाने कि स्वरूप में सोम = 'स उ म्' ऐसा है ॥१०२॥

[आदित्य-तत्त्वम्]

आदित्यो ब्रह्म मूर्तं विशति यदखिलं व्याप्य चार्कः स्वधाम्ना
नाभौ संगृह्य चक्रं ह्यरधृतवलयं वर्त्म छन्दो बिभर्ति।
सूते सूर्यश्च पूषाऽवति च बृहदृतं जक्षितीदं च रुद्रः
प्राणान् ॐ प्राणिनद्ध्रीं घृणिरिति हृदयं सून्म एकर्षयेऽर्घम् ॥१०३॥

अन्वय – आदित्यः (आदित्यरूप) मूर्तं ब्रह्म (मूर्त्त ब्रह्म है) यत् (जो) अखिलं विशति (अखिल विश्व में प्रविष्ट हैं) च (और) अर्कः (अर्क

रूप में, वह ब्रह्म) स्वधाम्ना (अपने तेज एवं महिमा द्वारा) व्याप्य (व्याप्त करके) (रहते हैं), चक्रं (चक्र को) नाभौ (नाभि में) संगृह्य (संग्रह करके) अरधृतवलयं (अर का विस्तार करके उस चक्रके वलय या परिधि को धारण किए हुए हैं) वर्त्म (मार्ग, एवं) छन्दः बिभर्त्ति (छन्द का भरण करते हैं) सूते (सब कुछ प्रसव करते हैं, अतः वह) सूर्यः (सूर्य या सविता हैं) अवति (पोषण करते हैं, अतः) पूषा (हैं), ऋतं वृहत् (ऋत ब्रह्म के रूप में) (सब कुछ का पालन और रक्षण करते हैं) रुद्रः (रुद्र के रूप में) इदं च जक्षिति (इस सब कुछ का भक्षण कर जाते हैं) ॐ (ओङ्कार रूप में) प्राणान् (प्राणों को) प्राणिनत् (प्राणित करते हैं) 'ॐ ह्रीं घृणिः' (यह आदित्य का) हृदयं (आदित्य-हृदय-मन्त्र हैं) (एवंविध) एकर्षये (एक ऋषि) (भगवान् आदित्य के लिए हम) अर्घं सून्मः (अर्घसवन करते हैं)।

भाष्य—ब्रह्म के दो रूपों को बात श्रुति कहती है—मूर्त और अमूर्त्त। अदितिरूप में ब्रह्म अमूर्त हैं, आदित्य रूप में मूर्त्त हैं। अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और पर, इन त्रिविध रूपों में जो कुछ भी 'अस्ति' और 'भाति' है, वह समस्त ही आदित्य है। स्थूल के मध्य में सूक्ष्म और सूक्ष्म के मध्य में पर—इस प्रकार यह जो अखिल विश्व है, इसमें आदित्य प्रविष्ट हैं और अर्क-रूप में अपने (आधिभौतिकादि चतुर्विध) तेजः एवं महिमा द्वारा इन सबको वे व्याप्त किए हुए हैं। पुनश्च, (अणु अथवा महान्) भुवन में जो चक्र चलता है, उसकी नाभिनिष्ठ सत्ताशक्ति (nuclear power) के रूप में वे उसे 'संग्रह' करके रखे हुए हैं; स्वयं अर (moments) विस्तारपूर्वक उस चक्र का (जैसे एक atom का किंवा इस सौर जगत् का) जो वलय, नेमि वा परिधि है, उसे (अपनी आकृति में वा pattern में) धारण किए हुए हैं; और, इस भुवनचक्र की गति (function) में जो अध्व (course वा curve) है, एवं जो छन्दः (law वा equation) है, उसका 'भरण' कर रहे हैं। मूर्त ब्रह्म आदित्य के 'अन्तर्बहिः सर्वतः' इस पञ्चवृत्ति का ध्यान करें। आदित्य, विवस्वान्, अर्क, सविता, नारायण, गभस्तिमान्, हरिदश्व (वा सप्ताश्व) - ये कुछ-एक रहस्य-नाम इस प्रसङ्ग में स्मरणीय हैं। सब कुछ प्रसव करते हैं, अतः वे सविता, सूर्य है; पोषण करते हैं अतः पूषा हैं। हंसवती ऋक् में प्रसिद्ध 'ऋतं वृहत्' अर्थात् ऋतब्रह्म (हंस) के रूप में सब कुछ का पालन और रक्षण करते हैं। ये cosmic life-principle हैं। पुनश्च, कालाग्निरुद्र-रूप में सब कुछ का ये 'भक्षण' करते हैं। काल+अग्नि+

रुद्र इस 'सम्पुट' का भी विशेष रूप से ध्यान करें—ध्यान करने पर भुवनचक्र की 'नाभि' भेद करके काल के अतीत तत्त्व में जाया जा सकता है। इन्होंने प्रणव (ॐकार) रूप में प्राणसमूह को भी प्राणित किया था (प्राणिनत्)। 'ॐ ह्रीं घृणिः' यही उनका (आदित्य का) 'हृदय' (ॐरूप में 'हृत्', एवं ह्रीं रूप में 'अय' या गति) है। एवंविध एकर्षि प्रत्यक्ष भगवान् आदित्यनारायण का हम अर्घसवन (वाक्, मन और प्राण द्वारा कल्पित) करते हैं। हमारा जो अघ (पाप्मा, एनः, मन्यु इत्यादि रूप) है, वह भी सूर्यज्योति में सवन (हवन) के लिए एवं सवन के फलस्वरूप रेफयुक्त (र=अग्नि) होकर 'अर्घ' बने ॥१०३॥

[श्रीतारा–तत्त्वम्]

या तारा त्रिपुरादिदुर्गगहनग्रन्थीन् दिदीर्षत्यसौ
मन्त्राणां च जिहीर्षते विषमतां चैतन्यमाधित्सते।
अर्भौकस्त्वमपाचिकीर्षति ततो भूयस्त्वमारिप्सते
प्रत्यालीढपदा निनीषति पदं बंहिष्ठवाचः परम् ॥१०४॥

अन्वय—या (जो) तारा (माँ तारा) (हैं वह) त्रिपुरादिदुर्गगहनग्रन्थीन् (समस्त त्रिपुर दुर्ग की गहन-ग्रन्थियों को) दिदीर्षति (विदीर्ण करने की इच्छा करती हैं) असौ (वह माँ तारा) मन्त्राणां (मन्त्रों की) विषमतां (अरित्व वा प्रतिकूलता वा बाधा वा विरोध को) जिहीर्षते (हरण करने की इच्छा करती हैं) (मन्त्र में) चैतन्यं (चैतन्य को) आधित्सते (आहित करने की इच्छा करती हैं) अर्भ+ओकस्त्वं (अल्प या क्षुद्र में अवस्थिति को) अपाचिकीर्षति (अपाकृत या दूर करना चाहती हैं) 'ततो भूयस्त्वं ('ततो भूयः' सूचनादि क्रम में) आरिप्सते (आरम्भ करना चाहती हैं) प्रत्यालीढपदा (शिव के वक्ष पर पादविन्यास करके खड़ी हैं) पदं (पद को) बंहिष्ठवाचः परं (वैखरी वाक् के बाद) निनीषति (ले जाना चाहती हैं)।

भाष्य—अब यहाँ तारा-तत्त्व कहा जाता है। ये जो माँ तारा हैं, वह स्वरूपतः 'तार' बीज वा ॐकाररूपा हैं। उनकी विभिन्न क्रियाएँ यहाँ वर्णित हैं। वे प्रथमतः त्रिपुरादि अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, अ-उ-म् मात्रात्रय, वहिःप्रज्ञ, अन्तःप्रज्ञ, घनप्रज्ञ इत्यदि जो समम्त त्रिपुर-दुर्ग हैं, अर्थात् दुर्गम व्यूह हैं, उनकी जो गहन ग्रन्थियाँ हैं, उन सबको विदीर्ण करने की इच्छा करती हैं। द्वितीयतः, मन्त्रसमूह की जो विषमता अर्थात् रूप और छन्द

इत्यादि का जो अरित्व वा प्रतिकूलता वा एक शब्द में—छन्दोनिमित्त जो बाधा वा 'विरोध' है, उसका वे हरण करने की इच्छा करती हैं। सुतरां समझ में आता है कि अर्धमात्र वा अमात्र रूप में वे मन्त्रसमूह का समर्थ भाव से उद्धार करने की इच्छा करती हैं। किन्तु केवल मन्त्रोद्धार में ही उनका कर्म परिसमाप्त नहीं होता, वे फिर मन्त्र में 'चैतन्य' आधान करने की इच्छा करती हैं; एवं इसके फलस्वरूप वस्तुनिमित्त जो बाधा वा 'निरोध' है, उसका निरसन होता है। इसके अतिरिक्त वे 'अर्भौकस्त्व' हैं, अर्थात् अल्प में, क्षुद्र में, अवस्थिति अर्थात् स्वल्प सङ्कीर्ण 'देश' में गति-स्थिति-रूप में जो देशनिमित्त बाधा वा 'अवरोध' (staticity, stagnation) है, उसे भी अपाकृत वा दूर करने की इच्छा करती हैं और, भगवान् सनत्कुमार जैसे नारद को *'ततो भूयः' इत्यादि क्रम से अन्त में भूमा में ले गए थे, उसी प्रकार अल्प से 'ततो भूयः' क्रम में वे साधक को ब्रह्म में ले जाने के लिए सूचना को आरम्भ करने की इच्छा करती हैं; संक्षेप में, कालनिमित्त बाधा जो 'प्रतिरोध' है, उसे अपसारित करके विकास-प्रकाश-उल्लास की पूर्णता घटित करती हैं। परिशेष में, माँ तारा को देखता हूँ कि एक विशेष भङ्गी से शिवजी के वक्ष पर पादविन्यास करके खड़ी हैं। इसका रहस्य क्या है? वे 'प्रत्यालीढपदा' हैं अर्थात् अरिच्छन्दादि के विनाश के लिए सम्यग्विन्यस्त मन्त्राक्षरपदा होकर वैखरी वाक् के बाद मध्यमा, पश्यन्ती इत्यादि में पद को अर्थात् वाक्, मन और प्राण—इन समस्त की गति को लेकर जाने की इच्छा करती हैं। अर्थात्, अपने पाद की विशेष भङ्गी से मन्त्र के पदों के एक विशिष्ट रूप को वा अवस्थान को सूचित करती हैं। मन्त्राक्षर-पदों के इस प्रकार विन्यस्त होने पर वे वाक् का जो स्थूल वैखरी रूप है, उसका परित्याग करके उसका परमरूप जो परा वाक् है, उसकी ओर धावित होती हैं—कहीं मध्यमा, पश्यन्ती इत्यादि क्रम से अथवा कहीं साक्षात् अक्रमिक भाव से ही।

सुतरां माँ तारा हमारे ग्रन्थि-विदारण, मन्त्र की विषमता का हरण, चैतन्य-आधान, क्षुद्रत्व वा अल्पत्व-अपाकरण, भूमाभिमुखी गति का सूचन एवं परिशेष में वाक् की परम अवस्था में नयन (ले जाना)—ये सभी काम करती हैं ॥१०४॥

---

* द्रष्टव्य छान्दोग्योपनिषत् सप्तम अध्याय।—अनुवादिका।

[छिन्नमस्ता - तत्त्वम्]

ब्रह्मास्मीति प्रमाणात् पदतलदलिता विप्रतीपा रिरंसा
प्रज्ञानं ब्रह्म पूर्णादिति पदगमनाच्छान्तिकृन्मन्त्रवर्णैः।
आत्मायं ब्रह्म चेति श्रुतिषु निगमनात् तत्त्वमस्यादितत्त्वं
नादैर्मृग्यस्तदर्थः स्फुटितपरिचया छिन्नमस्ताऽस्तु गुह्या ॥१०५॥

अन्वय—ब्रह्मास्मीति प्रमाणात् ('अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रमाण से) विप्रतीपा (विपरीता) रिरंसा (रमणेच्छा) (उन छिन्नमस्ता के) पदतलदलिता (चरणों में दलित है) शान्तिकृन्मन्त्रवर्णैः ('ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं' इत्यादि शान्तिपाठ के मन्त्रवर्णों द्वारा) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति पूर्णात् पदगमनात् (इस पद द्वारा प्रकाशन से) 'अयमात्मा ब्रह्म' इति (इस के) श्रुतिषु (वेदों में) निगमनात् (प्रकाशन से) तत्त्वमसि-आदि-तत्त्वम् (को जो प्रकाशित करती हैं) तदर्थः (वाक्यचतुष्टय का अर्थ) नादैः मृग्यः (नादानुसन्धान द्वारा अन्वेषणीय है) (वह) गुह्या (रहस्यमयी) छिन्नमस्ता (देवी) स्फुटितपरिचया अस्तु (हमारी बुद्धि में उद्भासित हों) ॥

भाष्य—माँ की और एक रहस्यमूर्ति है—छिन्नमस्ता। इस मूर्ति में वेदान्त के प्रसिद्ध चार महावाक्यों का रहस्य ही छिपा हुआ है।

चार महावाक्यों में से 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप जो प्रथम पद है, उस के द्वारा उन्होंने विप्रतीप रिरंसा को सर्वतोभाव से दलित किया है—क्योंकि उक्त निश्चय होने पर केवल परमात्मा में ही पूर्ण रति हुआ करती है। 'विप्रतीप रिरंसा' का अर्थ है स्वरूप के जो विप्रतीप या विपरीत है, उस में रिरंसा या रमणेच्छा। आत्मा ही निरतिशय प्रिय है, अनात्मवस्तु में जो प्रियताधर्म है, वह स्वाभाविक नहीं है, अथच अल्प, खण्डित अनात्म-पदार्थ में ही जीव की रमणेच्छा होती है—यह उसको विपरीत रिरंसा है। छिन्नमस्ता के पदतल में विपरीत रतातुर रतिकाम—इसी की प्रतिमूर्त्ति है। यह विपरीत रति दूर होती है केवल इस निश्चय-बुद्धि से कि 'मैं स्वरूपतः आनन्द-ब्रह्म हूँ, एवं ब्रह्मेतर कुछ नहीं है, सुतरां आत्मा को छोड़ कर और रति कहाँ होगी ?' यही 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप महावाक्य का फलस्वरूप है। और 'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं' इत्यादि जो शान्तिपाठ का मन्त्रवर्ण-समूह है, उसके द्वारा पद की गति से, अर्थात् पद की जो लक्ष्य-वृत्ति है, उस के द्वारा 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस अपर महावाक्य को उन्होंने अपने में ही प्रकाशित किया है। किस प्रकार

से ? अपना मस्तक स्वयं ही छेदन कर के एवं अपने रुधिर का स्वयं पान कर के दिखाती हैं कि 'यह भी पूर्ण है, वह भी पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण को ले लेने पर पूर्ण ही रहता है, पूर्ण के सिवा अपूर्ण कहाँ है?'। उस के बाद 'अयमात्मा ब्रह्म' इसे भी वे प्रकाश कर के दिखाती हैं; इस प्रकार कि—अपने दिव्य कलेवर के भीतर जो आत्मा 'रुधिर' रूप में है, वह अन्तर्बहिः सर्वत्र ही है, वस्तुतः उस का हान अथवा उपादान नहीं है। अन्त में सब श्रुतियों ने जिस प्रकार निःसंशय प्रतिपादित किया है, उस रूप से 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य-रूप 'असि' के द्वारा अपने तत्त्व अर्थात् ब्रह्मत्व का, वे अपने में प्रतिपादन करती हैं। कर की असि इस 'असि' का प्रतीक है, अपनी देह 'त्वं' पदार्थ है, अपना उत्तमाङ्ग 'तत्' पदार्थ ही है; 'असि' पद इन दोनों की भाग-त्याग-लक्षणा का प्रदर्शन करता है। अर्थात् देह के धर्मादि (रूप-नाम) एवं मुण्ड के धर्मादि दोनों का त्याग करते हुए 'रुधिर'—इस अभिन्न वस्तु वा सत्ता-रूप में दोनों का ग्रहण हो रहा है। देह से जो 'निर्गलित' है, वह मुण्ड में 'समर्पित' एवं समाप्त हो रहा है; 'रुधिरमित्येव सत्यम्' – इस का निगमन होता है।

वही गुह्यातिगुह्या छिन्नमस्ता अपने स्वरूप के परिचय में हमारी बुद्धि में उद्घाटित, उद्भासित हों। स्वरूप-परिचय का साधन कैसा है ? छिन्नमस्ता-रूप में और उन में उदाहृत-रूप में महावाक्य-चतुष्टय के अर्थ (उपनिषत्) का नादानुसन्धान (अ, उ, म्; नाद, बिन्दु, शान्त, शान्तातीत) के द्वारा ही साधक को अन्वेषण करना होगा अथवा 'नादैर्मृग्यं तदर्थं'—तदर्थं अर्थात् तदुद्देश्य में, उस के लिए नादादि के द्वारा अन्वेषण करना होगा ॥१०५॥

['म्' है स्पर्श वर्णों का अन्तिम वर्ण। उच्चारण में अकारयुक्त है। 'अ' 'म्' के बाद है। 'अ' को 'म्' के आगे लाइए। उससे हुआ—'अम्'। इसे उलटा लेने पर हुआ—विपरीत करण। दोनों के बीच 'उ' कार=उदानवृत्ति (lever action) है। इस वृत्ति द्वारा 'अ' और 'म्' दोनों का 'मन्थन' साधित होता है—जैसे यज्ञ में उत्तराधर-अरणि का। इस मूल व्यापार को विपरीत रिरंसा कहा गया। प्राण के क्षेत्र में, अ=प्राणापान व्यापार, म्=समान-व्यान, उ=उदानवृत्ति। ये केवल शरीर की वृत्तियाँ नहीं हैं, विश्व-वृत्ति (cosmic function) हैं। मन के क्षेत्र में भी इनका निजस्व रूप है। जो कुछ भी हो, व्यापार जब तक केवलमात्र 'अ उ, म्' इस आकृति (pattern) में रहता है, तब तक 'स्पर्शयोग' के बीच ही आबद्ध रहना पड़ता है।

उसका अर्थ है, प्राकृत संचारक्षेत्र में (Spinoza के 'Natura Naturata' से तुलना कीजिए) रहना होगा। इसका अतिक्रम करना होगा। छिन्नमस्ता का कलेवर एवं उससे छिन्न मुण्ड=नादविन्दु है। किन्तु नाद-बिन्दु इन दोनों के मध्य व्यवधान, 'अन्तरीक्ष' (hiatus) जब तक बना रहता है, तब तक 'शान्त भाव' सम्भव नहीं होता। नाद में जो 'तत्त्व' निर्गलित है, बिन्दु में वह पर्यवसित है—यह समीकरण जब तक सर्वथा साधित नहीं होता तब तक 'शान्त' भाव नहीं है। इसीलिए छिन्नमस्ता अपनी छाती का रुधिर स्वयं 'पान' करके शान्त हो रही है। और, शान्तातीत? वह तो परमाव्यक्त भाव है, उसका प्रतीक किसमें मिलेगा? बाद में देखा जाएगा कि 'ऐं, ह्रीं, क्लीं' इत्यादि चाहे जिस बीज का उद्धार है, अर्थात् चैतन्य इत्यादि व्यापार में उसका एवं अन्यान्य रहस्य-मूर्त्तियों का साक्षात् उपयोग है। जैसे फिर, वैखरी जप=विपरीत रतातुर रतिकाम; देवी कलेवर=मध्यमा; मुण्ड=पश्यन्ती, रुधिरपान =परा।]

[श्रीधूमावती-तत्त्वम् श्लो० १०६—१०८]

आब्रह्मस्तम्बमेतज्जिजरिषति कुतश्च्योतितुं स्थेष्ठमिच्छेन्
मात्रापादांशकाष्ठाऽऽकलितरथपदां लौल्यमिच्छेच्च नेमिः।
सम्पाते विश्वबीजं ह्यसितमपि सिताद् भिद्यमानत्वमिच्छेत्
शूर्पेणाढ्यां रथस्थां विविदिषुरधवां वेद धूमावतीं कः ॥१०६॥

अन्वय—एतत् (यह सब) आब्रह्मस्तम्बं (ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त) कुतः (क्यों) जिजरिषति (जरा को प्राप्त होना चाहता है) स्थेष्ठं च्योतितुम् इच्छेत् (जो ध्रुव है वह क्यों च्युत होना चाहता है) नेमिः (चक्र की नेमि) मात्रा+पाद+अंश+काष्ठा+आकलित+रथपदां (मात्रा, पाद, कला और काष्ठा ये भुवन-रथ के चार पद या चरण हैं, इनकी) लौल्यं (चञ्चलता को) इच्छेत् (चाहती है) विश्वबीजं (सृष्टि का बीज) सम्पाते (मिलित अवस्था में) हि+असितम् अपि सितात् भिद्यमानत्वम् इच्छेत् (असित यानी अशुक्ल विश्वबीज शुक्ल से भिन्न रहना चाहता है) शूर्पेण आढ्यां (शूर्पहस्ता) रथस्थां (रथ में स्थिता) अधवां (विधवा) धूमावतीं (धूमावती माता को) कः विविदिषुः वेद (कौन जिज्ञासु जान सका है)।

भाष्य—माँ की एक और रहस्यमूर्त्ति—धूमावती के तत्त्व का यहाँ विश्लेषण करने का यत्न किया जाता है।

क्षुद्र तृण से ब्रह्मा-पर्यन्त सभी कुछ जो जराकवलित होना चाहता है—यह

विश्वजरा क्यों है? जो ध्रुवतम है, वह भी क्षयिष्णु है—क्यों यह ध्रुव का अपाय या विनाश है? मात्रा, पाद, कला, काष्ठा भुवन-रथ के ये चार चरण वा चक्र हैं, किन्तु चक्र की नेमि जो घूमते-घूमते लोल होना चाहती है—नियति का यह लौल्य क्यों है? निखिल सृष्टि का वीज जहाँ एकत्र पिण्डीभूत होता है, वहाँ भी तो जो शुक्ल है, वह अशुक्ल से अलग ही रहना चाहता है। क्यों यह मौलिक भेद है, यह निगूढ़ निर्वाचन है? यह सब रहस्य जानने की इच्छा कर के कौन जान पाया है—कि रथस्थिता, शूर्पहस्ता, जरालोला, विधवा यह धूमावती कौन हैं? अर्थात् माँ की इस मूर्ति में ही इन सभी रहस्यों का संकेत छिपा हुआ है। वे रथारूढ़ा होकर विश्वभुवन की इस नियत गति को जताती हैं। स्वयं जरालोला होकर इसकी नियत जीर्णता और लौल्य को प्रकट करती हैं। माँ के हाथ में जो सूप है, उसके द्वारा वे विश्व के समस्त सृष्टि-वीज को फटक कर निर्वाचन करते हुए अर्थात् वीनते हुए प्रत्येक को स्वतन्त्र रूप से, पृथक् रूप से जो बनाय रखती हैं यही समझना चाहिये। सुतरां विश्व का विपरिणाम, उसकी जरा, लौल्य एवं प्रत्येक सृष्ट वस्तु का पार्थक्य वा वैशिष्ट्य—सृष्टि के ये सभी रहस्य धूमावती की मूर्ति में छिपे हुए हैं। जब तक हम सृष्टि के आवर्तन में पड़े हैं तब तक इसके स्वामी का सन्धान पाना हमारे लिए असम्भव है। इसीलिए हमारी माँ अधवा, पतिहीना हैं। इसीलिए हम उन्हें सधवा वेश में नहीं देख पाते। उनके पति होने की स्पर्धा भी किसमें है? उनके सीमन्त में सिन्दूर डालने का दुःसाहस भी किसको होगा? इसलिए हमारे समीप वे चिर-काल ही अधवा के वेश में आविर्भूत हैं। ॥१०६॥

> **नासृग्बीजप्रतीकोऽप्यजरमनसिजो जीर्यते जीर्यमाणे**
> **विश्वे ग्रन्थिर्हृदां वाऽशनिशतसुदृढो दीर्यते ध्रौव्यहाने।**
> **मा भूत् किं लौल्यलेशो जनिमृतिसरणौ संसृतेश्चक्रनेमौ**
> **भिथ्योत्थेषु स्वरूपं किमु चिरमधवे नोऽचितं स्याच्चितं वा॥१०७॥**

अन्वय—असृग्बीजप्रतीकः (रक्तबीज जिसका प्रतीक है, ऐसा) **अजरमनसिजः** (जरा को न प्राप्त काम) **विश्वे जीर्यमाणे अपि** (विश्व के जीर्ण होने पर भी) **न जीर्यते** (जीर्ण नहीं होता), **ध्रौव्यहाने** (निखिल ध्रुवपदार्थ का क्षय घटित होने पर) **हृदां** (हृदयों का) **ग्रन्थिः** (ग्रन्थि-पाश) **अशनिशतसुदृढः** (सौ वज्रों की भाँति सुदृढ़) **न दीर्यते** (टूटता नहीं) **जनिमृतिसरणौ** (जन्ममरण की सरणि-रूप में) **संसृतेः नेमौ** (संसारचक्र की नेमि में) **लौल्यलेशः** (शैथिल्य का थोड़ा भी लेश) **किं मा भूत्** (क्या नहीं होगा), **हे अधवे** (हे विधवे) **मिथ्यो-**

त्थेषु (मिथ्या की अनन्त परम्परा में) स्वरूपं (सत्य-स्वरूप) किम् उ (क्या) नः अचितं स्यात् (हमारे लिए अचित अर्थात् असंगृहीत ही रहेगा?) चितं वा (या कभी संगृहीत होगा)।

भाष्य—रक्तबीज जिस का प्रतीक है, वही मनसिज (काम) है, जो समग्र विश्व के जीर्यमाण होने पर भी जीर्ण नहीं होता, परन्तु अजर ही रह जाता है। इस का उपाय क्या है माँ? निखिल ध्रुव पदार्थ का क्षय-अपचय होने पर भी हृदय का ग्रन्थिपाश जो जीर्ण नहीं होता, किन्तु सौ वज्रों की भाँति सुदृढ़ रह जाता है। इस का क्या उपाय है माँ? अनादि क्लेश-संकुल जन्म-मरण के पथ में संसार-रथ की चक्रनेमि घूम रही है, उस में क्या शैथिल्य का लेश-मात्र भी लक्षित नहीं होगा? इस जन्म-मरण-चक्र के विराम का क्या कोई चिह्न नहीं दिखाई देगा? मिथ्या की इस अशेष जादू-परम्परा में जो सत्य है, जो स्वरूप है, वह क्या है अयि अघवे! वह संगृहीत होगा या चिर-काल ही इसी प्रकार खोया रहेगा, अथवा परित्यक्त रहेगा? ॥१०७॥

> का शक्तिः शक्तिमान् कः कमिति तदुभयोर्मेलनात् सामरस्यं
> का वाक् कश्चार्थ एवं स्वरतदितरयोर्मातृकाद्यर्णयोगात्।
> प्राणापानैकताने विरमति च जवे काऽजपा चाजपः को
> ध्माते कः केति हौंसो धमति न शृणुयाद् वायसे को ध्वजस्थे ॥१०८॥

अन्वय--का शक्तिः (शक्ति है 'का') कः शक्तिमान् ('कः' शक्तिमान् है) तदुभयोः (शक्ति-शक्तिमान् के) मेलनात् (मिला देने से) 'कम्' इति सामरस्यम् ('समरस' की स्थिति में 'सुख' है); का वाक् ('का' वाक् है) कः च अर्थः (और 'कः' अर्थ है) एवं (इस प्रकार) स्वरतदितरयोः (स्वर-व्यञ्जन के) मातृकाद्यर्णयोगात् (मातृका के आदिवर्ण के योग से) कम् इति (सुख है); प्राणापानैकताने जवे विरमति (प्राणापान-व्यापार की एकतानता या समता होने पर और उन के वेग का विराम होने पर) 'का' अजपा (है) च 'कः' अजपः ('कः' अजप है) ध्वजस्थे धमति वायसे (ध्वजस्थित बोलते हुए वायस के) कः केति ध्माते ('का' 'कः' इस उच्चारण में) कः (कौन) 'हौंसः' (इस मन्त्र को) न शृणुयात् (नहीं सुनता है?)।

भाष्य—धूमावती के रथध्वज पर जो यह काक है वह क्या है, क्या यह सोच कर देखा है? एक ओर विश्व-जरामृत्यु का आह्वान, दूसरी ओर

जरामृत्यु से अजर, अमर जो अनपाय स्थान है, उस से उत्तरण का आह्वान ये दोनों ही वायस के क्रमशः 'कः क्व' एवं 'हौंसः' रुति (पुकार) में सूचित होते हैं, उन्हें क्या नहीं सुनोगे ! विश्व के प्राणी सुनते हैं—'कः क्व'—'कौन कहाँ है ? आओ आओ—रथचक्र के नीचे गिरो और पिसो—शूर्प में पड़ कर विभक्त, विक्षिप्त हो जाओ ! नियति अनतिक्रम्य है' ! किन्तु वायस के मुख से केवल यह रव ही सुनेंगे ! 'हौंसः'—इस अमृत अभय का आह्वान नहीं सुनेंगे क्या ?

इस अभय का आह्वान कैसे सुनेंगे ? शक्ति हुई 'का', शक्तिमान् 'कः'। इन दोनों की यदि भेददृष्टि कीजिए तो शक्ति चिच्छक्ति नहीं होती; सुतरां जड़यन्त्र में तुम गिरे और पिस गये। किन्तु शक्ति-शक्तिमान् को यदि मिला कर समरस बना लो तभी न 'कं' अर्थात् 'सुखं' होगा।

यह प्रपञ्च वाक् और अर्थ की समष्टि है। मूलतः ये दोनों सम्पृक्त मिथुन हैं। किन्तु उन का वियोग विश्वव्यवहार में होते देखता हूँ। इसीलिए तो निरर्थक वाक् (आनर्थक्य, वैयर्थ्य इत्यादि के कारण) अमृत, अभय का सन्धान नहीं देती। 'का' है वाक्, 'कः' है अर्थ। 'काकः' इस शब्द में स्वरव्यञ्जन मातृकावर्ग के आदि (अकार एवं ककार) वर्ण-द्वय युक्त हैं। यदि स्वर एवं व्यञ्जन को वियुक्त कर के रखिए तो मृत्यु है, और यदि युक्त रखिए तो अमृत है। और योग में वही 'कं'–सुखं है। स्वर क्या है, मातृकावर्ण क्या है, यह सोच कर देखें। वायस के रव में इस का निर्देश है।

पुनश्च, प्राणी के प्राणापान-व्यापार की एकतानता (समता) की रक्षा करेंगे या नहीं करेंगे ? उक्त व्यापार का जो प्राकृत वेग है, उस के विराम-स्थल में भी क्या शान्त स्वस्थ रहेंगे ? यदि समता रख सकते हैं तो जरा दूर रहेगी, विरामस्थल में भी यदि 'उदासीन' (**'मध्ये वामनमासीनं'**) रह सकें तो मृत्यु नहीं आती है। का=अजपा; कः=अजपः। जरा-मृत्यु का एवं उस के पार का यह मूल रहस्य काक पुकार कर सुना रहा है। 'हौंसः' इस महाबीज में ही जरामृत्युवारिणी यह त्रिविध 'भावना' निहित है। सः=शक्ति, ह=शक्तिमान्, ॐ=उभय का सामरस्य। ॐकार की आद्य मात्रा अकार है, हकार व्यञ्जनों का शेष वर्ण है, इन दोनों के समर्थ-संयोग का सूचक है 'सः'। और हंस=स्वाभाविक प्राणनक्रिया; ॐकार के द्वारा यह जरामृत्युजयी होती है ॥१०८॥

[श्रीकाली-तत्त्वम् श्लो० १०९-१२४]

वर्णानां विश्वचित्रे निलयविलययोः स्थानमेवेति कृष्णा
वर्णैर्वाऽवर्णनीया कतियतिततिभिर्वाऽप्यनिर्देश्यवर्णा ।
वर्णानां वा पटेऽस्मिन् कलनफलनयोः स्थानमेवेति शुक्लो
योऽभास्यत्वेऽपि वर्णैः पटपटुफलने भासकः स्वप्रकाशः ॥१०९॥

अन्वय—विश्वचित्रे (निखिल विश्व के चित्रपट में) वर्णानां (समस्त वर्णों के) निलयविलययोः (निलय और विलय का) स्थानं (स्थानभूत) एव (ही) (वह श्री काली हैं) इति (इसलिए) कृष्णा (घोर कृष्णवर्ण वाली हैं) वा (अथवा) वर्णैः (वर्णों द्वारा) (वह) अवर्णनीया (वर्णनीय नहीं हैं) कति+यति+ततिभिः वाऽपि अनिर्देश्यवर्णा (कति=कितने, यति=जितने, तति=उतने इत्यादि के द्वारा उनका निर्देश नहीं हो सकता, क्या इसलिए वे श्यामा हैं ?) अस्मिन् पटे वा वर्णानां कलनफलनयोः स्थानम् एव इति (अथवा इस पट पर वर्णों के कलन और फलन का स्थान होने के कारण क्या) शुक्लः स्वप्रकाशः यः अभास्यत्वे अपि वर्णैः पटपटुफलने भासकः (काली में शुक्ल स्वप्रकाश है, जो अभास्य होते हुए भी विश्वपट पर वर्णों द्वारा पटु रूप से फलन या चित्रविस्तार का भासक है) ।

भाष्य—परिशेष में, सोलह श्लोकों में श्रीश्रीकालिका के तत्त्व का उद्घाटन किया जाता है। श्रीश्रीकाली की मूर्ति घोर कृष्णवर्णा है। उनके इस काले रूप का क्या रहस्य हैं, पहले वह समझने का यत्न करते हैं।

इस निखिल विश्व का जो चित्रपट है, उसमें जो असंख्य वर्ण हैं, उन सब वर्णों का निलय और विलय उन्हीं में है। वे स्वयं वर्णहीना हैं, अथच सभी वर्णों की प्रसूति हैं, और वर्ण-समापिका, वर्ण की ग्रासिका है— इसलिए क्या वे काली हैं ? वर्ण, पद, पादमात्रा, क्रम वा अन्वय किसी के द्वारा वे वर्णनीया नहीं हैं— इस प्रकार अवर्णनीया होने के कारण ही क्या वे काली हैं ? विश्व के अनन्त तरङ्गभङ्ग, यह ऊर्मिराशि एक अगाध दुरवगाह महा-अज्ञात में उठती है और गिर-गिर पड़ती है। उनकी 'इतनी, जितनी, कितनी' कह कर कौन इयत्ता करेगा ? इस प्रकार अनिर्देश्या हैं, इसीलिए क्या वे श्यामा हैं ? फिर माँ के पदतल में देखता हूँ कि उज्ज्वल शुभ्ररूप है। एक ओर काला और एक ओर धवल ! वे विश्व-चित्रपट के कलन-फलन में सभी वर्णों का आधार हैं, सर्व-वर्णमय हैं—तो क्या वे धवल हैं ? अब 'वर्ण' शब्द त्रिविध

अर्थ में व्यवहृत होता है—पट वा रंग (colour), पद (letter) एवं जाति (caste)। किन्तु 'वर्ण' शब्द का चाहे जो अर्थ लें—किसी भी अर्थ के द्वारा तो वे प्रकाशित नहीं होतीं। वे अपने आप में प्रकाशित हैं; स्वप्रकाशस्वरूपा हैं, और सभी कुछ की प्रकाशिका वही हैं, इस विश्वचित्र के फलन में उनके पटुत्व की और जोड़ी नहीं है ॥१०९॥

ये ग्राह्याश्चित्रवर्णा ग्रहणपरिचया मानसे बिम्बितास्ते
छायाचित्राणि साक्षाद् दधति जहति काः शक्तयः के च कायाः।
गम्भीरागोचराम्भस्तिमिरनिबिडता याऽऽदिमा सा क्षपा चेत्
स्पन्दैस्तस्याः प्रवृत्तैः किरणविकिरणैर्भाति भासा स्वयाऽह्नः ॥११०॥

अन्वय—ये ग्रहणपरिचयाः चित्रवर्णाः ग्राह्याः ते मानसे विम्बिताः (जो शब्द, स्पर्श आदि प्रत्यक्ष ग्रहण-मात्र से हमारे परिचय में आते हैं, वे ग्राह्य चित्रवर्ण हमारे मन में विम्बित होते हैं), काः शक्तयः छायाचित्राणि साक्षाद् दधति जहति च (कौन-सी शक्तियाँ इन छाया-चित्रों को साक्षात् धारण करती हैं, अर्थात् विजृम्भित करती हैं, और फिर उनका संवरण भी कर लेती हैं?) के च कायाः (यदि इन छायाचित्रों के पीछे कोई काया है, तो कौन सी हैं?) या आदिमा गम्भीर+अगोचर+अम्भः+तिमिर+निबिडता सा क्षपा चेत् (गम्भीर, अगोचर पयोराशि में जो आदिम घनान्धकार है, वह रात्रि है) तस्याः स्पन्दैः प्रवृत्तैः किरणविकिरणैः स्वया भासा अहः भाति (उस रात्रि के स्पन्दों द्वारा प्रवृत्त किरण-विकिरणों से उसकी अपनी ज्योति से ही दिन भासित होता है)।

भाष्य—तत्पश्चात्, यह जितने सब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, कामना, वेदना प्रभृति छायाचित्र की भाँति आते और चले जाते हैं, ये क्या इस चल-चित्र में कभी अपना सत्य-परिचय देते हैं? यदि यह सब वस्तुहीन इन्द्रजाल ही है, तब कौन सी जादूगरी शक्ति—छवि और पट, दृश्य और द्रष्टा इत्यादि रूप में इस भ्रान्ति को विजृम्भित करके भीतर-बाहर यह केवल छायारूप खेल दिखला रही है? और यदि यह छाया वस्तुहीन अर्थात् अवास्तव नहीं है, यदि इसके पीछे सचमुच ही कोई काया है, तब वह काया कौन-सी है? वह अचिन्त्य शक्तिरूपिणी महाकाली कैसे ये सब छवियाँ आँकती हैं, पट के ऊपर सजा देती हैं, और फिर हटा भी लेती हैं? यह रहस्यक्रीड़ा वे छिप कर खेलती हैं—इसीलिए क्या वे काली हैं? श्रुति के नासदीय-सूक्त और रात्रिसूक्त

प्रभृति में जिस आदिम, अगोचर, गम्भीर अम्भोराशि का वर्णन है, जिसके वक्ष पर यह विश्वबोध बुद्बुद् की भाँति ऊर्मिभङ्गों में फूट उठता है, वह गाढ़ तमिस्रा ही क्या मेरी माँ का नित्य काला रात्रिरूप है ? यदि वही है तो अपने उस अन्धकार में वे अपने स्पन्दन वा आलोड़न से क्या फिर प्रकाश की लहरी प्रस्फुट नहीं कर लेतीं ? इसीलिए वे स्वरूपतः आलोक में अथवा अँधेरे में सर्वत्र ही समान रूप से प्रकाशमयी हैं, उनकी आत्मज्योति अनिर्वाण है। इसीलिए वे पूर्ण दिवा ना श्रुति की 'सकृत् दिवा' रूपिणी हैं ॥११०॥

सत्यास्यं या पिधाय प्रलयघनरुचिश्चिद्घनेन्दुप्रकाशं
मायाघोरेन्द्रजालञ्च चिकुरपटलैस्तन्वती या कराली ।
नानाऽसृग्बीजकूटं प्रकटितरसना जक्षती सृज्यमानं
तत्सत्यं बाधमुक्तं हृदयनभसि नः कुर्वती सा सुहासा ॥१११॥

अन्वय - **प्रलयघनरुचिः** (प्रलय मेघ की भाँति) **या काली** (जो मां काली) **चिद्घनेन्दुप्रकाशं** (चिद्घन में इन्दु के प्रकाश सदृश अपनी) **सत्यास्यं** (सत्यरूप मुखच्छवि को) **चिकुरपटलैः** (एलायित केशपाश द्वारा) **मायाघोरेन्द्रजालं** (माया का घोर इन्द्रजाल) **तन्वती** (फैलाती रहती हैं), (और) **प्रकटितरसना** (अपनी लोलजिह्वा प्रकट करके) **सृज्यमानं** (बनते जा रहे) **नानाऽसृग्बीजकूटं** (रक्तबीज के कूट अथवा समुद्र को) **जक्षती** (ग्रस लेती हैं) **नः** (हमारे) **हृदयनभसि** (हृदय के आकाश में) **सा** (वह) (उदित होकर) **तत् सत्यं** (उस सत्य को) **बाधमुक्तं** (बाधारहित) **कुर्वती** (कर देती हैं)। (अतः वे) **सुहासा** (मुख पर मृदु-मृदु हास्य वाली हैं)।

भाष्य—माँ काली ने अपनी एलायित (बिखरी हुई) कुन्तलराशि दसों दिशाओं में सञ्चालित करके मानो माया के घोर इन्द्रजाल का विस्तार किया है और कराली का स्वाँग धरा है। किन्तु उनके इस एलायित केशपाश का यथार्थ रहस्य क्या है ? इसके द्वारा मानो उन्होंने अपनी यथार्थ या वास्तविक मुखच्छवि को, उस परम सुन्दर आनन को ढक रखा है, अर्थात् गोपन कर रखा है। इसीलिए उनका यथार्थ रूप सभी की दृष्टि के अन्तराल में ही रह जाता है। और यह कराली की देखिए लोलजिह्वा। घन, कृष्ण केशपाश के साथ ही यह रक्त रसना मानो मेघ के पास बिजली की भाँति शोभा पाती है ! जो इन्द्रजाल से शत कोटि रक्त-बीजों की स्वयं ही सृष्टि करती हैं, जिस रक्तबीज का स्वरूप है दुष्पूर तृष्णा—जितना ही मन में लगता

हैं इस बार शायद तृष्णा मिट जायगी, फिर देखता हूँ वह सिर उठाकर खड़ी हो रही है !—वही काली फिर कोप का छल करके परम करुणा से अपनी लोल जिह्वा द्वारा उस रक्तवीज के 'कूट' अथवा समूह अथवा 'पेड़' को ग्रस लेती हैं। नहीं तो किसी काल में इस नित्य तरुणायमान तृष्णा का तर्पण हो सकता था ? इस प्रकार हमने समझा कि उनका एलॉयित केशपाश इस घोर इन्द्रजाल के विस्तार की सूचना देता है, एवं लोल रसना इस इन्द्रजाल द्वारा सृष्ट असंख्य कामनाओं के निधन वा संहार को ही समझाती है। इस प्रकार उनकी सृष्टि और संहार ये दोनों सङ्केत हम पकड़ पाते हैं, फिर भी उनका यथार्थ स्वरूप, वह परम रमणीय मुखच्छवि हमारी दृष्टि के अन्तराल में ही रह जाती है। वह मुख कैसा है ? काला या धौला ? हम लोग नित्य ही इस प्रकार के द्वन्द्व-संशय की दोला में झूल रहे हैं। यह धन्धा, यह द्वन्द्व, यह संशय वे स्वयं ही हमारे मोहमुक्त हृदाकाश में पूर्णरूप से उदित होकर दूर कर देंगी। शायद इसीलिए उनके मुख पर यह मृदु-मृदु हास्य है ! ॥१११॥

नैष्पन्द्ये स्पन्द आद्यश्चिदमलगगनध्वान्तघोराम्बुदः किं
शश्वन्मौनं विलोड्य ध्वनिशतसततध्मातनादस्ततः किम् ।
ध्वान्तध्वंसाय सान्द्रा स्फुरति च परमा चिन्नभश्चन्द्रिका किं
मान्द्यं जीमूतमन्द्रे भजति भवमृतेस्तुर्यनादस्ततः किम् ॥११२॥

अन्वय—चिदमलगगनध्वान्तघोराम्बुदः (निर्मल आकाश में घोर काला मेघ) **नैष्पन्द्ये** (स्पन्दहीन स्वरूप के बीच) **आद्यः स्पन्दः किम्** (क्या आदिम स्पन्द है !) **ततः** (और वहाँ) **शश्वन्मौनं** (शाश्वत मौन को) **विलोड्य** (विलोडित कर के) **किं** (क्या) **ध्वनिशतसततध्मातनादः** (सैंकड़ों ध्वनियों से निरन्तर ध्मात विस्तृत नाद के रूप में प्रकट है ?) **सान्द्रा** (सघन) **परमा** (परम) **चिन्नभश्चन्द्रिका** (चिदाकाश की चन्द्रिका के रूप में) **ध्वान्तध्वंसाय** (अन्धकार के नाश के लिए) **किं** (क्या) **स्फुरति** (स्फुरित होती है) **ततः किं जीमूतमन्द्रे मान्द्यं भजति भवमृते तुर्यनादः ?** (तब फिर मेघमन्द्र के मन्द हो जाने पर भव अर्थात् संसरण की मृत्यु अर्थात् नाश हो जाने पर तुरीय नाद क्या नहीं रहता ?)।

भाष्य—यह जो निर्मल चिदाकाश में काली घनघटा का आविर्भाव है, यह क्या उस स्पन्दहीन स्वरूप के बीच आदिम स्पन्दन के घनीभाव को सूचित करता है ? जो पूर्ण हैं, उन में कैसे कामना का उदय होता है ! जो निःस्पन्द

हैं, उन में कैसे स्पन्द का आविर्भाव होता है ?—यह पहेली चिर-काल से दुर्बोध्य होने के कारण ही क्या वे काली हैं ? सृष्टि के मूल के जितने तत्त्व हैं; जितने बीज हैं,— सभी का वर्षण उन से है, क्या इसीलिए उस स्पन्द ने महावृष वा वर्षणकारी मेघ का रूप धारण किया है ? इसीलिए क्या हमारी उस माँ ने घोर कृष्ण अम्बुद से अपनी प्रतिमा को गढ़ा है ? और किस शाश्वत मौन का आलोड़न कर के वे महानाद के रूप में प्रकट हुई हैं— जिस नाद ने शत कोटि ऊर्मियों का विस्तार कर के यह वाङ्मय विश्वसृष्टि की है और अन्त में संवरण नाद में सब कुछ का संवरण व लय किया है ? इस काले महामेघ की घटा अंत में विलीन कर के वे क्या परम चिरपूर्ण चिद्गगन-चन्द्रिका के रूप में प्रकाश नहीं पाती हैं ? उसी प्रकार यह कभी गाढ़, कभी घोर जो मेघचन्द्र है, उसे मन्दीभूत कर के वे क्या अन्त में अपने विश्वोत्तर अभय धाम में वही तूर्यनाद या तुरीय नाद नहीं सुनाती हैं ?—जिस तुरीय नाद में स्थूल, सूक्ष्म, कारण सब कुछ का ही अवसान है, एवं जिस में महाभीतिकर इस पुनः-पुनः 'भव' का वा 'संसरण' का भी 'मरण' हो जाता है, अर्थात् गतागतिचक्र थम जाता है। सुतरां उनके काले रूप के पीछे रहता है परम आलोक एवं उनके इस महानाद के विभिन्न गर्जन-आलोड़न के पीछे भी है वही परम नाद वा तुरीय शान्त प्रपञ्चोपशम नाद ॥११२॥

क्षिप्येर्विश्वं विमृश्य त्वदितरदिव यत् स्थापयेर्यत् स्वभित्तौ
तच्च स्वात्मेति विद्याः प्रमिति पदमितं वस्तु संख्यापयेर्यत्।
स्वात्मैक्यं च प्रमेयादिकमिव गमयेर्दर्पणास्यं स्वबिम्बं
सातुं स्पन्दं नदेस्त्वं तव कलनकृतौ पञ्चधा नित्यकालि ॥११३॥

अन्वय—हे नित्यकालि, त्वं तव कलनकृतौ पञ्चधा (हे नित्यकालि ! तुम अपने कलन-व्यापार में पञ्चधा हो), यत् विश्वं त्वत् इतरत् इव विमृश्य क्षिप्येः, स्वभित्तौ यत् स्थापयेः (जिस विश्व को अपने से भिन्नवत् विमर्श कर के उछालती हो और स्वभित्ति में स्थापित भी रखती हो—यह क्षेपण है), तत् च 'स्वात्मा' इति विद्याः (उसे 'स्वात्मा' ऐसा समझती हो— यह ज्ञान है) यत् प्रमितिपदमितं वस्तु संख्यापयेः (जिस विश्व को 'प्रमिति' पदमित अर्थात् केवलमात्र बोधभास्य वस्तु के रूप में संख्यान करती हो—यह संख्यान हुआ), स्वात्म+ऐक्यं च प्रमेय+आदिकमिव दर्पणास्यं स्वबिम्बं गमयेः (दर्पणस्थित स्वबिम्ब को प्रमेयादि की भाँति स्वात्मैक्य को प्राप्त कराती हो—यह गमन

है) **स्पन्दं सातुं नदेः** (स्पन्द का अवस्थान करने के लिए तुम नाद करती हो—यह नाद है) ।

भाष्य—हे मातः ! नित्यकालि ! तुम परम तत्त्व के साथ समरसा, अभिन्ना शक्तिस्वरूपिणी हो । तुम्हारे सिवा अन्य क्या था या है जिसे इस विश्व-कन्दुक-रूप में उछाल-उछाल कर यह खेल खेल रही हो ? 'मानो वह और कुछ है तुम नहीं हो' - ऐसा ख्याल ही तुम्हें क्यों होता है ? इस प्रकार जिसे उछाल कर फेंक देती हो उसे क्या बिल्कुल ही वस्तुहीन, सर्वस्वहीन बना कर अपने अङ्क से नितान्त दूर फेंक देती हो ? उसे क्या अपनी भित्ति में स्थापन कर के नहीं रखती हो; यह मानो आसमान में गुड्डी उड़ा रही हो, किन्तु डोर रखती हो अपने हाथ में । उन लाख-लाख गुड्डियों में से यदि कोई एक कट जाय तो वह भी तो तुम्हारी गोद में ही लौट आती है । जो उड़ता है वह भले ही आत्मविस्मृत हो, वह नहीं जानता कौन सूत्रधर उसे उडा रहा है, किन्तु तुम तो उसे नहीं भूलती हो ! बोधरूप दर्पण में जो कुछ प्रस्फुटित होता है, उसे तुम्हीं तो रूप, मान इत्यादि दिया करती हो । फिर दर्पण को तोड कर जब प्रतिबिम्ब को बिम्ब में मिला लेती हो, तब फिर तुम जो एक हो वही एक हो । सब कुछ को अद्वयस्वरूप में खींच लोगी इसीलिए बहिःस्पन्द का संवरण-नाद में अवसान किया करती हो । इसलिए नित्यकालि ! क्षेपण, ज्ञान, संख्यान, गमन और नाद—इन पाँच रूपों में तुम ने अपना कलन प्रपञ्चित किया है ॥११३॥

> **व्यस्तं खड्गेन वस्तु क्षिपसि यदसकृत् स्वात्मनो देशकाल-**
> **सम्बन्धापेक्षतत्त्वं जनिमृतिभयदं हंसि तच्चापि हेयम् ।**
> **व्यस्तं मुण्डं कराब्जे कलयसि च गले मुण्डमालां समस्तां**
> **दृग्भासा वेत्सि दृश्यं गिरसि रसनया यद् बहिः स्फारनादे ॥११४॥**

अन्वय—व्यस्तं वस्तु यत् असकृत् खड्गेन क्षिपसि (हे माता, तुम अपने खड्ग से 'व्यस्त' अर्थात् परिच्छिन्न वस्तु को वार-वार जो खण्ड-खण्ड कर डालती हो) **तत् च अपि स्वात्मनः हेयं जनिमृतिभयदं देशकालसम्बन्धापेक्षतत्त्वं हंसि** (वह भी तुम्हारा अपना ही रूप है, जो हेय है, जन्म-मृत्यु-भय-प्रद है, देश-काल-सम्बन्ध का अपेक्षी तत्त्व है, उसे भी तुम छिन्न करती हो), **कराब्जे व्यस्तं मुण्डं गले च समस्तां मुण्डमालां कलयसि** (कर-कमल में एक व्यस्त मुण्ड अर्थात् छिन्न मुण्ड और गले में समस्ता मुण्डमाला धारण करती हो) **दृश्यं दृग्भासा**

वेत्सि (दृश्य को तुम अपनी नेत्रज्योति से जानती हो) यद् वहिः स्फारनादे रसनया गिरसि (जो वाह्य है, उसे स्फारनाद में रसना से निगल जाती हो) ।

भाष्य—और मां! तुम्हारे खड्ग का ही क्या अपूर्व रहस्य है ! तुम भूमा-रूपिणी अखण्ड सामग्री हो; अथच अपने खड्ग से उसे व्यस्त, परिच्छिन्न वस्तुरूप में बार-बार खण्ड करके फेंक देती हो। स्वयं 'दो बनूंगी, बहु बनूंगी, अगणित बनूंगी' —इसी साध से क्या तुमने असि धारण की है? देश-काल, कार्य-कारण इत्यादि नाना सम्बन्धों का जाल ऊर्णनाभ (मकड़ी) की भाँति बुन कर तुम क्या व्यस्त, खण्ड वस्तुओं को अपने बीच गूँथ लेती हो? क्या अपूर्व उपादेय तुम्हारा यह सब विरचन है? सब तो तुममय है, तुम्हीं तो सब हो ! अथच भ्रान्ति-रूप नें सभी को भुलाकर तुम अपने को जन्म, मृत्यु, दुःख, पाश इत्यादि रूप महाबल दैत्यों के रूप में ही दिखलाती हो। मातृज्ञान में तुम उपादेय हो, फिर भी भ्रान्ति-ज्ञान में तुम मानो हेय बन गई हो! फिर दयारूप में इस हेयरूप असुर को तुमने असि द्वारा छिन्न किया है! तुम्हारी इस लीला का पार पाना कठिन है। और तुम्हारे हाथ में देखते हैं एक छिन्न मुण्ड, इस ओर गले में देखते हैं. बहुत से छिन्न मुण्डों के एकत्र समावेश में ग्रथित एक अपरूप मुण्डमाला। तुम्हारे करकमल में एक व्यस्त मुण्ड है, और गले में समस्त मुण्डों की माला है— इस प्रकार व्यस्त और समस्त दोनों को तुम धारण किए हुए हो। तुम्हारे एक हाथ में वर, दूसरे हाथ में अभय है। यह व्यस्त-समस्त की जो सन्धि वा साम्य-स्थल है, वही क्या वर है? और व्यस्त-समस्त की अतीत भूमि ही क्या अभय है? इसीलिए क्या श्रुति में सुनते हैं, इस सन्धि अथवा मिथुन में सब कुछ समृद्धि और तृप्ति, अभ्युदय वा वरलाभ है एवं उसके भी पार उस रसतम में परम अभय, चरम शान्ति है? हे माँ! तुम इसीलिए अभ्युदय और निःश्रेयस्, भोग और मोक्ष --दोनों को ही अपने दोनों हाथों से वितरण करती हो। यह सभी रहस्य तुम अपनी नेत्र-ज्योति में देखा करती हो। दूसरा और कौन जानता है? और तुम्हारी जिह्वा बाह्यवत् इस अनात्मा को आत्मसात् करती हैं, और अन्त में स्फारनाद में प्रपञ्च का लय हो जाता है ॥११४॥

स्वाधिष्ठानप्रकाशो विमृशति च कथं स्वामनन्यां स्फुरत्ता-
मीशं मायां सदाख्यं परमशिवपदे कञ्चुकांश्चापि कस्मात् ।
नाहं नेदं न चोभे न च भवति गिरः प्रत्ययश्चापि यत्र
तत्र प्रत्येति काली विलसति च मुदा नित्यकैवल्यतत्त्वा ॥११५॥

अन्वय—स्वाधिष्ठानप्रकाशः कथं स्वाम् अनन्यां स्फुरत्तां विमृशति (तुम्हारा स्वाधिष्ठान-प्रकाशस्वरूप अपनी अनन्या अर्थात् अभिन्ना स्फुरत्ता का 'विमर्श' कैसे करता है, अर्थात् 'तुम'-'मैं', 'दृश्य'-'द्रष्टा' इस प्रकर की भेदात्मक स्फूर्ति कैसे करता है?) **परमशिवपदे** (हे परम शिव-पदस्वरूपा) **सत्+आख्यम् ईशं** (सदाशिव, ईश्वर) **मायां** (माया) **कञ्चुकान्** (कञ्चुक अर्थात् कोश) (इन सबको) **च अपि** (भी) **कस्मात्** (कैसे) (प्रसूत करती हो?)। **यत्र न अहं न इदं न च उभे न च गिरः प्रत्ययः च अपि भवति** (जहाँ न 'मैं', न 'यह', न ये दोनों रहते हैं, और न ही वाणी का प्रत्यय होता है) **तत्र काली प्रत्येति** (वहाँ काली प्रत्यय करती हैं) **नित्यकैवल्यरूपा मुदा विलसति च** (और नित्य कैवल्य-स्वरूपा सामोद विलास भी करती हैं)।

भाष्य—पुनः प्रश्न उठता है—माँ! तुमने अपने स्वाधिष्ठान प्रकाश-स्वरूप में किस प्रकार 'तुम-मैं' 'दृश्य-द्रष्टा' 'यह-वह'—इन सव विचित्र स्फूर्त्तियों के रूप प्रस्फुटित कर रखे हैं! किन्तु जहाँ, जो कुछ स्फूर्ति वा प्रकाश है वह सभी तो तुम्हारी ही स्वतःस्फूर्त्ति है, तुम्हीं तो एकमात्र प्रकाश हो। तुम्हीं तो स्वयं परमशिवपद हो—किन्तु किस प्रकार उससे सदाशिव, ईश्वर, प्रकृति, माया प्रभृति तत्त्वों की व कञ्चुक (कोश) की तुम प्रसूति वनी हो? सुनते हैं तुम नियत कैवल्यरूपा हो; अपने बीच भेद का कोई बीज नहीं रखती हो! अथवा अपने अगाध संगोपन में 'मैं—तुम' रूपी भेद का वीज क्या अपने बीच ही रख लेती हो? तुम्हारे अगाध रहस्य में किसी वाच्य-वाचक को गति या अवकाश नहीं है। तब भी हे कालि! तुम अपने कलन में, अनन्त प्रत्यय वा बोध-रूप में तत्त्व, वस्तु, सम्वन्ध के वेश में—अपने को दिखलाती हो, प्रकाशित करती हो। चिति हो कर भी तुम विश्व-भुवन की परिचिति हो। और अपने कैवल्य-स्वरूप में साक्षात् आनन्दरूपिणी तुम, शिवादि तत्त्व को लेकर नियत आनन्द-उल्लास किया करती हो ॥११५॥

चैतन्ये निष्क्रियेऽसौ शवशिवहृदि या प्रैधते शक्तिरूपा
सा शक्तिश्चेतयित्री चितिरिति गदिता तामृते चिन्मृतेव।
यास्ते तिस्रो लहर्यः क्कृतिरतिमतयः सच्चिदानन्दसिन्धौ
ताभिः सद् यत्प्रमेयं प्रमितिरिति चिदानन्द उल्लासराशिः ॥११६॥

अन्वय—चैतन्ये निष्क्रिये शवशिवहृदि या असौ शक्तिरूपा प्रैधते (चैतन्य की निष्क्रिय अवस्था में शव-शिव के हृदय में जो शक्ति प्रकृष्टरूप में वृद्धि

को प्राप्त होती है), **सा शक्तिः चेतयित्री चितिः इति गदिता** (वह शक्ति चेतना देने वाली है, अतः 'चिति' कहलाती है) **ताम् ऋते चित् मृता इव** (उस शक्ति के विना चित् मृता जैसी रहती है, अर्थात् चिति नहीं वनती है) **सच्चिदानन्दसिन्धौ याः कृतिरतिमतयः ते तिस्रो लहर्यः** (सच्चिदानन्द सिन्धु में कृति, रति, मति रूप जो तुम्हारी तीन लहरियाँ हैं) **ताभिः सत् प्रमेयं** ('सत्' उनसे प्रमेय वनता है) **चित् प्रमितिः इति** ('चित्' प्रमिति या ज्ञान वनती है) **आनन्दः उल्लासराशिः** (और आनन्द उल्लासराशि वनता है)। (चतुर्थ चरण में 'यत्' पाद-पूरक-मात्र है)।

भाष्य—और नित्यकैवल्य में भी हम तुम्हारा अपरूप विचित्र विलास देखते हैं। तुम्हारे पदतल में शव-शिव हैं। वह क्या केवल निष्क्रिय चैतन्य, निरञ्जन अधिष्ठान-मात्र है? किसी-किसी मूर्ति में देखा जाता है, शिव बाहु के ऊपर भार देकर सिर को थोड़ा-सा उठाए हुए हैं। इस प्रकार वक्र भङ्गी से सिर उठाकर वे तुम्हारी लीला के 'साक्षी' वा द्रष्टा भी वनते हैं क्या? स्वरूप में रमणेच्छा के द्वारा तुम दिखा देती हो कि तुम्हारे विना चित् केवल चित् ही रहती है, चिति नहीं बनती, तुम्हारे विना वह मूक, स्तब्ध आनन्द मात्र है, वहाँ उल्लास-विलास नहीं है। चैतन्य के अधिष्ठान में शक्तिरूपा तुम महोत्साह से नाचती चलती हो। कौन कहता है कि वह शक्ति जड़, केवल दृश्या वा भोग्या है? वह चेतन की भी चेतयित्री वा चैतन्य-सम्पादन-कारिणी है। वह चिति-रूपा जगद्व्यापिनी **"चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्")*** है। चिति के बिना चित् शवशिव है, मानो मुर्दे की भाँति है। तुम ही सच्चिदानन्द समुद्र में तीन लहरियाँ उठाया करती हो—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इसके फलस्वरूप सत् ने ज्ञेय के आकार में सत्य रूप धारण किया चित् की ज्ञान-ज्ञातृ-रूप में चेतना हुई, और आनन्द अनन्त उल्लासराशि-रूप में आनन्दी हुआ। इस रूप में सच्चिदानन्द का आत्मप्रकाश सार्थक हुआ है ॥११६॥

आनन्दव्योमसान्द्रा त्वमसि शशिकला निष्कला या तुरीया
साऽऽद्या नैष्कल्यनित्या कलयसि च कलां शक्तितत्त्वादिरूपाम्।
उन्मेषे पूर्णिमोमा ध्रुवनिजनिलयेऽव्याकृताऽमास्यमेया
व्यक्तौ कायादिमुख्याः कतिविधकलनास्ते कला अम्ब कालि ॥११७॥

---

* दुर्गासप्तशती ५।७८—अनुवादिका।

अन्वय—अम्ब कालि (हे माता काली) **त्वम् आनन्दव्योमसान्द्रा शशिकला असि** (तुम आनन्द-व्योम की घनीभूत अवस्था चन्द्रकला हो) **या तुरीया निष्कला सा आद्या** (जो तुरीया और निष्कला है, वह फिर आद्या भी है) **नैष्कल्यनित्या शक्तितत्त्वादिरूपां कलां च कलयसि** (नित्यनिष्कला हो, फिर भी शक्तितत्त्वादिरूपा कला का कलन करती हो) **उन्मेषे पूर्णिमा उमा** (कला का उन्मेष होने पर तुम पूर्णिमा उमा हो) **ध्रुवनिजनिलये अव्याकृता** (अपने ध्रुव आलय में तुम अव्याकृता अमा हो) **व्यक्तौ अमेया असि** (व्यक्ति अर्थात् व्याकृति में तुम अमेया हो) **कामादिमुख्याः कतिविधकलनाः ते कलाः** (तुम्हारी कलाएँ कामादि रूप में न जाने कितने प्रकार की हैं)।

भाष्य सर्वश्रुति-प्रसिद्ध जो आनन्दरूप आकाश है, जो सर्वद्वन्द्व का उपरमस्थान है, जिसका योग-वियोग नहीं होता, जो पूर्ण और परम है—उसी आदि आनन्दव्योम में तुम कैसे अप्राकृत सान्द्र मनोरम शशिकलारूप में उदित हुई? किस प्रकार तुमने स्वरूपतः नाद-विन्दु-कलातीत-निष्कला तुरीया परा-स्वरूपिणी होकर भी शक्तिकला का आकार धारण किया, ललाट में यह शशिकला धारण की? जो पूर्ण और परम है, उसमें सामरस्य में अच्युत रहकर भी तुम शिवशक्ति-तत्त्वादि कला में कैसे दिखाई दीं? इस इन्दुकला के प्रकाश में क्या तुम्हारी परम अचिन्त्य इच्छा का ही आविर्भाव सूचित होता है? अपने द्वारा कल्पित यह जो कला है इसका पूर्णोदय होने पर अर्थात् कला की सम्पूर्णता लाभ होने पर तुम वनती हो पौर्णमासी-रूपिणी उमा, श्रीविद्या वा लक्ष्मीस्वरूपिणी और अपने गोपन, ध्रुव आलय में तुम नित्य अमारूपिणी हो—जहाँ समुदित समस्त कलानिचय विलय को प्राप्त होता है, वहाँ भी तुम क्या ललाट में शशिकला धारण करती हो? एक ओर उमा दूसरी ओर अमा—यह दोनों हुई परम की सीमा। इन दो सीमाओं के बीच 'अ उ म्' यह मात्रात्रय लेकर समुदित कामादिकला में तुम्हारे कितने ही असंख्य कलन, कितने ही विचित्र परिणाम हैं—कौन उनका संख्यान वा गणन करेगा? ११७॥

ज्योतिर्व्योम्नि स्वकीये शिरसि निजकणान् भास्करा ये महान्तो
नादज्योतिर्विलोभ्याकलयसि लहरीः केन्द्रसान्द्रांश्च विन्दून्।
धाराधारः स कालः क्रमलवविरही बैन्दवो यः क्रमेत
धत्से चोभौ स्वरूपेऽप्यनवरगहने काल एवासि काली ॥११८॥

अन्वय –स्वकीये ज्योतिर्व्योम्नि ये महान्तः भास्कराः [तान्] निजकणान् किरसि (अपने ज्योतिर्मय आकाश में तुम अपने कणों को फैलाती हो, जो कि महान् भास्कर के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं) **नादज्योतिः विलोभ्य लहरीः केन्द्रसान्द्रान् बिन्दून् च आकलयसि** (नादज्योति को स्पन्दित करके तुम नादलहरियों को और केन्द्र में घनीभूत बिन्दुओं को सृष्ट करती हो) **स कालः क्रमलवविरही धाराऽऽधारः** (वह काल क्रमशून्य धारा का आधार-रूप है) **यः बैन्दवः क्रमेत** (वही काल बैन्दव रूप में क्रमिक बनता है) **उभौ च अनवरगहने अपि स्वरूपे धत्से** (अपने श्रेष्ठ और गहन स्वरूप में तुम काल के इन दोनों रूपों को धारण करती हो) **काली काल एव असि** (तुम काल-स्वरूपा काली हो) ।

भाष्य—पूर्वश्लोक में हमने आनन्द-व्योम वा आनन्दरूप आकाश की बात कही है । किन्तु वह क्या केवल आनन्दव्योम है? वह तो सभी ज्योतियों की ज्योति है । परम आश्चर्यमय उस ज्योतिर्व्योम में तुम्हारी ज्योति मानो सहस्र कणों में विच्छुरित होकर आन्तर और बहिर्विश्व में कितने ही महान् भास्वर रूप में प्रकाश पा रही है! अपने आनन्द-ज्योति-रूप इस व्योम को स्पन्दित कर के तुम बनती हो 'नाद' एवं नाद की लहरी । नाद है असीम और विस्तृत । उस असीम वितत नाद में परम घनीभाव की सृष्टि करके, अर्थात् उस विस्तृत नाद को उसकी चरम सूक्ष्म अवस्था में ले जा कर सङ्कुचित कर के तुम 'बिन्दु-रूप' धारण करती हो । नाद एवं बिन्दु इन दोनों में तब तुम पूर्ण होती हो । और इन दोनों पूर्णों के बीच तुम 'कला-कला में' लीलायित होती हो, निज को विवर्तित करती हो । नाद-बिन्दु इन दोनों की लहरें दोनों की ओर धावमान हैं । अर्थात् एक बार विस्तार-- फिर संकोच एवं एक बार संकोच फिर विस्तार, इस प्रकार एक बार विस्तार अपने को सङ्कुचित करना चाहता है, फिर संकोच अपने को विस्तृत करने का प्रयास करता है । यह जो परस्पर के बीच गति वा धावन है—यही जगत् है । धावन में भी फिर तुम्हारी दो धाराएँ हैं - नादरूप में नित्य महाकाल, धारा के आधार-रूप में वर्तमान है – वह अक्रम वा क्रमशून्य (अर्थात् succession वा पारम्पर्य तब भी नहीं आया है) एवं भग्नांशविहीन अर्थात् अखण्ड है । और बैन्दव रूप में तुम बिन्दु बनती हो । क्रम एवं अंशरूप धारण करती हो, पहले के प्रतीक के रूप में देखता हूँ तुम्हारे पदतल में स्वयं महाकाल को और

द्वितीयतः मुण्डमाला-मेखला में देखता हूँ तुम्हारी बैन्दवी मूर्ति को। इसीलिए तुम काल-ब्रह्म काली हो ॥११८॥

उद्गीर्णं किञ्च जिह्वा त्वरयति कवलं केवलं व्याकृतं किं
साध्वी वाऽसृक्स्फुरन्ती दशनवररुचिश्चर्वणे व्याहृतानाम्।
अग्नीषोमार्कक्लृप्ताः किमपि तव दृशो व्यावृतव्यञ्जनाय
निर्व्यापारैकतत्त्वा कृतिवृतिहृतिभिर्व्यापृता व्यापिताभिः ॥११९॥

अन्वय—किञ्च, उद्गीर्णं व्याकृतं केवलं कवलं (कर्तुं) किं जिह्वा त्वरयति (तुमसे जो कुछ व्याकृत हुआ है, अर्थात् तुमने जो कुछ उद्गीर्ण किया है या उगल दिया है, उसी को कवल बनाने के लिए क्या तुम्हारी जिह्वा त्वरा से प्रयत्नशील है !) साध्वी असृक्स्फुरन्ती दशनवररुचिः वा व्याहृतानां (चर्वितानां) चर्वणे (त्वरयति) (अथवा रक्त से रञ्जित तुम्हारी सुन्दर दन्तकान्ति क्या व्याहृत या सृष्टवस्तु के ही निगिरण अथवा चर्वितवस्तु के ही चर्वण में व्यापृत है?) अग्नीषोमार्कक्लृप्ताः तव दृशः अपि किं व्यावृत-व्यञ्जनाय (अग्नि, सोम, अर्क रूप तुम्हारे तीन नेत्र क्या 'व्यावृत' अर्थात् जो विशेष रूप से आवृत है, उसके व्यजन के लिए हैं?) निर्व्यापारैकतत्त्वा व्यापिताभिः कृति-वृतिहृतिभिः कथं व्यापृता (तुम निर्व्यापारैकतत्त्वा हो, अर्थात् पूर्ण ब्रह्म-स्वरूपा हो, फिर भी व्यापक कृति, वृति, हृति अर्थात् सृष्टि, स्थिति व लय से क्यों व्यापृत हो?)।

भाष्य—अव्याकृत तुमसे जो कुछ व्याकृत होता है, अर्थात् तुमने जो कुछ उद्गीर्ण कर दिया है, अथवा बाहर फेंक दिया है, उस सब-कुछ को फिर अपने कवल में लाने के लिए ही क्या तुम्हारी रसना व्यापृत बनी हुई है ? उसे क्या और कोई काम तुमने नहीं दिया है? फिर तुम्हारी रक्त-राग-रञ्जित दशन-वररुचि, दन्तपङ्क्ति क्या केवल व्याहृत या सृष्ट वस्तुओं के ही व्याहरण में या चर्वित के ही चर्वण में निरत है? तुम्हारी आदि व्याहृति क्या है—जिसे तीन या सात या अनन्त व्याहृतियों के रूप में तुमने प्रकाशित किया है? व्याहृति की ग्रन्थि-सन्धि सब कुछ शायद तुम्हारे चर्वण में समीकृत है। तब क्या तुम्हारे दशन की रक्तच्छटा, जिस व्याहृति-होम में सत्र वैगुण्यों का समाधान होता है—उस व्याहृति-होम की शिखा है? फिर देखता हूँ तुम त्रिनयनी हो—अर्क, अग्नि, सोम—ये तीन नयन क्या तुम्हारे रसना-स्रुवा से जो नित्य आत्महोम चलता है, उसी के तीन 'होता' हैं। वे क्या

केवल इसी कर्म में व्रती हो? सृष्टि, स्थिति, लय; नाभि, अर, नेमि — ये सभी क्या तुम्हारे इस महाकर्म के सङ्केत हैं।

तुम तो निर्व्यापारैकतत्त्वा, पूर्ण-ब्रह्म-स्वरूपा हो, किन्तु अनन्त व्यापार में फिर तुम व्यापृत क्यों रहती हो? किस प्रयोजन से इतनी व्याकृति—व्याहृति—व्यावृति—की घटा है? यह क्या सभी केवल स्वभाव-वशतः ही होता चलता है? स्वभाववादी तो यही कहते हैं कि सब कुछ अपने आप प्रकृति के वश में होता चलता है। किन्तु हम तो जानते हैं कि तुम जब तक निमित्त न बनो तब तक स्वभाव भी स्व+अभाव बन जाता है। अर्थात् उसका भी अस्तित्व नहीं रहता। इसलिए तुम्हीं तो सब कुछ का मूल हो ॥११८॥

जिह्वायां वैखरी वाग् दति किमपि वसेन्मध्यमा स्फोटमध्या
पश्यन्तीं च त्रयीं किं व्यवसितमनुदृग्-ज्योतिषा स्वेन पश्येः।
सौषुम्णं मध्यगा त्वं प्रविशसि कुहरं न्यस्यसि न्यस्तवर्णान्
मात्रा वाऽप्यर्धमात्राऽप्यमितपररवा नीरवा त्वं परा वाक् ॥१२०॥

अन्वय—जिह्वायां वैखरी वाक् (जिह्वा में वैखरी वाक्) स्फोटमध्या किमपि दति वसेत् (और स्फोटमध्या मध्यमा क्या तुम्हारी दन्तपंक्ति में रहती है ?) पश्यन्तीं च त्रयीं किं स्वेन व्यवसितमनुदृग्-ज्योतिषा पश्येः (त्रयी वा वेदरूपा पश्यन्ती को क्या तुम निश्चित मन्त्र और मन्त्रार्थ के रूप में अपनी नयनज्योति से देखती हो ?) मध्यगा त्वं सौषुम्णं कुहरं प्रविशसि (मध्यवर्तिनी हो कर तुम सुषुम्णा-कुहर में प्रवेश करती हो) न्यस्तवर्णान् न्यस्यसि (यथा-स्थान वर्णों का न्यास करती हो) मात्रा वाऽपि अर्धमात्राऽपि अमितपररवा त्वं नीरवा परा वाक् (मात्रा, अर्धमात्रा, पूर्णमात्रा और अमात्रा इन चार चरणों द्वारा चलने वाली हे परा वाक्! तुम अमित-पर-रवा अर्थात् परात्परा और नीरवा हो)।

भाष्य—वाक् की दृष्टि से जब देखता हूँ तब सोचता हूँ कि, तुम ने अपनी व्यक्त रसना में क्या वैखरी वाक् को प्रकाशित कर रखा है ? [वैखरी वाक् है स्थूल स्फुटवाणी वा व्यक्त शब्द, एवं स्मरण रखना होगा कि वाचिक, उपांशु और मानस ये त्रिविध व्यवहार ही वैखरी के अन्तर्गत हैं।] और तुमने अपनी ईषत् विस्फुट दशनपङ्क्ति पर क्या उसी मध्यमा वाक् को प्रकाशित किया है जो मध्यमा बाहर की इस स्फुट वाणी से नित्य स्फोट में उत्तरण का सेतुस्वरूप है ? अपौरुषेय त्रयी या वेदरूपा जो पश्यन्ती वाक् है—उसे

क्या साक्षादनुभवगोचर मन्त्र एवं मन्त्रार्थ के रूप में तुम अपनी अकृपण, अकुण्ठित नयनज्योति से प्रकाशित किए हुए हो ! वैखरी रूप त्याग कर मातृकारूपिणी तुम प्रथम निगूढ़ा मध्यमा तनु धारण कर के सुषुम्णा कुहर में प्रविष्ट हुईं, एवं उस के फलस्वरूप चक्र-चक्र में, कमल-कमल में, प्रत्येक का वर्णमय मन्त्रविन्यास करती चली गईं ! अन्त में महाकुण्डलिनीस्वरूपा तुम, परतत्त्व-सामरस्य के पथ पर अग्रसर हो कर क्या अपने मुदित यन्त्र-तन्त्र को प्रस्फुटित वा 'पश्यत्' वा प्रकट रूप में प्रकाशित कर देती हो ? तुम कौन से अभिसार में चली हो ! परतत्त्व या परा वाक् की ओर नहीं चलती हो क्या ? तुम क्या स्वरूपतः परात्परा या परा के भी पार नहीं हो ? तब भी क्यों मात्रा, अर्धमात्रा, पूर्णमात्रा, एवं अमात्रा इस चतुष्पाद में हे परा वाक् ! तुम नियत ही चल रही हो ? इसी प्रकार क्या तुम नाद, बिन्दु, ज्योति व आनन्द की विच्छिन्न धारा को वा मुक्त वेणी को उस परम संगम में जा कर युक्त करती हो ? इसीलिए क्या तुम्हारा यह अशेष अभिसार है ? ॥१२०॥

वाग्दोहं धोक्षि तारं कलयसि च मनून् हुंफडादीन् समर्थान्
वौषट् स्वाहा स्वधैवं कतिविधमनवस्ते च विद्याः कियत्यः ।
लक्ष्मीर्वाणी च काली निजनिजमनुगाः स्वस्ववर्णैः प्रकाश्याः
स्वैः स्वैस्तन्त्रैः प्रकार्यास्त्वमसि निजकृतौ कालिकाद्या स्वतन्त्रा ॥१२१

अन्वय—वाग्दोहं तारं धोक्षि (वाग्दोह-रूप ॐकार का तुम दोहन करती हो) **हुंफडादीन् समर्थान् मनून् च कलयसि** ('हूँ फट्' इत्यादि समर्थ मन्त्रों का कलन करती हो), **वौषट् स्वाहा स्वधा एवं ते कतिविधमनवः विद्याः च कियत्यः** ('वौषट्' 'स्वाहा' 'स्वधा' इत्यादि कितने ही प्रकार के तुम्हारे मन्त्र हैं, ओर कितनी ही विद्याएं हैं) **लक्ष्मीः वाणी काली च निजनिजमनुगाः स्वस्ववर्णैः प्रकाश्याः** (लक्ष्मी, वाणी और काली अपने-अपने मन्त्रों द्वारा गम्य हैं और अपने-अपने वर्णों द्वारा प्रकाश्य हैं) **स्वैः स्वैः तन्त्रैः प्रकार्याः** (वे तीनों देवियाँ अपने-अपने तन्त्र द्वारा आकारित हैं) **त्वं निजकृतौ आद्या स्वतन्त्रा कालिका असि** (तुम अपनी कृति में स्वतन्त्रा हो, आद्या कालिका हो) ।

भाष्य—तुम ने निखिल वाक् के सार वाग्दोहरूप ॐकार का किस के द्वारा उस शान्तातीत परा वाक् से दोहन किया है ? तुम तो केवल शान्ता नहीं हो, शान्तातीता हो—इसलिए अपने को 'तूष्णीं नाद' इस युग्म-रूप में व्यक्त कर के तुम ने बिन्दु का मन्थन किया है, एवं उसी मन्थन से ही अकारादि

समस्त कलावर्णों का उद्भव हुआ है। तूष्णीं हैं शिव, एवं शिवा हैं नाद— इन दोनों के मेलन से ही बिन्दु का मन्थन होता है, जैसे उत्तर और अधर अरणि के घर्षण से अग्नि का मन्थन होता है। उस के पश्चात्, तुम 'हुं' 'फट्' इत्यादि कितने ही उत्सों के रूप में शक्ति का फ़व्वारा खोल देती हो। तुम्हारी मन्त्रमयी महाविद्या ही कितनी असङ्ख्य हैं! महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती - सभी को तुम ने अपने-अपने मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र दिए हैं, एवं उसके मध्य से ही प्रकाशित और आकारित हुई है दैवी सम्पत्। तुम स्वयं किसी मन्त्र से, किसी यन्त्र-तन्त्र से पकड़ में आओगी, इसीलिए सर्वेश्वरेश्वरी, स्वच्छन्दा, स्वतन्त्रा नहीं रही हो? अर्थात् तुम स्वतन्त्रा होकर भी हमारी पकड़ में आओगी, इसीलिए अपना स्वातन्त्र्य विसर्जित करके मानो मन्त्र की परतन्त्र होकर, मन्त्राधीना होकर प्रकाशित हुई हो, इसीलिए अकिञ्चन प्रपन्न की भी तुम माँ हो, करुणावरुणालया हो ॥१२०॥

नो मन्त्रैर्मन्त्रितं तद् यतितति‌पटुनी यन्त्रतन्त्रे न तत्र
नो ध्यानं तच्च धत्ते चिदपि न तु चितिर्निर्विकल्पे समाधौ।
शान्तातीतं च शान्ते हर हरदयिते चण्डमुण्डौ पशू यौ
रुन्धानौ स्तः प्रपित्सुं स्वयमिह वृणुया यद्वरेण्यं शरण्ये ॥१२२॥

अन्वय—शान्तातीतं यत् च वरेण्यं तत् मन्त्रैः नो मन्त्रितम् (जो शान्तातीत वरेण्य तत्त्व है, वह मन्त्रों द्वारा मन्त्रित अर्थात् मन्त्रों के अधीन नहीं है) यतिततिपटुनी यन्त्रतन्त्रे तत्र न (यति अर्थात् यमन और तति अर्थात् तनन में पटु या कुशल वहाँ समर्थ नहीं हैं) ध्यानं च तत् नो धत्ते (ध्यान उसको धारण नहीं करता अर्थात् वह ध्यान का विषय नहीं है) निर्विकल्पे समाधौ चित् अपि न तु चितिः (निर्विकल्प समाधि में उस तत्त्व के विषय में चिति नहीं बन सकती, अर्थात् ज्ञान भी उसका चयन नहीं कर सकता) हे शान्ते, शरण्ये हरदयिते! यौ चण्डमुण्डौ पशू प्रपित्सुं रुन्धानौ स्तः[तौ]हर (चण्ड-मुण्ड नाम के जो दो पशु प्रपत्ति के इच्छुक का पथ रोक रहे हैं, उनका तुम हरण करो) स्वयम् इह वृणुयाः (उस प्रपित्सु का तुम स्वयं वरण करो)।

भाष्य—किन्तु मन्त्राधीना होकर भी तुम सर्वमन्त्रेश्वरी हो, फिर कहो तो किस मन्त्रशूल से तुमने अपने को मन्त्रित किया है, फिर तुम तो सबकी मूल यन्त्री हो, अपनी महिमा से ध्रुवा-स्थिता हो, किन्तु तुम्हारा चालक फिर कौन संयमनकुशल यन्त्रचक्र है? नित्यस्वतन्त्रा तुम्हें कौन 'तायन' (विस्तार) में

निपुण तन्त्र-पाशाङ्कुश तति-गति-पद्धति सिखायेगा ? तुम जो नित्य मुक्तकेशी हो, इसी कारण कहो तो किस ध्यान में सचमुच तुम्हें 'धारणा' प्राप्त होती है ! कठश्रुति में जिस चरम आहुति की वात कही गई है—'तद् यच्छेत् शान्त आत्मनि*'—वह निर्विकल्प 'शान्त आत्मनि' हवन होने पर फिर तुम कहती हो 'मैं शान्तातीता हूँ' ! सुतरां तुम्हारा पार या अवधि कहाँ है? उपाय भी क्या है ? तुम प्रपन्नार्तिहरा हो, किन्तु फिर भी तुम्हारे इन लाल चरणों में शरण लेने को सोचकर जो मन के गहन में लाल जवा खोज कर मरता है, उसके पथ में तुमने कण्टक के शूल-रूप चण्ड-मुण्ड महापशु रख दिए हैं। इसीलिए वह पशुवत् ममतावर्त में, मोहगर्त में, घूम-घूम कर मरता है ! सुतरां हे शरणागतपालिके ! तुम जब तक स्वयं वरण न कर लो, तव तक कौन तुम्हारा वन सकता है ? इस अकूल में हे कुलेश्वरि ! तुम्हारे बिना कौन कूल (किनारा) दिखलाएगा ?॥१२२॥

हृद्याद्या या शयाना दहरसुविपुला मानमेयाद् दविष्ठा
हृल्लेखा या तनिष्ठा जगदुदयलयावृत्तिहेतुर्वरिष्ठा।
हृद्देशे या द्रढिष्ठेरयति च भुवनं त्वाश्रिताय म्रदिष्ठा
योगक्षेमाय साऽम्बा शमयतु हृदयं ग्रन्थिभेदे पटिष्ठा॥१२३॥

अन्वय—**या आद्या हृदि शयाना** (जो आद्यास्वरूपिणी हृदय में शयाना हैं) **दहरसुविपुला** (दहर अर्थात् सूक्ष्म की पराकाष्ठा में सुविपुल अर्थात् सूक्ष्मादपि सूक्ष्म भाव से स्थिता हैं) **मानमेयाद् दविष्ठा** (जो कुछ मान अथवा मेय है, सवसे दूरतमा हैं) **या तनिष्ठा हृल्लेखा** (जो तनुतमा हृल्लेखा हैं) **जगत्-उदय-लय-आवृत्तिहेतुः वरिष्ठा** (जगत् के उदय-लय-आवृत्ति की हेतुभूता उरुतमा हैं) **द्रढिष्ठा हृद्देशे या च भुवनम् ईरयति** (और जो हृद्देश में दृढ़तमा रूप से स्थित होकर विश्व का ईरण या वर्णन करती हैं) **आश्रिताय तु म्रदिष्ठा** (आश्रित के लिए जो मृदुतमा हैं) **ग्रन्थिभेदे पटिष्ठा** (ग्रन्थि का भेदन करने में पटुतमा हैं) **सा अम्बा योगक्षेमाय हृदयं शमयतु** (वह अम्वा योगक्षेम-निर्वाह के लिए हृदय को शमित करें)।

भाष्य—आद्यास्वरूपिणी तुम निखिल सृष्टि के हृदय में अथवा केन्द्रस्थल में शयाना (सोई हुई) हो। कारण के केन्द्र (nucleus) का आश्रय लेकर अणु वा विराट् सव कुछ स्पन्दित हो रहा है, वह हुआ उसका 'हृदि'। यह

* कठोपनिषत् १।३।१३—अनुवादिका।

'हृदि' स्थूल वा पीन नहीं है, श्रुति कहती है कि वह 'दहर' अर्थात् सूक्ष्म की पराकाष्ठा है। किन्तु इस दहर के मध्य में भी अवस्थिता तुम हो, सुतरां तदपेक्षा भी सूक्ष्मा, अणोरणीयसी हो। इस प्रकार सूक्ष्मतमा होकर भी फिर तुम महान् की अपेक्षा भी महीयसी हो एवं इसीलिए जो कुछ मान वा मेय है, सब कुछ से ही तुम रहती हो दूरतमा ! ऐसी ही तुम्हारी विपुलता, असीमता है। जो कुछ सृष्ट हुआ है उसकी "हृल्लेखा"—अर्थात् मूल शक्तिचित्र-लेखा (basic pattern or power-picture) के रूप में तुम बनी हो तनुतमा। फिर इस विशाल जगत् के उदय, लय और आवृत्ति की हेतुभूता के रूप में तुम उरुतमा, विशालतमा हो ! इतनी सी बीजकणिका के बीच भी, यहाँ तक कि धूलिकण के मध्य भी तुमने अपना अत्याश्चर्य रूप प्रकट कर रखा है। वहाँ भी देखता हूँ एक स्थिर केन्द्र का आश्रय लेकर असंख्य शक्तिपुञ्जों का अविराम नर्तन है। यह मूल चित्र जगत् की प्रत्येक वस्तु में—नगण्य धूलिकण से आरम्भ करके जीवकणपर्यन्त सर्वत्र उदाहृत हो रहा है। और सर्वभूतों के हृद्देश में तुम मानो वज्रहस्ता के रूप में सबकी चालयित्री बनकर बैठी हुई रहती हो, केवल नीरव नहीं बैठी हो। इसीलिए सभी तुम्हारे भय से अपने निजकक्ष में, अपनी-अपनी धारा में आवर्तन कर रहे हैं, कहीं भी च्युति नहीं हो रही है ("भयादस्याग्निस्तपति" इत्यादि)। इस सेतु वा नियम की विचारयित्री के रूप में तुम वज्र की भाँति दृढ़तमा हो। किन्तु तुम में जो प्रपन्न है, तुम्हारा जो एकान्त आश्रित है, उसके प्रति फिर तुम मृदुतमा, कुसुमकोमला हो ! इसलिए आज प्रार्थना है; तुम में ही एकान्त प्रपत्तियोग के लिए, तुम में ही एकान्त मतिक्षेम के लिए इस हृदय को शान्त बना लो क्योंकि तुम ही समस्त ग्रन्थिभेद में पटुतमा हो !॥१२३॥

सा काली निरुपाधिशुद्धनिलये शान्ते नरीनृत्यते
कैवल्यं विदधाति निर्गुणतया द्वैतं मरीमृज्यते।
ब्रह्मास्मीत्यवबोधखड्गमहसा मिथ्याजनीन् प्रत्यया-
नास्ते ब्रह्मणि सर्वमेव दधती चेच्छिद्यमाना स्वयम्॥१२४॥

अन्वय – शान्ते निरुपाधि-शुद्ध-निलये सा काली नरीनृत्यते (वह काली निरुपाधि, शुद्ध, शान्त, चैतन्य निलय में नृत्य करती रहती हैं।) निर्गुणतया कैवल्यं विदधाति (निर्गुण होने के कारण कैवल्य का विधान करती हैं) द्वैतं मरीमृज्यते (और द्वैत का मार्जन करती रहती हैं) ब्रह्मणि सर्वमेव दधती मिथ्याजनीन् प्रत्ययान् 'ब्रह्माऽस्मी ति-अवबोध-खड्गमहसा स्वयं चेच्छिद्यमाना आस्ते (अपने

ब्रह्मरूप में सब कुछ धारण करती हुई 'ब्रह्माऽस्मि' इस ज्ञानरूपी महान् खड्ग से मिथ्या-जनित प्रत्ययों को काटती हुई स्वयं स्थित हैं)।

भाष्य – वही मां काली निरुपाधि-शुद्ध-शान्त चैतन्य-निलय में शवशिव के हृदय पर नियत ही नाचती हैं, मानो किसी भाव-मदिरा से विभोर हों। तब क्या वे केवल गुणमयी, गुणशोभात्मिका हैं? नहीं, वैसी तो नहीं हैं। वे ही निखिल द्वैत का लेशपर्यन्त 'मार्जन' करके साक्षात् कैवल्य-दान करती हैं। वही काली कैवल्य-दायिनी हैं। सुतरां वे एकाधार में गुणात्मिका, गुणाश्रया और गुणातीता हैं। वे "ब्रह्माऽस्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्मरूप ही हूं" इस अवबोध वा ज्ञानरूप खड्ग की छटा से मिथ्या अहमिका से विजृम्भित समस्त भवप्रत्यय का निरसन करती हैं। "तत्त्वमसि"—"तुम वही हो" इसलिए फिर असि-च्छिन्न मुण्डास्थि-निचय को तो वे दूर नहीं फेंकती हैं। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—समस्त ही ब्रह्म-स्वरूप है—इस प्रकार ब्रह्ममयी वे सब कुछ को अपने में धारण करती हैं मुण्डमाला के रूप में। इसलिए जो छिन्न है, वह भी समाहृत होता है उनकी अखण्ड सत्ता में। इस प्रकार वे एकाधार में निर्विशेष एकतत्त्वा और अशेष तत्त्वों की साक्षात् जननी वा प्रसूति हैं; वे सर्वतत्त्वमयी, भक्ति-मुक्ति, ज्ञान, प्रेम सब कुछ की पूर्ण खनि हैं! ॥१२४॥

———

जपसूत्रोपक्रमणी

[दृष्टि-भेद-निरूपणम् श्लो० १, २]

पिहिताद्यन्तधारासु वगाह्याधीरमूढयोः ।
भ्रान्तश्रान्ते तु दृष्टी स्तः क्रान्तशान्ते कवौ मुनौ ॥१॥

अन्वय—पिहिताद्यन्तधारासु (आदि और अन्त धाराओं के आवृत होने की स्थिति में) वगाह्य (अवगाहन करके) अधीरमूढयोः (अधीर और मूढ़ व्यक्ति की) भ्रान्तश्रान्ते (भ्रान्त और श्रान्त ये दो) दृष्टी (दृष्टियां) स्तः (हैं) (और) कवौ मुनौ (कवि और मुनि में) क्रान्तशान्ते (क्रान्त और शान्त) (दृष्टियां है) ।

भाष्य—जप का मूल उद्देश्य है ज्ञान के आवरण का क्रमशः उन्मोचन करते हुए दृष्टि का क्रमिक प्रसारण । हमारी साधारण दृष्टि नितान्त विभ्रान्त है । हम नहीं जानते, कहां से हम आए हैं, वा कहाँ चले हैं । अतः साधारण जीव जिस धारा में पतित है, उसके आदि एवं अन्त दोनों ही अपिहित वा आवृत हैं । इस धारा में पतित अधीर और मूढ़ व्यक्ति की दृष्टि दो प्रकार की है—भ्रान्त और श्रान्त । अधीर की, उसके भीतर रजोगुण के आधिक्य के कारण दृष्टि होती है भ्रान्त एवं मूढ़ की, उसके भीतर तमोगुण का प्रावल्य होने के कारण दृष्टि होती है श्रान्त । किसी तत्त्वविचार अथवा ध्यान में बुद्धि को अथवा दृष्टि को नियुक्त करने पर हम साधारणतः देख पाते हैं कि बुद्धि तत्त्वालोक लाभ न करके वृथा भटकती है और भ्रान्त ज्ञान में आबद्ध हो जाती है, किंवा तत्त्वानुसरण में एकान्त अक्षम होकर कुछ दूर जाकर प्रतिनिवृत्त होती है और श्रान्त होकर लौट आती है । बुद्धि में यह द्विविध मल—रजः और तमः वा विक्षेप और आवरण, होने के कारण ही साधारण दृष्टि का यह द्विविध रूप दिखाई देता है अर्थात् भ्रान्त और श्रान्त । इस मल के जैसे-जैसे दूर होने से बुद्धि क्रमशः निर्मल हो उठती है, वैसे-वैसे दृष्टि का भी प्रसारण होता रहता है । मलिन दृष्टि का जैसे द्विविध रूप है, उसी प्रकार इस निर्मल, विशद, स्वच्छ दृष्टि के भी दो रूप हैं—क्रान्त और शान्त । क्रान्त दृष्टि होती है कवि की एवं शान्त दृष्टि होती है मुनि की । निर्मल दृष्टि के इस द्वैविध्य का कारण है सत्त्व के परिणाम का तारतम्य । सत्त्वगुण के उद्रेक में ही यह

निर्मलता दिखाई देती है, किन्तु सत्त्व में और दो चीजें हैं—एक आनन्द, दूसरा प्रकाश एवं इनके बीच कभी एक का प्राधान्य एवं दूसरे की गौणता देखी जाती है। जब आनन्द का प्राधान्य होता है तब उल्लास, विलास और व्यापकता का अन्त नहीं होता। बुद्धि तब अनन्त विस्तार लाभ करती है, विश्वह्लादिनी हो उठती है। किन्तु जब आनन्द की अपेक्षा सत्त्व के प्रकाश अंश का आधिक्य होता है तब इस व्यापकता की गौणता में दिखाई देती है एक असीम, प्रशान्त अतलस्पर्शी गभीरता। अतः एक दृष्टि आनन्द आकाशकल्प है, और दूसरी दृष्टि ज्योतिर्घन महोदधिकल्प है; एक है व्यापिनी, दूसरी है अवगाहिनी। कवि की दृष्टि के समीप प्रकृति वा विश्व अपना समस्त रहस्य उन्मुक्त कर देता है, यह ठीक है, किन्तु आत्मा का रहस्य तब भी अज्ञात रहता है। आत्म-रहस्य का भेदन करने के लिए इसीलिए चाहिए मुनि की मर्मी शान्त दृष्टि। तभी ज्ञान की या दृष्टि की यथार्थ पूर्णता होती है। व्यापकता और सूक्ष्मता—इन उभय सीमा में ही जब बुद्धि की अकुण्ठ गति होती है तभी वह चरितार्थता लाभ करती है।

सुतरां इस भ्रान्त, श्रान्त एवं क्रान्त और शान्त—इस चतुर्विध दृष्टि के बीच हम एक हिसाब से मानव-ज्ञान के सभी स्तरों का एक संक्षिप्त परिचय पा लेते हैं ॥१॥

स्थूलं व्याप्नोति यत्सूक्ष्ममन्वयव्यतिरेकतः।
अनावरकसंयोग-वियोगादेरपेक्षकम् ॥२॥

अन्वय—अनावरक-संयोगवियोगादेः अपेक्षकं सूक्ष्मम् अन्वयव्यतिरेकतः स्थूलं व्याप्नोति (अनावरक के संयोग-वियोगादि की अपेक्षा करके सूक्ष्म अन्वयव्यतिरेक से—सर्वतोभाव में स्थूल को व्याप्त करके रहता है)।

भाष्य—पहले हम जो दृष्टि की क्रमिक स्वच्छता और विशुद्धि के सम्बन्ध में आलोचना कर चुके हैं वह वस्तुतः दृष्टि की क्रमिक सूक्ष्मावगाहिता का ही परिचय है। साधारण दृष्टि स्थूल में वा surface में ही बँधी रहती है। स्थूल के पीछे (उस पार) वह और जा नहीं पाती। किन्तु योगज दृष्टि वा कवि की और मुनि की दृष्टि स्थूल के पीछे उसका जो सूक्ष्म रूप है, उस तक का साक्षात् दर्शन करती है। यह सूक्ष्म रूप सर्वदा ही स्थूल रूप को सर्वतोभाव में व्याप्त करके विद्यमान रहता है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है: यह सूक्ष्म है, उसका प्रमाण क्या है? इसका प्रमाण है अन्वय और व्यतिरेक,

अर्थात् जहाँ स्थूल है वहीं सूक्ष्म है एवं जहाँ सूक्ष्म नहीं है वहाँ स्थूल भी नहीं है। तब भी शङ्का उठ सकती है कि तब हम सर्वदा सूक्ष्म को क्यों नहीं देखते हैं? इसका उत्तर है कि अनावरक के संयोग-वियोगादि की अपेक्षा करके ही इस प्रकार हुआ करता है। अर्थात् कुछ आवरक के रहने के कारण ही सूक्ष्म की अनुपलब्धि होती है, और अनावरक अर्थात् आवरण के अपावरक के संयोग में उसकी उपलब्धि होती है। Positive (स्वीकृतिमूलक) है negation (निषेध) का negation (निषेध) ही। संयोग-वियोगादि में जो आदि शब्द दिया गया है उसके द्वारा संख्या, परिमाण आदि को पकड़ना होगा। मान लें, जप आरम्भ किया, किन्तु उसकी शक्ति सूक्ष्मरूप में रहने पर भी स्थूल में सक्रिय नहीं हो रही है, अर्थात् जप की कार्यकारिता की कुछ भी उपलब्धि नहीं हो रही है। उस क्षेत्र में अनेक बार एक निर्दिष्ट संख्या में पहुँचने पर उसका आवरण-भंग होता है, अर्थात् एक निर्दिष्ट संख्या में पहुँचने के बाद जप का फल प्रत्यक्ष होता है। इस विशिष्ट संख्या के परिपूरण में जप के फलवत्त्व के प्रति दृष्टि रखकर ही गायत्री प्रभृति सर्वविध मन्त्रों के पुरश्चरणादि का विधान शास्त्र में किया गया है ॥२॥

[स्थूल-सूक्ष्म-ज्ञानम् श्लो० ३, ४]

आरम्भकादिसूत्रेण सहितं छन्दसा च यत्।
ज्ञानं सूक्ष्मस्य तज् ज्ञानं स्थूलस्य ज्ञानमुत्तमम् ॥३॥

अन्वय आरम्भकादिसूत्रेण छन्दसा च सहितं यत् सूक्ष्मस्य ज्ञानं तत् ज्ञानं स्थूलस्य उत्तमं ज्ञानम् (आरम्भकादिसूत्र और छन्द, इन दोनों के समेत जो सूक्ष्म का ज्ञान है, वह ज्ञान स्थूल का उत्तम या ठीक ज्ञान है)।

भाष्य—अतएव, समझा जाता है कि सूक्ष्म का परिज्ञान न होने पर स्थूल का भी यथायथ ज्ञान नहीं होता। स्थूल के किस ज्ञान को उत्तम ज्ञान कहेंगे? आरम्भकादि अर्थात् पूर्वोक्त अनावरक-संयोगवियोगादि-रूप जो सूत्र अर्थात् principles हैं एवं छन्दः अर्थात् जिस विधान के अनुसार पूर्वोक्त सूत्र कार्य करते हैं, the law according to which the principle operates इन दोनों के सहित, अर्थात् सूत्र और छन्दः समेत जो सूक्ष्म का ज्ञान है— वही स्थूल का सम्यक् ज्ञान है। तभी स्थूल का ठीक-ठीक ज्ञान होता है ॥३॥

[द्रष्टव्य—जपादि कर्म में देश, काल, वस्तु एवं छन्दः जिस प्रकार आवरक

वा प्रतिबन्धक (negative moment) के रूप में रह पाते हैं उसी प्रकार ये सभी अनावरक (positive moment or factor) रूप में भी रह पाते हैं। बाद में दिखाया गया है कि यह अनावरण-कर्म आरम्भ से समापन पर्यन्त सात स्तरों में शेष हुआ करता है; प्रति स्तर में मान्द्य (slowing down) होने की सम्भावना रहती है। सुतरां मान्द्य-परिहारपूर्वक लक्ष्य पर्यन्त पहुँचने में कितने ही सूत्र एवं उनके प्रयोग का छन्दः-अनुवर्तन करना होता है। कर पाने पर, जप का मन्त्र एवं उसकी भावना अपनी स्थूल एवं संकीर्ण गण्डी से मुक्ति पाकर उदार, विपुल, सूक्ष्म शक्ति के रूप में प्रकटित होगी। तब मन्त्रादि की यथार्थ शापमुक्ति एवं पाशमुक्ति है।]

यतोऽनावरकं सूत्रं छन्दश्च सूक्ष्मसंवृतम्।
सूक्ष्मज्ञानञ्च विज्ञानं सूक्ष्मं ज्ञेयं परं ह्यतः ॥४॥

अन्वय—यतः अनावरकं सूत्रं छन्दः च सूक्ष्मसंवृतम् (जिस कारण अनावरक सूत्र और छन्दः—ये दोनों सूक्ष्म के बीच आत्मगोपन कर लेते हैं) सूक्ष्मज्ञानं च विज्ञानं (सूक्ष्मज्ञान ही विज्ञान है) अतः परं सूक्ष्मं ज्ञेयं (अतएव सूक्ष्म को विशेष भाव से जानना चाहिए)।

भाष्य—किन्तु पूर्वोक्त अनावरक सूत्र और छन्दः - ये दोनों सूक्ष्म के बीच आत्मगोपन किए हुए हैं। इसलिए ये दोनों ही सूक्ष्म के अन्तर्गत हैं। और सूक्ष्मज्ञान को ही "विज्ञान" वा विशेष ज्ञान कहा जाता है। स्थूल ज्ञान सामान्य ज्ञान मात्र है। अतएव, सूक्ष्म को ही विशेष भाव से जानना होगा, वही परम ज्ञेय है: कारण, सूक्ष्म को जानकर ही स्थूल को भी जानना हो जाता है, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म के ही अन्तर्भुक्त है।

[आशङ्का हो सकती है—वीज के आवरण-भंग के पक्ष में मृत्तिका के रस, ताप, आलोक, वायु तो स्थूल ही हैं; ठीक, किन्तु स्थूल रूप में ही ये सब आवरणभंग के हेतु नहीं बनते हैं; बीजनिष्ठ जो सूक्ष्मस्पन्दनादि हैं उनके समजातीय और समरूप होकर ही वे आवरणभंग के हेतु होते हैं। 'स्थूल' किसी क्रिया के द्वारा 'मन्त्रचैतन्य' घटित कराने जाएँ, तब भी वह क्रियाजन्य स्पन्दनादि (१) सूक्ष्मता की एक निर्दिष्ट मात्रा में जायगा एवं (२) छन्दोगत अनुरूपता प्राप्त करेगा। नहीं तो, सौ बार चेष्टा से भी 'मन्त्रचैतन्य' का "उपयोग" नहीं घटित होगा। गुरुशक्ति एवं जापक की श्रद्धा के आधार पर ही यह उपयोग सहजसाध्य है।]

[ब्रह्मणो व्योमरूपत्वम् श्लो० ५,६]

क्रमानुरोधिनी धारा पर्यवस्यति यत्र च ।
सर्वेष्वन्वयाद् ब्रह्म तच्च व्योमेति पश्यत ॥५॥

अन्वय—यत्र च क्रमानुरोधिनी धारा पर्यवस्यति तत् च सर्वेषु अन्वयात् ब्रह्म, व्योम इति पश्यत (जहां क्रमानुरोधी धारा पर्यवसान को प्राप्त होती है, सबमें अन्वित होने से वह ब्रह्म हैं और उन्हें 'व्योम' रूप में देखिए) ।

भाष्य—यह जो स्थूल से सूक्ष्म है, उससे सूक्ष्मतर इत्यादि-रूप क्रमानुरोधी धारा है—इसके एक पर्यवसान की भूमि है, जहाँ सूक्ष्मता अपनी चरम काष्ठा में जा पहुँचती है; यह सूक्ष्मता की धारा केवल चलती रहती है, इसकी कहीं परिसमाप्ति वा अवसान नहीं है इस प्रकार कहने से अनवस्था रूप दोष आ पड़ता है। इसके अतिरिक्त श्रुति और अनुभव द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि कहीं एक परिसमाप्ति वा काष्ठा है। यह काष्ठा, जो सबके भीतर अन्वित हैं वह ब्रह्म ही हैं; किन्तु उसकी विशेष संज्ञा--व्योम वा आकाश है। (व्योम=वि+ओम् । निखिल विशेष के उदय, स्थिति एवं अवसान की "भूमि" जो है वह नाद, ॐ है और, व्याप्ति एवं अवधि इन दोनों रूपों में "काश" प्रकाश जिस आधार पर है, वह आकाश है।) अतएव इस परोवरीयान् प्रवाह की चरम सीमा के रूप में, उसे व्योम के रूप में देखिए ॥५॥

[जप की जो वाक् या मन्त्र है, उसकी भी क्षिति से आरम्भ करके व्योम-पर्यन्त इस पञ्चतत्त्व-रूप में भावना करें। जैसे, जप के स्थूल वा प्रकट भाव से उदय का स्थान=क्षिति; लय का स्थान=अप्; तैजस् शक्ति रूप में आविर्भाव का स्थान=तेजः; सर्वव्यापी विपुल स्पन्दरूप में वितति का स्थान=वायुः एवं इन सकल का चरम आधार वा आश्रय-स्थान=व्योम ।]

आश्चर्यं यत् शुक्लकृष्णपक्षाभ्यां च प्रकाशयन् ।
आवरयन्निदं सर्वं व्योमात्मा ताक्ष्र्य ऋध्यति ॥६॥

अन्वय–आश्चर्यं यत् व्योमात्मा ताक्ष्र्यः शुक्लकृष्णपक्षाभ्यां इदं सर्वं प्रकाशयन् आवरयन् च ऋध्यति (आश्चर्य है कि व्योमात्मा गरुड़ शुक्ल और कृष्ण इन दोनों पक्षपुटों में इस समग्र विश्व को प्रकाशित एवं आवृत करते हुए विद्यमान हैं ।)

भाष्य—अब ताक्ष्र्य वा गरुड की इस व्योमात्मा के रूप में कल्पना कीजिए। इनका आश्चर्यमय रूप है - ये दो पक्ष विस्तार करते हैं—एक शुक्ल, दूसरा

कृष्ण है। एक के द्वारा प्रकाश करते हैं, अपर द्वारा आवरण करते हैं। स्थूल भाव से देखने पर एक दिवा, दूसरा रात्रि है। इन दो पक्ष-पुटों में ही वे समग्र विश्व को आवृत करके रखते हैं ("शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते")*।

[क्षिति के रूप में जप वाक् और काय की प्रतिकूल वृत्ति का आवरण और अनुकूल वृत्ति का प्रकाश करता है। वहाँ गरुड़ के कृष्ण और शुक्ल दो पक्ष यही हैं। अप् के रूप में जप, प्राण एवं अव्यक्त मन (sub-conscious) की भूमि में अनुरूप कर्म करता है। तेजोरूप में वह वाक्, काय, प्राण एवं मन इन चारों का अनुकूल उत्तेजक है। वायुरूप में, इन सब के मूल में जो महत्तत्त्व (बुद्धि) है, उसकी भी सहायता करता है। और, व्योम-रूप में मूल प्रकृति की भी। प्रति स्तर में दो (+, –) पक्ष रहते हैं। ऐसे गरुड़ ही श्रीभगवान् के वाहन हैं। वेद में एवं गरुड़पुराणादि में ये प्रख्यात हैं।]

[निरोधिका-प्रकाशिका-शक्ति-निरूपणम्]

बीजादिषु हि सर्वेषु प्रकाश्यताऽप्रकाश्यते।
द्वे शक्ती युगपत् स्तश्च प्रकाशिका-निरोधिके।
यदनुपातवैषम्याद् व्यक्ताव्यक्तनिरूप्यता ॥७॥

अन्वय—सर्वेषु बीजादिषु प्रकाश्यताऽप्रकाश्यते स्तः (वीजादि सकल पदार्थ में दो वस्तुएँ हैं—प्रकाश्यता और अप्रकाश्यता) द्वे शक्ती युगपत् स्तः—प्रकाशिकानिरोधिके (दो शक्तियां युगपत् प्रकाशिका एवं निरोधिका हैं) यदनुपातवैषम्यात् व्यक्ताव्यक्तनिरूप्यता (जिनके अनुपात-वैषम्य के अनुसार सब वस्तु की व्यक्ता-व्यक्तता है)।

भाष्य - किस प्रकार यह विश्व में सर्वत्र अनुस्यूत है वह देखिए। बीजादि सकल पदार्थ के भीतर दो वस्तुएँ—प्रकाश्यता और अप्रकाश्यता—ये दोनों रहती हैं। वीज प्रकाशोन्मुख होकर भी कुछ अप्रकाश रह जाता है। और अप्रकाश रह कर भी अपने को कुछ प्रकाश करता है। एक हिसाब से, जगत् की कोई वस्तु सम्पूर्ण अप्रकाशित वा प्रकाशित नहीं है। एक विचित्र आलोक-अंधकार के समावेश में मानो वे हमारे नयनगोचर होती हैं। सुतरां समझ में आता है कि मूल में दो शक्तियाँ काम करती हैं--एक निरोधिका वा veiling, दूसरी मोचिका वा revealing factor है। यह आवरण और उत्मोचन-

*श्रीमद्भगवद्गीता ८. २६—अनुवादिका।

रूप शक्तिद्वय विश्व में सर्वत्र क्रियाशील हैं। इनका जो अनुपात-वैषम्य वा ratio वा तारतम्य है, तदनुसार ही सब वस्तु की व्यक्ताव्यक्तता विकसित होती है। अर्थात् यह ratio के ऊपर ही निर्भर करता है, वस्तु कितनी व्यक्त वा कितनी अव्यक्त है। जहां मोचिका शक्ति का अनुपात अधिक है, वहां वस्तु को कहते हैं व्यक्त, और निरोधिका शक्ति के अनुपाताधिक्य होने पर कहते हैं अव्यक्त।

[आगे जपशक्ति वा छन्द के जो सात मान्द्य के स्थान कथित हैं, उन सब स्थानों में आने पर क्या होता है? मोचिका एवं रोधिका का जो अनुपात है, वह भग्नांश है, अर्थात् लव (मोचिका) की अपेक्षा हर (रोधिका) बड़ी होती है। फलस्वरूप जप का शक्तिह्रास होता है। जैसे देह में metabolism में अनुपात-वैरूप्य से देह का क्षय होता है। देह में जैसे, जप में भी वैसे ही यह अनुपात अनुकूलरूप में पाना होता है। उसका एक प्रकृष्ट साधन यह है—उक्त मान्द्यस्थान (retarding factor) को समिध् रूप में भावना द्वारा अन्तर्ज्योति में ईन्धन बनाइए। फलस्वरूप, वह अग्नीन्धन होगा। "ॐ यदिदं ययि समारम्भकदौर्बल्यरूपं मान्द्यं तदहं हव्यं कल्पयामि, तच्च (श्रीश्री इष्टदेवता) परम-ज्योतिषि जुहोमि ॐ भूः स्वाहा ॥" इस प्रकार एक-एक मान्द्य-स्थान का एक-एक व्याहृति-योग से परमज्योति में हवन करें।]

[आविः-क्षपा तत्त्वम् श्लो० ८-१०]

भूयस्त्वं यन्मोचिकायास्तदाविरिति दृश्यते।
भूयस्त्वे रोधिकाया वा तदेव गृह्यते क्षपा ॥८॥

अन्वय—यत् मोचिकायाः भूयस्त्वं (जो मोचिका का आधिक्य है) तत् 'आविः' इति दृश्यते (वह 'आविः' इस प्रकार दिखाई देता है) रोधिकायाः भूयस्त्वे वा तदेव क्षपा गृह्यते (रोधिका के आधिक्य से उसी का 'क्षपा' रूप में ग्रहण होता है)।

भाष्य—मोचिका शक्ति का जब भूयस्त्व वा आधिक्य होता है तब 'आविः' कहा जाता है, (जैसे आविष्करोति, आविर्भवति इत्यादि शब्दों में 'आविः' यह अर्थ पकड़ में आता है)। वैसे ही जब रोधिका वा आवरिका शक्ति का भूयस्त्व वा आधिक्य होता है तब क्षपा या रात्रि कही जाती है। जैसे दिन में प्रकाश

के आधिक्य में सब कुछ देखा जाता है, फिर रात्रि में जैसे सब कुछ ढँक जाता है – यह भी वैसा ही है।

[मोचिका=मो=म; रोधिका=रो=र। म=सोम, र=अग्नि। सृष्टि में सर्वत्र, सुतरां जपादि में भी म : र यह अनुपात चल रहा है। सोम की मात्रा के प्राधान्य से पोषण एवं स्निग्धता; अग्नि की मात्रा के प्राधान्य से दहन, शोषण और रूक्षता होती है। यह सब कुछ बाद में आलोचित होगा। जपकर्म में 'र' के आधिक्य से शरीर और मन में सन्ताप (ज्वाला, अनिद्रा, मन की रूक्षता इत्यादि) का अनुभव हो सकता है। तब वही करणीय है जिससे सोम का उद्रेक हो।]

आविष्ट्वं किञ्च रात्रित्वं दृग्भङ्गीनयकल्पिते।
'या निशा सर्वभूतानामि'त्यादौ स्मर्यते यथा ॥९॥

अन्वय—आविष्ट्वं किञ्च रात्रित्वं दृग्भङ्गी-नय-कल्पिते ('आविः' और रात्रि के रूप दृग्भङ्गी द्वारा कल्पित हैं) **यथा 'या निशा सर्वभूतानां' इत्यादौ स्मर्यते** (जैसे 'या निशा सर्वभूतानां' गीता के इस श्लोक में कहा गया है)।

भाष्य—यह जो 'आविः' और रात्रिरूपा है ये दोनों दृष्टिभङ्गी पर निर्भर हैं; अर्थात् किस stand-point से देखा जा रहा है, उसी पर क्षपात्व वा आविष्ट्व अर्थात् रात्रित्व वा दिवात्व निर्भर रहता है। एक दृष्टिभङ्गी से देखने पर जो क्षपा या रात्रि प्रतीत होती है, अपर दृष्टिभङ्गी से देखने पर वही फिर 'आविः' रूप में भी प्रतीत हो सकती है। इसलिए गीता ने भी **'या निशा सर्वभूतानां'*** इत्यादि श्लोक में यही बात कही है कि सर्वभूतों अर्थात् साधारण प्राकृत जनों के लिए जो रात्रि है, संयमी वा योगी वहाँ भी जाग्रत रहता है अर्थात् उसके लिए वह दिवातुल्य है; और सर्वभूतो के लिए जो जागरण की भूमि वा दिवास्वरूप है, वही योगी वा मुनि की उन्मीलित दृष्टि के लिए निशा वा क्षपासदृश है। इसलिए देखा जाता है कि दृष्टिभङ्गी के तारतम्य के अनुसार ही एक ही वस्तु क्षपा वा आविः— ये दो रूप धारण करती है ॥९॥

[जप के समय यह दिवा एवं क्षपा तत्त्व विशेष भाव से चिन्तनीय है। जैसे वैखरी (स्थूल) जप का विच्छेद होने पर जब मध्यमा (सूक्ष्म) जप चलता

---

* श्रीमद्भागवद्गीता २.६९—अनुवादिका।

है तब पूर्वालोचित 'प्रथम पुरुष' के लिए वह 'रात्रि' है, किन्तु 'मध्यम पुरुष' की दृष्टि में वह 'दिवा' है। इस प्रकार जपाक्षर एवं जपार्थ के ध्यान के सम्बन्ध में एक व्यक्ति की दिवा अन्य की रात्रि हो सकती है। Kinetic और Potential के भेद की तुलना करें।]

आवीरात्रीति युग्मत्वं सर्वमन्वेति वृत्तिमत्।
एकेन बाधिता चान्यैकेनान्या साधिता भवेत् ॥१०॥

अन्वय—आविः रात्रि इति वृत्तिमत् युग्मत्वं सर्वम् अन्वेति (आविः और रात्रि का वृत्तिशील जोड़ा सम्पूर्ण सृष्टि में अन्वित है) एकेन अन्या बाधिता एकेन च अन्या साधिता भवेत (एक द्वारा दूसरी बाधित है और एक द्वारा दूसरी साधित भी है)।

भाष्य—सृष्टि में सर्वत्र 'आविः' और 'रात्रि'-रूप युग्मत्व अनुस्यूत है। यद्यपि ऐसा दिखाई देता है कि ये दोनों तत्त्व परस्पर विरोधी हैं एवं एक के द्वारा दूसरा बाधित ही होता है, किन्तु और एक दिशा से देखने पर समझ में आता है कि एक के द्वारा दूसरा साधित भी होता है। जैसे विरुद्ध शक्तियों के निरोध के द्वारा किसी एक वस्तु के स्वरूप-आविर्भाव में सहायता होती है, उसी प्रकार यहां निरोध आविर्भाव का साधन ही कर रहा है, बाधन नहीं। सुतरां 'आविः' और 'रात्रि' केवल परस्पर बाधक ही नहीं, साधक भी हैं ॥१०॥

[जैसे, जपाक्षर अथवा जपार्थ का ध्यान करना है एवं तज्जनित ज्योतीरस में अभिषिञ्चित होना है। एकतान अथवा एकाग्रवृत्ति न होने पर यह 'आविः' रूप सम्भव नहीं होता। किन्तु उसके लिए क्या चाहिए? इसकी विरोधी जो तीन वृत्तियां हैं (क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़), उनकी 'रात्रि' अर्थात् निरोध चाहिए। केवल उतना ही नहीं, 'निरोध' के नाम से जो पञ्चमी वृत्ति है, उसका भी निरोध होना चाहिए। अन्यथा जप में ध्यान अथवा सम्प्रज्ञात भूमि नहीं होगी।]

[अरिस्पन्द—मित्रस्पन्द—युग्मम्]

अरिस्पन्द-निवृत्त्या यन्मित्रस्पन्दप्रवर्तनम्।
युग्मं तत्रानुसन्धेयं जपादिसर्वकर्मसु।
क्षयायाच्छाद्य रोद्धव्यं छन्दश्छादयति श्रियम् ॥११॥

अन्वय—अरिस्पन्दनिवृत्त्या यत् मित्रस्पन्दप्रवर्तनं (अरिस्पन्द की निवृत्ति

करके मित्रस्पन्दन का जो प्रवर्तन किया जाता है) तत्र जपादिसर्वकर्मसु युग्मम् अनुसन्धेयम् (उसके प्रसंग में जपादि-सर्वकर्म में युग्म या जोड़ा समझना चाहिए)। क्षयाय आच्छाद्य रोद्धव्यम् छन्दः श्रियं छादयति (जिनका क्षय अभीष्ट है उनका आच्छादन द्वारा रोधन किया जाता है; और 'श्री' का छादन करके छन्द उसकी रक्षा करता है)।

भाष्य – अब देखिए, जपादि सभी कर्मों के बीच किस प्रकार इस युग्म का अनुसन्धान करना होगा। जपकर्म अरिस्पन्द वा प्रतिकूल-स्पन्द (vibrations) का निरोध रात्रि रूप में करते हैं एवं 'आविः' रूप में मित्रस्पन्द का प्रकाश करते हैं। जप-जनित जो छन्दः है उसका काम है आच्छादन ('छादनात् छन्दः')। यह आच्छादन भी दो प्रकार का है—एक, क्षय के लिए आच्छादन करता है, जो रोद्धव्य हैं उनको अर्थात् प्रतिकूल वृत्तियों को समूल विनाश के लिए अभिभूत करता है। एवं दूसरा, श्री अर्थात् अभ्युदय की हेतुभूता जो दैवी सम्पत् है उसकी रक्षा करता है, वर्म की भांति। इसीलिए छन्द की आच्छादन-क्रिया में भी वह युग्मभाव है ॥११॥

[छन्दोमात्र में 'गोप्तव्य' और 'रोद्धव्य' इस प्रकार दो ओर ध्यान रखना होगा। आनुनासिक, तालव्य, 'छम्' के द्वारा प्रथम एवं हसन्त दन्त्य 'दस्' के द्वारा द्वितीय सूचित होता है। प्लुत उच्चारण करके प्राण-प्रयत्न-व्यापार के प्रति ध्यान दो। इस द्विविध मूल वृत्ति के आश्रय में ही सृष्टि-स्थिति-लय होते हैं। जप में कायिकादि विघ्नों का रोध करते हुए जपक्रिया-फल की रक्षा करनी होती है—'गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वम्']।

[ज्योतिस्तामिस्रयुग्मम्]

यावद्धि वर्धते ज्योतिरुत्तर-भूमिकान्वयात्।
तावद् वर्धेत तामिस्रमधस्तान्नक्तमाश्रितम् ॥१२॥

अन्वय—उत्तर भूमिका+अन्वयात् यावत् हि ज्योतिः वर्धते (ऊँची भूमिका के योग से जिस परिमाण में ज्योतिः बढ़ती है) नक्तं आश्रितं तामिस्रं अधस्तात् तावत् वर्धेत (उसी परिमाण में नीचे की ओर रात्रि का आश्रित 'तामिस्र' बढ़ता है)।

भाष्य—इन दो युग्म तत्त्वों का और एक विचित्र सम्बन्ध है; एक की वृद्धि से दूसरे की वृद्धि भी हुआ करती है। उत्तरोत्तर भूमियों में जिस प्रकार

ज्योतिः वा आविः बढ़ती है, दूसरे प्रान्त में, दूसरे pole में उसी प्रकार तामिस्र वा अन्धकार उसी परिमाण में गाढ़ होता चलता है। जपादि साधन के फल से चेतना वा प्रकाश की दीप्ति जैसे क्रमशः उज्ज्वल होती रहती है, वैसे ही अवचेतन में जो सब आसुर प्रतिकूल संस्कार सुप्त हैं वे भी मानो प्रबल शक्ति से उत्साह में भर कर सिर उठाते हैं और अपने अन्धकार के राज्य को दुगने पराक्रम से और भी कायम करना चाहते हैं। इसीलिए ज्योतिः और रात्रि का ऐसा अविना-सम्बन्ध है कि एक की वृद्धि होने पर दूसरी की भी दूसरी ओर वृद्धि हो चलती है ॥१२॥

[आलोक एवं तामिस्र इन दोनों ने मिल कर एक 'धूम्रलोक' की सृष्टि की है। जीव का चालू व्यवहार इसी में होता है। 'आलोक' और 'अन्धकार' को आरम्भ में ही अलग कर लेना होगा। दोनों को ही अलग-अलग 'विशुद्ध' भाव से पाना आवश्यक है; elimination (निरसन) से पहले isolation (पृथक्करण) होना चाहिए।]

[सन्धि-सेतु-तत्त्वम् श्लो० १३, १४]

नक्तंदिवमिति द्वन्द्वे यः सन्धिः सन्दधीत तम्।
ऋते न सन्धिसन्धानादहोरात्रसमन्वयः ॥१३॥

अन्वय—नक्तंदिवं इति द्वन्द्वे यः सन्धिः तं सन्दधीत (रात्रि-दिवा के द्वन्द्व में जो सन्धि है उसका अनुसन्धान करना चाहिए) सन्धिसन्धानाद् ऋते अहोरात्रसमन्वयः न (सन्धिसन्धान के विना अहोरात्र-समन्वय नहीं होता)।

भाष्य—यह 'नक्तंदिवा' वा रात्रि-दिन की जो सन्धि है—जिसे अभिव्यक्त भी नहीं कह सकते, अनभिव्यक्त भी नहीं कह सकते—उस zero point वा neutral point को खोज निकालना होगा, क्योंकि इस सन्धि-सन्धान के बिना अहोरात्र का समन्वय नहीं होगा, यह दिवारात्रि का द्वन्द्व नहीं मिटेगा। इसीलिए महात्मा, महाजनों का चिरन्तन उपदेश है—'सन्धि को पकड़ो।' हमारे दैनन्दिन सन्ध्यावन्दनादि के लिए भी जो सन्धिकाल प्रातः, मध्याह्न और सायाह्न में निर्दिष्ट हैं, वे भी सन्धि को पकड़ाने के लिए ही हैं। इन समयों में प्रकृति भी स्वभावतः सन्धिगामिनी हो जाती है, इसलिए साधक उस समय यदि ज्ञानपूर्वक प्रकृति के इस आनुकूल्य को काम में लगा सके तो सहज ही सन्धिलाभ और द्वन्द्व-अतिक्रम में समर्थ हो सकता है। जैसे रात्रि की निबिड सुप्तिजडिमा कट गई है, किन्तु अभी भी दिन की कोलाहलमुखरता शुरू नहीं

हुई है—इस सन्धि में प्रातःसन्ध्या का विधान है। इसी प्रकार सारे दिन का कर्मकोलाहल शान्त हो आया है, किन्तु अभी सुप्ति की घोर तमिस्रा में वह डूब नहीं गया है—इस अवस्था में सायंसन्ध्या का विधान है। इस प्रसंग में माँ की सन्धिपूजा का रहस्य भी चिन्तनीय है ॥१३॥

समेरुसन्धिसेतुं यस्त्रिसूत्रीं भजति क्रियाम्।
वैप्रतीप्येन तस्य स्यान्नक्तं दिवा ह्यहः क्षपा ॥१४॥

अन्वयः—यः समेरु-सन्धि-सेतुं त्रिसूत्रीं क्रियां भजति (जो मेरु, सन्धि और सेतु इस त्रिसूत्री क्रिया का भजन करता है) **तस्य वैप्रतीप्येन नक्तं दिवा हि अहः क्षपा स्यात्** (उसके लिए दिन रात्रि हो जाता है और रात्रि दिन)।

भाष्य—मेरु, सन्धि और सेतु—इस त्रिसूत्री का अनुसरण करके जो भजन करते हैं वा क्रियातत्पर होते हैं उनके समीप विपरीत-क्रम से दिन रात्रि वन जाता है एवं रात्रि दिवा वन जाती है, अर्थात् उन्हें गीतोक्त संयमी मुनि की अवस्था प्राप्त है। साधना में सिद्धिलाभ के लिए इन तीनों का ज्ञान विशेष रूप से अपेक्षित है। इन तीनों को यथार्थभाव से जान लेने के वाद ही जपादि-कर्म में ठीक-ठीक अग्रसर हुआ जाता है, नहीं तो सब कुछ वृथा हो जाता है। हो सकता है कि जप करता जा रहा हूँ, किन्तु यह पता नहीं कि मेरु अर्थात् crisis phase वा climax कौन सी है जहाँ आकर रुकना होगा। क्योंकि ठीक से न रुककर यदि और भी अग्रसर होता चलूँ और मेरु का उल्लंघन करूँ, तो पहले की सभी चेष्टाएं वृथा हो जांयगी। यहाँ तक कि अवाञ्छित परिणाम भी हो सकता है। वैसे ही सन्धि वा neutral point कव आया था, उसे यदि जान न सकें तो उसे कस कर पकड़ना, उसका लाभ लेना (avail करना) भी नहीं हो सकेगा और वृथा द्वन्द्व के आवर्तन में घूमकर मरना होगा। अवकाश पाकर भी गण्डी या सीमा काटकर वाहर निकल नहीं सके, ऐसा होगा। और फिर कभी क्रिया की प्रान्तभूमि में आ पहुंचने पर भी तत्त्व के साथ संयोग घटित नहीं होता। न जाने कहाँ एक दरार, एक chasm रह जाती है। इस पार और उस पार के बीच एक व्यवधान रह जाता है। गुरु कृपा करके इस व्यवधान को दूर कर देते हैं, बीच में एक सेतु का स्थापन करके। ठीक जिस समय वे सेतु बाँध देते हैं, उसी समय सेतु का सुयोग लेकर पार हो जाना होगा। इसीलिए सेतु को न जानने पर यह उत्तरण सम्भव ही नहीं होगा। कव सेतु पड़ गया इस ओर सजग दृष्टि रखनी होगी। इसलिए

मेरु, सन्धि और सेतु ये तीन जपादि-साधन के सबसे बड़े सङ्केत हैं और इनके तत्त्व का विशेष रूप से अनुधावन करना आवश्यक है। हम अब मेरु, सन्धि और सेतु के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ आलोचना करेंगे ॥१४॥

(क्षिति, अप् इत्यादि मिट्टी, जल इत्यादि नहीं हैं, यह तो हमने देखा। पाँचों मूल उपादान तत्त्व हैं। सृष्टि के सब कुछ में इन पाँचों का मिश्रण 'पञ्चीकरण'—हुआ है। इसलिए जपकर्म में भी ऐसा ही है। अब मान लें, क्षितितत्त्व का प्रधानभाव से जप हो रहा है। फलस्वरूप कर्म में स्थूलता, जड़ता, गुरुता का आधिक्य है। यह आयास-बहुल है, अल्प में ही क्लान्ति ला देता है—mechanical, laborious, fatiguing है। इस प्रकार जप को अप्, तेजः प्रभृति ऊपर के स्तरों में चढ़ाना हो तो मेरु, सन्धि, सेतु—इन तीनों को ही पकड़ना होगा।)

[मेरुत्रयम्]

सुमेरुश्च कुमेरुश्च मध्यमेरुरिति त्रिधा।
यो जानीते स जानीते कलाकाष्ठान्वयं ध्रुवम् ॥१५॥

अन्वय—सुमेरुः च कुमेरुः च मध्यमेरुः इति त्रिधा (सुमेरु, कुमेरु और मध्यमेरु—मेरु के इस त्रिविधत्व को) **यः जानीते सः कलाकाष्ठान्वयं ध्रुवं जानीते** (जो जानता है वह कला, काष्ठा के अन्वय को निश्चित जानता है)।

भाष्य—कला की वृद्धि की जो धारा और काष्ठा है, उसका अन्वय वा योग वे ही जानते हैं जो सुमेरु, कुमेरु और मध्यमेरु इस त्रिविध भाव को जानते हैं। सब क्रियाओं का एक critical phase (सङ्कटाकुल या संक्रान्त्युन्मुख अवस्था) होती है, उसी को मेरु कहा जाता है। जैसे सूर्य उदय हुआ एवं चढ़ते-चढ़ते apex (शिखरदेश, मध्यगगन) में पहुँचा—यहाँ पर वह वृद्धि की एक काष्ठा में climax में जा पहुँचा, क्योंकि इसके बाद ही वह अस्त की ओर ढल पड़ा। चन्द्र के पक्ष में भी ऐसा ही है। शुक्लपक्ष में एक-एक कला द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते-होते पूर्णिमा में जाकर वह climax में पहुँचता है, और उसके बाद से ही क्षय की ओर उसकी गति शुरू होती है। इस प्रकार विश्व में सर्वत्र है—जैसे मनुष्य की यौवन में पूर्णता और उसके बाद ही क्षयोन्मुखता इत्यादि। इस मेरु वा crisis phase को तीन प्रकार से देखा जा सकता है। Positive (भावात्मक या धनात्मक), negative

(अभावात्मक या ऋणात्मक) और neutral (मध्यवर्ती)। प्रथम को सुमेरु, द्वितीय को कुमेरु और तृतीय को मध्यमेरु कहा जा सकता है ॥१५॥

केवल यह पृथ्वी ही क्यों—सृष्टि में स्थूल, सूक्ष्म सभी पदार्थ—क्या अणु, क्या महान्—सभी ने 'मेरुत्रय आकृति' पाई है। एक दोलक झूल रहा है, हृत्पिण्ड स्पन्दित हो रहा है, अणु के भीतर इलेक्ट्रॉन चक्कर काट रहा है, जागरण के बाद निद्रा, निद्रा के बाद जागरण आ रहा है—इत्यादि सभी दृष्टान्तों में इस मेरुत्रय-रूप का अनुसन्धान करें। मान लें किसी एक दिशा में क्रिया हो रही है। उस दिशा में एक 'सीमा' तक क्रिया अपने रूप को बनाये रखेगी। सीमा के पार या तो रुक जायगी और नहीं तो रूप ही बदल देगी। उसके बाद, क्रिया को अनुलोम-क्रम से न करके विलोम-क्रम से करें। क्रिया (action) को उलट दें (reverse कर दें), उस दिशा में भी एक 'मेरु' है। फिर, दोनों ओर दो सीमाओं के बीचों बीच एक भूमि है—जैसे magnet (चुम्बक) में—जहाँ आने पर क्रिया को अनुलोम (positive) भी नहीं कहा जा सकता, विलोम (negative) भी नहीं कहा जा सकता।)

[सन्धिसूत्र-त्रैविध्यम्]

प्रातरादिविभेदैश्च विसर्गव्यञ्जन-स्वरैः।
सन्धिसूत्रं त्रिधा विद्युरहोरात्रविदो बुधाः ॥१६॥

अन्वय—अहोरात्रविदः बुधाः (अहोरात्र के ज्ञाता बुधजन) प्रातः+आदि +विभेदैः (प्रातः, मध्याह्न, भेदों से) विसर्गव्यञ्जन-स्वरैः च (और विसर्ग-व्यञ्जन-स्वर से) सन्धिसूत्रं त्रिधा विद्युः (सन्धिसूत्र को त्रिधा जानते हैं)।

भाष्य – उसी प्रकार सन्धि के भी तीन भेद हैं–प्रातः, मध्याह्न और सायाह्न। एक उदय वा उत्थान की सन्धि, द्वितीय उन्मेष की सन्धि, तृतीय अस्त वा अवसान की सन्धि। शक्तिलेख वा dynamic curve मात्र का यह मौलिक रूप है। वेद में 'ऊषस्' इस रहस्य नाम में यह मौलिक रूप निर्दिष्ट है। यथा—ऊ=शक्ति का उत्थान; ष=मूर्धा apex; स्=दन्त्य वृत्ति द्वारा अवसान। उसमें प्रातः उत्थान का प्राधान्य होने से उकार का दीर्घत्व है। इस उदय, उन्मेष और अस्त को यथाक्रम से स्वर, व्यञ्जन और विसर्ग के रूप में भी देखा जा सकता है। जो लोग अहोरात्रविद् ज्ञानी हैं, वे सन्धि के इस त्रिविध भाव को जानते हैं ॥१६॥

[सेतुज्ञान-निरूपणम्]

मन्त्रं यन्त्रं च तन्त्रं च श्रद्धाच्छन्दःस्वराश्च वै।
एतत् त्रितयविज्ञानं सेतुज्ञानं समासतः ॥१७॥

अन्वय—मन्त्रं यन्त्रं च तन्त्रं च (मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र) श्रद्धा-छन्दः-स्वराः च वै (और, श्रद्धा, छन्द और स्वर) एतत्-त्रितयविज्ञानं समासतः सेतुज्ञानं (इन तीनों का विज्ञान संक्षेपतः सेतुज्ञान है)।

भाष्य—सेतु के ज्ञान को भी संक्षेपतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—मन्त्रज्ञान, यन्त्रज्ञान और तन्त्रज्ञान। एक plane वा स्तर से दूसरे plane वा स्तर में जाने का संयोजक है यह सेतु। इसीलिए यह (सेतु) nexus principle वा link अथवा line of approach है अथवा जोड़ने वाली कड़ी है। मन्त्रसेतु के हिसाव से प्रणव में 'उ' कार को देखा जा सकता है; यह 'अ' कार और 'म' कार के वीच में रहकर दोनों को संयुक्त करता है। वैसे ही मात्रा की ओर से देखने पर 'अर्धमात्रा' वह सेतु है। फिर वाक् की ओर से देखने पर सेतु है मध्यमा। इसी प्रकार यन्त्रसेतु के हिसाव से भूतशुद्धि, आपोमार्जन वा आचमन आदि को देखा जा सकता है। तन्त्रसेतु के उदाहरण के रूप में न्यास को लिया जा सकता है। मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र—जैसे इन तीनों का, वैसे ही साथ-साथ श्रद्धा, छन्दः एवं स्वर का सेतुरूप से आश्रय लेना होगा। श्रद्धारूप सेतु के द्वारा दो वस्तुओं में एकभावता आती है; छन्दःसेतु से एकतानता और स्वरसेतु से एकवृत्तिता आती है। नेमिगत जो विरूपता है उसे स्वर द्वारा दूर करें, अरगत वैषम्य को छन्दः के द्वारा और नाभि वा केन्द्रगत पार्थक्य को श्रद्धाभक्ति द्वारा दूर करें। 'हरिः' ये तीन वर्ण यथाक्रम से नाभि, अर एवं नेमि को मूल में अन्वित और प्रतिष्ठित करते हैं। मूल वात यह है कि मन्त्र ही कहें, यन्त्र ही कहें वा तन्त्र ही कहें, सभी के बीच में इस सेतु को विशेष भाव से पहचानना और पहचान कर उसे यथायथ-भाव से काम में लगाना आवश्यक है। तभी मन्त्रादि ठीक-ठीक सफल होंगे ॥१७॥

[नियन्तव्य नियामक-तत्त्वम्]

व्यष्टि-समष्टिसर्गेऽपि स्थूले सूक्ष्मे च कारणे।
गृह्येते क्रमसम्बद्धौ नियन्तव्य-नियामकौ ॥१८॥

अन्वय—व्यष्टि-समष्टि-सर्गे अपि (व्यष्टि-समष्टि सृष्टि में) स्थूले सूक्ष्मे

कारणे च (स्थूल, सूक्ष्म और कारण में) नियन्तव्य-नियामकौ क्रमसम्बद्धौ गृह्येते (नियन्तव्य-नियामक क्रमवद्ध रूप में गृहीत होते हैं)।

भाष्य—पहले जैसे सूक्ष्मता की एक क्रमानुरोधिनी धारा की बात कही गई है वैसे ही विश्व में और एक धारा का परिचय मिलता है, वह है नियन्तव्य और नियामक की धारा। विश्व की सभी वस्तुओं में एक नियन्त्रण का principle (तत्त्व) देखने में आता है एवं वह नियन्त्रण जिसके द्वारा हो रहा है उसे नियामक कहेंगे और जो नियन्त्रित वा चालित हो रहा है उसे नियन्तव्य कहेंगे। इसकी भी एक क्रमपरम्परा वा धारा है एवं उसकी दृष्टि से एक सम्पर्क वा relation में जो नियामक है वह फिर अन्य सम्पर्क या relation में नियन्तव्य हो जाता है। मान लें, यह देह-यन्त्र है। इसका नियामक प्राण दिखाई देता है। प्राण ने ही इस यन्त्र को चालू रखा है और वही इसे नियन्त्रित कर रहा है। उसके वाद अनुसन्धान करने पर दिखाई देता है कि इस प्राण का भी चालक और नियामक कोई सूक्ष्मतर तत्त्व है, जैसे मन इत्यादि। इस प्रकार और भी अनुसन्धान चलाने पर हमें नियामक और नियन्तव्य की एक सोपान-परम्परा मानो देखने को मिलती है। केवल स्थूल में नहीं, सूक्ष्म एवं कारण तक में एवं व्यष्टि और समष्टि उभय सृष्टियों के बीच ही हमें इस धारा का परिचय मिलता है ॥१८॥

[जपादि कर्म में मन्त्र, यन्त्रादि के इस नियम्य-नियामक सम्बन्ध को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए चलना होता है। एक मन्त्र जप रहा हूँ। यह जानना आवश्यक है कि किस-किस के द्वारा क्रिया प्रभावित हो रही है। बाहर की गवेषणा में जैसे field picture अथवा समग्र क्षेत्र-चित्र होता है]

[नियन्तव्य-नियामकयोस्त्रिधात्वम्]

प्रत्येकं च त्रिधा ज्ञेयं क्रियाऽऽकृती च दैवतम्।
आद्ये स्युस्त्रीणि रूपाणि तन्त्रयन्त्रे मनुः परे ॥१९॥

अन्वय—प्रत्येकं च त्रिधा ज्ञेयं (नियम्य और नियामक में से प्रत्येक को त्रिविध समझना चाहिए) क्रिया+आकृति दैवतं च (क्रिया, आकृति और दैवत के रूप में) आद्ये (प्रथम में, अर्थात् नियम्य में) त्रीणि रूपाणि स्युः (तीन रूप हैं) परे तन्त्र-यन्त्रे मनुः (दूसरे में अर्थात् नियामक में तन्त्र, यन्त्र और मनु या मन्त्र है)।

भाष्य—विश्व में नियम्य-नियामक की जो क्रमोन्नत श्रेणी है ('क' 'ख' के द्वारा नियन्त्रित है, 'ख', 'ग' के द्वारा इत्यादि) उसमें ध्यान से देखने पर दिखाई देगा कि नियम्य एवं नियामक में से प्रत्येक ही तीन रूपों वा आकारों में वर्तमान है। प्रथम अर्थात् नियम्य के तीन रूपों को साधारण भाव से कहा जाता है — क्रिया (action), आकृति (pattern) एवं दैवत (शक्ति वा power)। जैसे, आँख से देखता हूँ। देखना एक क्रिया है। जिस विशेष इन्द्रिय (organ) के द्वारा जिस एक 'निरूपित' भाव से देख रहा हूँ वह है 'आकृति'। और, जिस प्राण एवं चैतन्य शक्ति (चक्षुरभिमानी आदित्य) के द्वारा देख रहा हूँ उसे कहते हैं 'दैवत'। फिर मान लें, 'रेडियम'-जातीय किसी वस्तु के अणु स्वभावतः फटे जा रहे हैं, यहाँ विदीर्ण होना क्रिया है; अणु की आभ्यन्तरीण अथवा पारिपार्श्विक जिस विन्यासभङ्गी के फलस्वरूप यह क्रिया हो रही है, वह है आकृति, एवं जिस निरूपित आकार से (अल्फ़ा, बीटा, गामा रश्मियों की त्रिधारा के विकिरण-पूर्वक) यह हो रही है वह भी आकृति है; और, जिस 'रहस्य' शक्ति द्वारा (वाह्य ताप-चापादि की अपेक्षा न रखकर ही) यह हो रही है उसका नाम 'दैवत' है। ऐसा ही सर्वत्र है। नियम्य के जैसे तीन रूप हैं, नियामक के भी वैसे ही तीन हैं — तन्त्र, यन्त्र एवं मनु (मन्त्र)। अर्थात् जो क्रिया को नियन्त्रित करता है उसे कहते हैं तन्त्र; जो आकृति को नियन्त्रित करता है उसे कहते हैं 'यन्त्र'; और, दैवत अथवा अन्तर्निहित शक्ति को जो नियन्त्रित करता है उसे कहते हैं मनु वा मन्त्र। चाहे जिस क्षेत्र में समर्थ भाव से कुछ भी करना चाहें उन तीनों की आवश्यकता है:—कर्म का correct technique और formula (सही विधि और सूत्र नियम); उक्त नियम के सफल प्रयोग के लिए आवश्यक क्षेत्र (field), करण (instrument अथवा means) एवं पद्धति (way or method) की एक निर्दिष्ट, उपयुक्त आकृति (plane and pattern); एवं अन्त में चाहिए उपयुक्त भाव से और उपयुक्त परिमाण में शक्तियों का समूहीकरण (organisation of forces)। 'रेडियो-आइसोटोप' के साथ किसी-किसी वस्तु (जैसे हल्का यूरेनियम) के सम्पर्क में इन तीनों (तन्त्र, यन्त्र, मन्त्र) का योगायोग हम (मारण व्यापार में) कर सके हैं और इस प्रकार हमने बनाया है आणविक बम। जपादि-साधन में समर्थ भूमि के लाभ के लिए यह नियम्य-नियामक-सूत्र विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए। जप चल रहा है, किसी एक 'आकार' में चल रहा है, किसी एक 'शक्ति' में चल रहा है। किन्तु

सामर्थ्य और साफल्य के लिए इन तीनों को ही अपनी-अपनी ख़ामख़याली पर छोड़ देने से नहीं चलता। इन तीनों के ही नियामकों को अवश्य ही अनुकूल भाव से पाना होता है ॥१९॥

[अन्तर्यामिणो नियामकत्वम्]

अन्तर्यामी तु सर्वेषां नियामकोत्तमः श्रुतः।
योऽन्यते प्राण्यते तस्य प्राणस्य प्राण ईशिता ॥२०॥

अन्वय—सर्वेषां अन्तर्यामी तु नियामकोत्तमः श्रुतः (जो सबका अन्तर्यामी है उसे श्रुति में नियामकोत्तम कहा है) यः अन्यते प्राण्यते (जो कुछ स्पन्दित होता है या प्राणित होता है) तस्य प्राणस्य ईशिता प्राणः (उस सब कुछ का प्राण का प्राण वह प्रभु है)।

भाष्य—नियम्य-नियामक की शाखा-प्रशाखाओं का गहन और असीम विस्तार है! इसलिए मूल में जहां से समग्र नियन्त्रण हो रहा है, वहां आश्रय लेना ही सर्वोत्तम कल्प है। 'एषोऽन्तर्यामी पूरुषः'* ऐसा कह कर श्रुति ने इस मूल नियन्ता, नियामकोत्तम का निर्देश किया है। जपादि साधन का मुख्य लक्ष्य यही होगा कि उनमें किस प्रकार 'प्रसन्न' हुआ जाय (अर्थात् किस प्रकार उनका 'प्रसाद' मिले)। विश्व में अणु या विराट् जो कुछ भी है वह केवल स्पन्दित हो रहा है (अन्यते) अथवा यत्किञ्चित् ज्ञान-इच्छा-कृति के सहकार से स्पन्दित हो रहा है (प्राण्यते); उस सभी के प्रभु, प्राण के भी प्राण हैं वे ॥२०॥

[नियन्तव्य-तत्त्वम्]

नियन्तव्यं पृथग् ज्ञेयं नान्तर्भावान्नियामके।
नहि यन्त्र्यादिविज्ञानाद् यन्त्रादिज्ञानमूह्यते ॥
सूक्ष्मव्योमस्त्वभेदाद्धि प्राणे सर्वं समर्पितम् ॥२१॥

अन्वय—नियन्तव्यं पृथक् ज्ञेयं नियामके अन्तर्भावात् न (नियन्तव्य को पृथक् रूप से जानना चाहिए, नियामक में उसके अन्तर्भाव से नहीं) यन्त्री+आदि+विज्ञानात् यन्त्र-आदि-ज्ञानं न हि ऊह्यते (यन्त्री के विज्ञान से यन्त्र आदि का ज्ञान

---

*तुलनीय—एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥
(माण्डूक्योपनिषत् ६)—अनुवादिका।

नहीं होता) सूक्ष्मव्योम्नः तु अभेदात् हि सर्वं प्राणे समर्पितम् (सूक्ष्मव्योम के साथ अभेद-सम्बन्ध से सब कुछ प्राण में समर्पित है) ।

तथापि जो नियन्तव्य है (यथा, जप आदि का करण, यन्त्र) उसे पृथग्भाव के अच्छी तरह जानना होता है एवं जान कर ही मूल नियामक के अनुसन्धान का यत्न करना होता है। जैसे, यन्त्री को साधारण भाव से जानने पर ही उसके यन्त्र को जानना भी नहीं हो जाता, उसे अलग से जानना होता है, उसी प्रकार। अवश्य ही पूर्ण-समापत्ति के लिए जो विज्ञान है उसमें यह भेद फिर नहीं रहेगा; तब मूल के ज्ञान से ही काण्ड, शाखा, प्रशाखादि सब कुछ का ज्ञान रहेगा। तब यन्त्र-यन्त्री का ज्ञान दो वृत्तों की भांति एक दूसरे के बाहर नहीं रहता। किन्तु उसके पूर्व, एक के बीच दूसरे का अन्तर्भाव तो कहीं दिखाई नहीं दे रहा है—इस प्रकार ही अनुसन्धान करना होता है। विश्व-चक्र की नेमि एवं अरसमूह सभी एक प्राण (प्राणब्रह्म) में समर्पित हैं, एवं वह प्राण सब कुछ का नाभिनिष्ठ होकर भी सूक्ष्म-व्योम-रूप में सर्वव्यापी है। अर्थात् एकाधार में वह विन्दु एवं नाद है। इस प्राण में जब तक न पहुँचा जाय तब तक यन्त्रादि को यथासम्भव स्वतन्त्र भाव से विश्लेषणादिपूर्वक जानना आवश्यक है ॥२१॥

[भावपञ्चकम् श्लो० २२, २३]

तत्र प्रभावसम्भावौ विप्रतिपूर्वकौ च यौ।
भावावन्वादिभावश्च पञ्चैत आसते क्रमाः ॥२२॥

अन्वय—तत्र प्रभाव-सम्भावौ यौ च भावौ वि-प्रति-पूर्वकौ अनु+आदि-भावः च पञ्च एते क्रमाः आसते (नियमन-कर्म में पांच क्रम रहते हैं प्रभाव, सम्भाव विभाव, प्रतिभाव, अनुभाव) ।

भाष्य—नियामक का नियमन-कर्म पांच क्रमों से हुआ करता है (इनकी विशेष व्याख्या बाद में होगी);—प्रभाव, सम्भाव, विभाव, प्रतिभाव, अनुभाव ॥२२॥

भास्करे चाप्ययस्कान्ते सुवर्णे मकरध्वजे।
दध्यादिषु च वीजाणौ वीणायन्त्र उदाहृताः ॥२३॥

अन्वय—[एते] भास्करे अयस्कान्ते च अपि सुवर्णे मकरध्वजे बीजाणौ दध्यादिषु वीणायन्त्रे च उदाहृताः (ये प्रभावादि भास्कर में, अयस्कान्त में, सुवर्ण मकरध्वज में, दध्यादि बीजाणु में और वीणायन्त्र में उदाहृत हैं) ।

भाष्य—प्रभाव-रूप क्रम को भास्कर के उदाहरण से समझने का यत्न करें। अनुभाव क्या वस्तु है, इसे लौह के सन्निधान में अयस्कान्त (चुम्बक) के दृष्टान्त से समझने का यत्न करें। विभाव को समझें, मकरध्वज को प्रस्तुत करने में सुवर्ण की क्रिया (catalytic action) के द्वारा। सम्भाव को समझें वीजाणु द्वारा दुग्ध आदि से दध्यादि की उत्पत्ति द्वारा; एवं प्रतिभाव को समझें वीणायन्त्र में अनुरणन आदि की सृष्टि द्वारा। Direct action, influence action, catalytic action, subtle transformation action, resonance action—ये पांच क्रमशः प्रभाव, अनुभाव, विभाव, सम्भाव, प्रतिभाव हैं ॥२३॥

[ये व्यक्त, व्यक्ताव्यक्त, अव्यक्त, रूपान्तर में अभिव्यक्त, प्रतिस्पन्द में उपचित व्यक्त हैं।]

[कर्तृतापञ्चकम्]

अधिभूतं तथाऽध्यात्ममधियज्ञं च दैवतम्।
अध्यक्षरं नियन्तॄणां पञ्चाधिकृत्य कर्तृताः ॥२४॥*

अन्वय—अधिभूतं तथा अध्यात्मं अधियज्ञं दैवतं अध्यक्षरं च नियन्तॄणां पञ्च अधिकृत्य कर्तृताः (अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ, दैवत-अधिदेव, अध्यक्षर—ये पांच अधिकारानुसारी कर्तृता हैं)।

भाष्य—क्रिया की ओर से जैसे पाँच 'अधिकृत्य कर्तृता' हैं, अर्थात् पाँच अधिकारों(frame of reference, situation) में कर्तृता (कर्ता होने का भाव) है; इसलिए इस पञ्चविध कर्तृता के हिसाब से भी नियन्ता को पाँच प्रकार से देखना होगा। इनकी विशेष व्याख्या बाद में होगी ॥२४॥

[अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदेव, अध्यक्षर अर्थात् क्रिया का आधार एवं उस-उस आधार में कर्तृत्व (agency) इन पाँच प्रकार का है।]

[प्रणवस्य नियामकत्वम्]

प्रणवे पञ्चमात्रा यास्ताभिः सर्वं नियम्यते।
परत्वाच्च नियन्तॄणामोङ्कारः प्राण एव च ॥२५॥

अन्वय—प्रणवे याः पञ्च मात्राः ताभिः सर्वं नियम्यते (प्रणव में जो पाँच मात्राएँ हैं, उनके द्वारा सब कुछ का नियमन होता है) नियन्तॄणां परत्वात् च

*मूल ग्रन्थ में इस कारिका पर—२३ (क) संख्या है।

ओंकारः प्राण एव च (नियन्ताओं में से पर या श्रेष्ठ होने के कारण ओंकार प्राण ही है)।

भाष्य—जपादि के मूल में जो प्रणव है उसकी पाँचों मात्राओं से सर्वद्रव्य, सर्वगुण एवं सर्वकर्म नियमित होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। ब्रह्मवाचक ओंकार सब नियन्ताओं में श्रेष्ठ है, इसलिए ओंकार ही पूर्वोक्त प्राण है, सुतरां ओंकार (अथवा ईश्वर के नाम) का आश्रय लेकर जप करने से जो सर्व-नियामक प्राण के प्राण हैं, उन्हीं का आश्रय लेना हो जाता है ॥२५॥

[नियामक-पञ्चकम्]

जपादावनुसन्धेयाः पञ्चैते च नियामकाः।
मन्त्रं गुरुश्च देवश्च क्षेत्री छन्दः समूहतः॥
गुरोर्याऽनुग्रहाख्या चाग्रहाख्या क्षेत्रिणो धृतिः॥२६॥

अन्वय—जपादौ एते पञ्च नियामकाः अनुसन्धेयाः (जपादि में ये पाँच नियामक अनुसन्धेय हैं) मन्त्रं च गुरुः च देवः च क्षेत्री छन्दः समूहतः (मन्त्र, गुरु, देव, क्षेत्री अर्थात् जीव और छन्दः ये मिल कर पाँच नियामक हैं) गुरोः या अनुग्रहाख्या क्षेत्रिणः च आग्रहाख्या धृतिः (गुरु की अनुग्रहाख्या धारा और क्षेत्री की आग्रहाख्या धारा है)।

भाष्य—विशेष भाव से अर्थात् ईश्वर-नाम के सहयोगी भाव से विशिष्ट मन्त्र, गुरु, देवता, जीव (भगवान् की परा प्रकृति) एवं छन्दः (मधुच्छन्दः इत्यादि)—इन पाँचों को कर्म के नियामक के रूप में जानना चाहिए। इन पाँचों में से गुरुशक्ति के आश्रय से भगवान् की अनुग्रहाख्या धारा एवं जीव-प्रकृति के भीतर से आग्रहाख्या धारा (inspiration and aspiration) निःसृत होकर एक-दूसरे में मिल जाती हैं। इस मिलन के द्वारा ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-सम्वन्ध "ज्ञेत्र-ज्ञेत्रज्ञ-योग" वन जाता है ॥२६॥

[नाद-बिन्दु-कला-तत्त्वम्]

सङ्कुचत्प्रसरद्रूपा तार्तीया विश्ववृत्तिता।
नादबिन्दू यतः काष्ठेऽदिधिषति कला च या ॥२७॥

अन्वय—तार्तीया विश्ववृत्तिता सङ्कुचत्प्रसरद्रूपा (तृतीया विश्ववृत्ति संकोच-प्रसार-रूपा है) यतः नादबिन्दू काष्ठे (इस वृत्ति की दो काष्ठाएँ

या सीमाएँ हैं—नाद और विन्दु) या च कला अदिधिषति (और जो कला है वह स्थित नहीं रहना चाहती, अर्थात् वढ़ना चाहती है)।

भाष्य—पहले हमने विश्व में दो वृत्तियों या principles का परिचय पाया है—एक है सूक्ष्मता के तारतम्य की धारा एवं उसकी चरम सीमा में हैं व्योम-रूप ब्रह्म, एवं द्वितीय है नियन्तव्य-नियामक की धारा, एवं उसकी चरम सीमा में अन्तर्यामि-रूप ब्रह्म हैं। अव विश्व में एक तृतीय वृत्ति की वात कही जा रही है—यह है संकोच-प्रसार की धारा। विश्व की प्रत्येक वस्तु एक ओर क्रमशः संकुचित होती जा रही है, फिर दूसरी ओर वृद्धि पाती जा रही है। इन दोनों की सीमा कहाँ है? मान लें, एक मृत्पिण्ड है, उसको मैंने चूर्ण कर दिया। वह कितने ही धूलि-रेणुओं में परिणत हो गया। इन रेणुओं को भी यदि तोड़ते-तोड़ते चलें, तव आधुनिक विज्ञान के मत से एक सूक्ष्म वैद्युतिक शक्ति में, इलॅक्ट्रॉन में जा पहुँचेंगे। किन्तु वहीं पर क्या संकोच का अन्त है? वैसे ही विस्तार के पक्ष में भी वैसा ही प्रश्न उठता है। इन दोनों धाराओं की काष्ठा कहाँ है? संकोच होते-होते वा प्रसार होते-होते क्या किसी भूमि में विश्राम है? यदि न हो तव तो अनवस्था दोष आ जायगा: इसके अलावा श्रुति एवं अनुभूति ये दोनों ही एक विश्रान्ति-स्थान का निर्देश देती हैं। सुतरां, निश्चय ही इन दो धाराओं का विश्रान्ति-स्थल कहीं न कहीं है। वे दो हैं—नाद और विन्दु। विस्तार वा expansion की परम भूमि है नाद एवं संकोच वा condensation की चरम भूमि है विन्दु और इन दोनों के वीच में है कला—जो केवल ऋद्धि-प्राप्ति की इच्छा करती है अर्थात् infinite यानी सव सीमाएं लाँघ कर वृद्धिलाभ करना चाहती है। नाद-विन्दु के वीच एक रहस्य-सम्वन्ध है एवं उस सम्वन्ध के कारण ही कला की अभिव्यक्ति है। रहस्य यह है कि कोई भी वस्तु जैसे अपने संकोच की चरम सीमा वा विन्दु में जा पहुँचना चाहती है, वैसे ही उसमें फिर विपरीत-क्रम से विस्तार-लाभ करने की एक प्रचेष्टा भी जागती है। पक्षान्तर में, प्रसार वा विस्तार की चरम काष्ठा में जाकर पहुँचने के प्रयास में ही फिर संकुचित होने की प्रेरणा भी जागती है। नादाभिमुखी प्रयास को यदि 'धनी' (=ध) कहा जाय एवं विन्दु-अभिमुखी को यदि 'ऋणी' (=ऋ) कहें तव स्मरण रखना होगा कि सृष्टि के संकोच-विकास सभी व्यापारों में इन दोनों (ध, ऋ) का सह-अनुपात है अर्थात् कौन कितना संकुचित अथवा विस्तारित है, यह इन दोनों के अनुपात-मान पर ही निर्भर

है। जो संकोच-प्राप्त है वह विस्तार की ओर अग्रसर होता है; तब क्रिया का जो रूप होता है उसे कहते हैं 'ऋघ्' (ऋध्यति)। और, इस क्रिया का वैपरीत्य (reversing) होने पर होता है 'घृ' (घृत हो रहा है)— gathered and massed हो रहा है, ऐसा समझना होगा। 'ऋघ्' से ऋद्धि, समृद्धि; और 'घृ' से घर्म (conservation)। एक योग है, दूसरा क्षेम है। जैसे जप में प्रथम का प्राधान्य होने पर जप-स्पन्द अपने को विस्तारित करके एक महान् विश्व-जप के रूप में अपना प्रत्यक्ष करता है; और दूसरे के प्राधान्य से अपने को सूक्ष्मतर महाशक्ति-केन्द्र (nucleus) के रूप में आविष्कार करता है। एक expansive aspect है और दूसरा intensive, concentrated aspect है। जैसे जड़ के क्षेत्रमें cosmic rays एवं nuclear energy हैं।

एक वार संकोच की चरमसीमा में पहुँच कर अथवा उसकी ओर अग्रसर होकर पुनः क्रमशः विस्तार लाभ करना, फिर प्रसार की चरम सीमा में पहुँच कर अथवा उसकी ओर अग्रसर होकर क्रमशः सूक्ष्म होना — यह 'झूला' विश्व में अविराम चल रहा है। जैसे चन्द्र प्रसार की चरम सीमा पूर्णिमा में पहुँचने के साथ ही साथ फिर संकोच की ओर गति आरम्भ कर देता है। एवं वह गति बढ़ते-बढ़ते जब संकोच की चरम सीमा अमावस्या में पहुँचती है तब विपरीत विस्तारमुखी गति शुरू हो जाती है। सुतरां, नाद और विन्दु की यह जो मिथुनीभावेच्छा एवं परस्पराभिमुखी गति है, उसी के द्वारा कला की अभिव्यक्ति हुआ करती है। नाद-विन्दु की परस्पर मिथुनीभावेच्छा कीं अभिव्यक्ति कामकला है। परम राहस्यिक 'योनि-लिङ्ग' इसका प्रतीक है। इस प्रसंग में 'क्लीं' यह बीज बाद में परीक्षित होगा। कला है एक aspect वा partial element, सुतरां वह पूर्ण नहीं है। इसीलिए वह केवल ऋध्यमान है, ऋद्धि पाना चाहती है, पूर्ण होना चाहती है, किन्तु कला की यह वृद्धि फिर दो दिशाओं में है—संकोच की ओर और प्रसार की ओर negative और positive रूप से, minus और plus रूप से। कृष्णपक्ष में संकोच-मुख में कला की वृद्धि है और शुक्लपक्ष में विकास-मुख में ॥२७॥

[अर्धमात्रा-तत्त्वम्]

कलानामृध्यमानानां मात्रा या ज्यायसी स्थिता।
अर्धमात्रेति जानीयात् साऽनुच्चार्या विशेषतः ॥२८॥

अन्वय - ऋध्यमानानां कलानां या ज्यायसी मात्रा स्थिता (ऋध्यमान कलाओं की जो श्रेष्ठ मात्रा या काष्ठा है) सा अर्धमात्रा इति जानीयात् (उसे अर्धमात्रा समझना चाहिए), विशेषतः अनुच्चार्या (वह विशेषतः अनुच्चार्या है)।

भाष्य - कला की जो ऋध्यमान वा क्रमवर्धमान धारा है, उसकी जहाँ परा काष्ठा है उसे (विशेष रूप से) अर्धमात्रा समझना चाहिए; वह विशेष रूप से अनुच्चार्या है। अर्थात् पूर्वोक्त संकोच और प्रसार इन दोनों दिशाओं में कला की वृद्धि की जहाँ परिसमाप्ति है वहीं तक अर्द्धमात्रा की व्याप्ति है। सुतरां उभय धारा की समष्टि में है अर्धमात्रा। एक ओर शेष सीमा (culminating point) नाद है, दूसरी ओर विन्दु - इन दोनों सीमाओं को दो पंखों की भाँति फैला कर अर्धमात्रा स्थिता हैं ॥२८॥

[पहले पृष्ठ १४० पर अर्धमात्रा के विषय में कुछ कहा गया है; आगे और भी आलोचना होगी। मान लें, मात्रा = ऊर्मि-मान (wave-length); इसकी ऋध्यमानता (progression) दो ओर होती है - एक विस्तार की दिशा में (जैसे, long-waves), और एक संकोच की दिशा में (जैसे, short-waves)। दो दिशाओं में दो काष्ठा (limit) हैं। बीच में कतिपय ग्रामों में यह धारा व्यक्त-कला होती है, जो विशेषतः 'उच्चार्या' है। दो दिशाओं में दो काष्ठासह धारा की इस समग्र आकृति और आवेग को कहते हैं अर्धमात्रा।]

[अग्नीषोम-तत्वम्]

अग्नीषोमीयतां चास्याः साक्षात्त्वेन प्रकल्पय।
अग्नीषोमावुभौ मुख्ये प्राणे स्त आज्यकल्पितौ ॥२९॥

अन्वय—अस्याः अग्नीषोमीयतां च साक्षात्त्वेन प्रकल्पय (इस अर्धमात्रा की अग्नि और सोम के रूप में साक्षात् कल्पना करो) अग्नीषोमौ उभौ मुख्ये प्राणे आज्यकल्पितौ स्तः (अग्नि और सोम मुख्य प्राण में आज्य या आहुति के रूप में कल्पित हैं)।

भाष्य—अर्धमात्रा के इन दोनों पक्षों की फिर अग्नि और सोम के रूप में कल्पना करें—नाद की अग्नि-रूप में एवं विन्दु की सोम-रूप में। चाहे जिस वस्तु का संकोच एवं घनीभाव करते-करते अन्त में जाकर essence (सूक्ष्मतम तत्त्व) के रूप में, nuclear substance (आणविक तत्त्व) के रूप में

मिलता है सोम—जिस अमृत-विन्दु के वीच समग्र अभिव्यक्ति वा विकास की सम्भावना विधृत है। फिर विस्तार के अन्त में जाकर विश्व-व्यापी शक्ति (field-energy) के रूप में (अवश्य ही, केवल जड़शक्ति नहीं) मिलते हैं अग्नि—जो नाद के रूप में सर्वत्र ओतप्रोत हैं। फिर ये दोनों ही मुख्य प्राण में आज्य के रूप से, आहुति के रूप से कल्पित हैं अर्थात् नाद एवं विन्दु, विस्तार एवं संकोच - इन दोनों का ही उत्थान एवं अवसान होता है जाकर मुख्य प्राण में, प्राण-ब्रह्म में। ये संकोच-विकास मुख्य प्राण की ही दो मुख्य कला (phase) मात्र हैं। सुतरां इनकी उसी में आहुति देना आवश्यक है। वैसा होने पर ही कृतार्थता है ॥२९॥

[जप में मुख्य प्राण में अथवा प्राण-ब्रह्म में आहुति-कर्म अत्यावश्यक है—आग्नेय मात्रा के आधिक्य से चञ्चलता इत्यादि रजस् के लक्षणों के दिखाई देने पर भी, और सोमीय मात्रा के आधिक्य से 'शीतस्तब्धता' 'मत्तता' इत्यादि तामस लक्षणों के दिखाई देने पर भी।]

[ह्लाद्य-ह्लादक-धारा, धार्य-धारक-धारा च]

ह्लाद्यह्लादक-धाराया आरसतमवाहिता।
धार्यधारकधारायाः शेषोऽदितौ च दृश्यताम् ॥३०॥

अन्वय—ह्लाद्यह्लादकधाराया आरसतमवाहिता (ह्लाद्यह्लादक धारा आरसतम-वाहिनी है अर्थात् उसकी सीमा है रसतम) धार्यधारकधारायाः शेषः च अदितौ दृश्यतां (धार्यधारक-धारा का शेष या सीमा अदिति में देखें)।

भाष्य—जैसे संकोच-प्रसार की धारा का शेष है मुख्य प्राण में—वैसे ही फिर ह्लाद्य-ह्लादक-धारा की शेष सीमा वा काष्ठा है रसतम। वहाँ पहुंचे बिना आनन्द की पूर्णता नहीं, तृप्ति नहीं। इसीलिए आनन्द का अनुसन्धान भी उतने दिन निरन्तर चलता रहेगा। और धार्यधारक (contained and cotainer) की जो धारा है, उसकी सीमा (limit) है अदिति। इसीलिए अदिति को ही द्यौ, अदिति को ही अन्तरिक्ष, अदिति को ही माता, पिता और पुत्र कह कर श्रुति ने वर्णन किया है* ॥३०॥

[धाराणां त्रित्वं, पञ्चत्वं, सप्तत्वं वा]

पञ्च वा सप्त वा तिस्रो धारा एकत उत्सृताः।
तदेकं विद्धि वै ब्रह्म व्योमप्राणाद्युपाधिकम् ॥३१॥

* अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्—ऋग्वेद १, ८९, १०—अनुवादिका।

अन्वय—पञ्च वा सप्त वा तिस्रः धाराः एकतः उत्सृताः (तीन, पाँच या सात धाराएँ एक से ही निकली हैं) तत् एकं व्योम-प्राण-आदि-उपाधिकं ब्रह्म वै विद्धि (उस एक को व्योम, प्राण आदि उपाधियों से युक्त ब्रह्म समझना चाहिए)।

भाष्य हमने यहाँ विश्व की कुछ-एक धाराओं की चर्चा की। धारा तीन ही हों या पाँच ही हों या सात ही हों मूल में वे एक केन्द्र से ही निर्गत वा निःसृत हुई हैं। वह एक केन्द्र वा मूल है ब्रह्म—जो व्योम, प्राण प्रभृति विभिन्न उपाधियों में प्रकाशित होते हैं। गीता ने भी इन्हीं को लक्ष्य करके कहा है--'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'* ॥३१॥

[अध्यारोप-अपवाद-तत्त्वम्]

अध्यारोपापवादाभ्यां गता विशिष्यमाणता।
हानोपादानराहित्ये तच्च ब्रह्म परं स्थितम् ॥३२॥

अन्वय—अध्यारोप+अपवादाभ्यां विशिष्यमाणता गता (अध्यारोप और अपवाद से विशिष्यमाणता अर्थात् विशिष्टभाव दूर होता है) हान+उपादान-राहित्ये तत् च परं ब्रह्म स्थितं (हान-उपादान से रहित वह परब्रह्म स्थित है)।

भाष्य—ब्रह्म को प्राप्त करने अथवा ब्रह्मतत्त्व को अधिगत करने की वेदान्त-प्रसिद्ध रीति (method) है—अध्यारोप और अपवाद। सब वस्तुओं को पहले ब्रह्म में आरोपित करके ब्रह्म को उन-उन उपाधियों द्वारा युक्त करके देखने की धारा है अध्यारोप। बाद में फिर इन सब उपायों का एक-एक करके अपवाद (negation) करके ब्रह्म को सर्व उपाधिनिर्मुक्त करके देखने की धारा है अपवाद। पहली अन्वयमुखी है, 'इति'-रूपा है दूसरी व्यतिरेकमुखी है, 'नेति'-रूपा है। इस उभयधारा (method) के सहप्रयोग (combined application) के द्वारा ही सब विशिष्यमाणता वा विशिष्ट उपाधिकृत भाव दूर होने पर 'ब्रह्म' अपने स्वरूप में प्रकाशित होते हैं। किन्तु इन दो उपायों के प्रयोग से ब्रह्म का हान या उपादान नहीं होता अर्थात् अध्यारोप के द्वारा उसमें नया कुछ युक्त (added) भी नहीं होता एवं अपवाद के द्वारा उससे कुछ वियुक्त (subtracted) भी नहीं होता। उनकी इससे कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उनमें योग वा वियोग (addition वा

* श्रीमद्भगवद्गीता १५.४—अनुवादिका।

subtraction) करने के लिए कुछ भी नहीं है। वे हान-उपादान-शून्य पर-ब्रह्म हैं ।।३२।।

[ज्ञानपूर्णता-निरूपणम्]

सर्वसाहित्य-राहित्य-समेता ज्ञानपूर्णता ।।३३।।

अन्वय—ज्ञानपूर्णता सर्व-साहित्य-राहित्य-समेता (ज्ञान की पूर्णता समूचे साहित्य और राहित्य से युक्त है) ।

भाष्य:—ब्रह्म में जैसे हान-उपादान कुछ भी नहीं है, वे स्वयं पूर्ण, स्वतः नित्यपूर्ण हैं, किन्तु ज्ञान के समय वैसा नहीं है। ज्ञान तभी पूर्ण होता है जब वह साहित्य और राहित्य इन दोनों के द्वारा समेत वा युक्त होता है। अर्थात् ज्ञान को पूर्णाङ्ग बनाने के लिए प्रथम सर्व उपाधिसहित वा उपाधि के सहयोग से ब्रह्म को जानना होगा, फिर सर्व उपाधिरहित वा उपाधिनिर्मुक्त भाव से भी जानना होगा। नहीं तो ज्ञान की त्रुटि रह जायगी; एकदेशी दर्शन हो जायगा, integral vision पूर्णांग-दर्शन नहीं होगा। **'असंशयं समग्रं मां'*** को जानना नहीं होगा। इसीलिए ज्ञान की पूर्णता के सम्पादन के लिए इस अन्वय और व्यतिरेक, साहित्य और राहित्य —दोनों ओर से ही ब्रह्मानुसन्धान चलाना होगा ।।३३।।

[बुद्धेः शरण्यत्वम्]

†बुद्धौ शरणमन्विच्छ बुद्धिः सर्वावभासिका ।
महन् सूक्ष्मं परं यात्यतः स्थितिस्थापिकोत्तमा ।।
तच्छुद्धिशेषमापन्नः स्वतो वेत्ति ह्यशेषतः ।।३४।।

अन्वय—बुद्धौ शरणं अनु+इच्छ (गीता की भाषा में, बुद्धि की शरण लो) बुद्धिः सर्व+अवभासिका (बुद्धि सबका प्रकाश करने वाली है) परं महत् सूक्ष्मं याति अतः स्थितिस्थापिका+उत्तमा (बुद्धि परम सूक्ष्म वा परम व्यापक रूप धारण करती है, अतः वह उत्तमा स्थितिस्थापिका है) तत्+शुद्धि-शेषं आपन्नः हि अशेषतः स्वतः वेत्ति (उसकी परम शुद्धि को जो प्राप्त कर लेता है, वह स्वतः ही अशेष ज्ञानवान् बन जाता है) ।

---

* श्रीमद्भगवद्गीता ७ १ - अनुवादिका ।

† तुलनीयः—दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।
(श्रीमद्भगवद्गीता २.४९)—अनुवादिका ।

भाष्य–अब प्रश्न उठता है:—यह जिस पूर्ण ज्ञान की बात कही गई उस पूर्ण ज्ञान में कैसे पहुँचूँ ? इसका उत्तर है—बुद्धि की शरण लो। क्योंकि वह सर्वाविभासिका है, सब कुछ का प्रकाश कर देती है। वह जैसे एक ओर परम सूक्ष्म में प्रवेश कर सकती है, वैसे ही फिर परम महत् में भी अनायास अपना विस्तार कर सकती है, सुतरां पूरे तौर से लचीला (perfectly elastic) यदि कुछ है तो वह बुद्धि है, इसीलिए वह 'स्थितिस्थापिकोत्तमा' है, उसे चाहे जैसे ढाल सकते हैं, (mould कर सकते हैं), परम सूक्ष्म वा परम व्यापक चाहे जिस रूप में ले सकते हैं, यही अर्थात् यह बुद्धि ही मनुष्य की विशेष सम्पत्ति है। यह एक कारण ही उसे अन्य प्राणिवर्ग से पृथक् करता है एवं इसके सम्यक् अनुशीलन से वह विश्व के समस्त रहस्य से अवगत हो सकता है, एवं परिशेष में विश्वनाथ को समझ सकता है। हम आज विज्ञान का जो कुछ चमत्कार देखते हैं, वह सब ही इस बुद्धि का ही आविष्कार है, बुद्धि के ही विकास का फल है। किन्तु हमारी साधारण बुद्धि में कोई तत्त्व प्रतिभात नहीं होता—इसका कारण क्या है ? इसका कारण और कुछ नहीं—हमारी बुद्धि की अशुद्धि है। जैसे दर्पण कचरे से मैला हो जाने पर उसमें कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं होता, वैसे ही अशुद्धि से भरी जो बुद्धि है, उसमें किसी तत्त्व का भी उन्मीलन नहीं होता। जैसे दर्पण स्वभावतः स्वच्छ है, बुद्धि भी वैसे ही स्वरूपतः प्रकाशरूपा ही है, केवल आगन्तुक मालिन्यवशतः मानो उसकी प्रकाशमयता तिरोहित मात्र हो गई है। इसीलिए पातञ्जल दर्शन में कहा गया है, **'प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वम्'*** । इस मालिन्य वा अशुद्धि के क्रमशः दूर होने पर जब शुद्धि की शेष सीमा में जाकर बुद्धि अपनी परम निर्मलता और स्वच्छता को फिर पा लेती है तब समस्त तत्त्व स्वतः ही उसमें विशेष रूप से स्फुरित होते हैं अथवा प्रकाश पाते हैं। तब मानो जानने के लिए और प्रयास भी नहीं करना पड़ता। इसीलिए सर्व प्रयास से बुद्धि को शुद्ध करना और उसकी शरण लेना आवश्यक है ॥३४॥

[खण्डज्ञानस्यासामर्थ्यम्]

हिमाद्रितनुनिर्माताऽश्मरेणून् कोऽपि चाययेत्।
शिशिरशीकरैः को वा प्रपूरयेन् महाम्बुधिम् ॥ ३५॥

अन्वय—हिमाद्रि-तनु-निर्माता अश्मरेणून् अपि कः चाययेत् (कोई

* पातञ्जल योगसूत्र १.२; व्यास भाष्य—अनुवादिका।

हिमाद्रि का शरीर निर्माण करने के लिए प्रस्तर-रेणुओं का संचय कर सकता है ?) **कः वा शिशिरशीकरैः महाम्बुधिं प्रपूरयेत्** (कौन ओस-कणों से महाम्बुधि को भर सकता है ?)

भाष्य – शङ्का उठ सकती है—वहिर्विज्ञान वा 'साइंस' भी तो इस प्रकार बुद्धि की शरण लेकर तत्त्व-आविष्कार कर रहा है, तब क्या विज्ञान का पथ ही अनुसरण करने को कहा जा रहा है ? उसी से क्या परमार्थ भी मिल जायगा ? नहीं, विज्ञान के पथ से परम तत्त्व कभी नहीं मिलेगा। क्योंकि विज्ञान चला है खण्ड के पथ पर, अल्प के पथ पर, और आर्षज्ञान चला है अखण्ड के पथ पर, भूमा के पथ पर। विज्ञान केवल कह रहा है—'बाहर का यह जानो, वह जानो, विश्लेषण करते चलो'; किन्तु इस प्रकार जोड़-जोड़ कर कभी परम ज्ञान नहीं मिलता, खण्ड की समष्टि से अखण्ड नहीं बनता। प्रस्तर के रेणुओं का संचय करके कौन हिमालय का विराट् वपु तैयार करेगा ? शिशिरकणों का संग्रह करके कौन महोदधि को प्रपूरित करने जायगा ? यह सब मानो वातुल की प्रचेष्टा हैं, वैसे ही खण्ड जोड़ कर अखण्ड ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास भी नितान्त उपहासास्पद है; इसलिए प्रज्ञान की तुलना में विज्ञान की यह अपरिहार्य त्रुटि है, क्योंकि उसकी अनुसन्धान-रीति (method) ही सदोष और असम्पूर्ण (inadequate) है ॥३५॥

[बुद्धेः पारगामिता]

विशारदादिभिर्लिङ्गैः कृत्स्नेषु क्रमते च धीः।
समावृत्तावियात् पारं स्वामतीत्य स्वतः परम् ॥३६॥

अन्वय – **विशारद-आदिभिः लिङ्गैः धीः कृत्स्नेषु क्रमते** (विशारद आदि लिङ्गों से युक्त बुद्धि अर्थात् उन-उन स्तरों में विकसित बुद्धि कृत्स्न वा समस्त तत्त्वों को जान लेती है) **समावृत्तौ पारम् इयात्** ('समावृत्ति' में पहुँच कर पार हो जाती है) **स्वाम् अतीत्य स्वतः परं** (इयात्) (अपना अतिक्रमण करके अपने से पर जो तत्त्व है, उसमें पहुँच जाती है)।

भाष्य - तब फिर किस उपाय का अनुसरण करना चाहिए ! बुद्धि के मार्जन का पथ ही आश्रयणीय है। बुद्धि के जो विशारद, प्रातिभ, ऋतम्भरा प्रभृति स्तर वा भूमियाँ हैं, उन्हें क्रमशः विकसित करना आवश्यक है, इस प्रकार बुद्धि, अर्थात् जिस करण द्वारा सब कुछ जानते हैं, वह जब विशुद्ध और उज्ज्वल हो उठती है, प्रज्ञा की सप्तधा प्रान्तभूमि जब खिल उठती है तब

अनायास कृत्स्नवित् (सर्ववित्) बना जाता है; सब वस्तुओं में बुद्धि प्रविष्ट हो जाती है। पहले जिस समावृत्ति की बात कही गई है, उस समावृत्ति में जा पहुँचने पर जानने की चरम सीमा में अर्थात् ज्ञान की परम भूमि में पहुँच हो जाती है। वहाँ फिर विश्व का कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। अन्त में, समावृत्ति के भी पार जा सकने पर उस विश्वातीत निरञ्जन **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'*** को जाना जाता है। सुतरां बुद्धि को उत्तरोत्तर स्तरों में विकसित करके उसके चरम विकास में पहुँचाना एवं अन्त में उसका भी अतिक्रम करना यही यथार्थ ज्ञान-लाभ का पथ है ॥३६॥

[बुद्धेः प्रपन्नत्व–प्रार्थनम्]

अध्यारोपापवादौ त्वयि निगमयतः शुद्धनैर्गुण्यमात्रं
जन्माद्यस्यादिलिङ्गैस्त्वयि च निविशते ज्ञानशक्त्यादिकात्स्न्यम्।
सिद्धः सन्धानशेषात् त्वयि च मधुरिमा प्रेम्ण आत्यन्तिकोऽपि
कुर्या गोविन्द ! नाथाच्युतचरणदृशो नो धियस्त्वां प्रपन्नाः ॥३७॥

अन्वय—**अध्यारोप+अपवादौ त्वयि शुद्ध-नैर्गुण्य-मात्रं निगमयतः** (अध्यारोप और अपवाद तुम में शुद्ध निर्गुणता मात्र का प्रतिपादन करते हैं) **जन्माद्यस्य आदिलिङ्गैः च त्वयि ज्ञान-शक्ति-आदिकात्स्न्यं निविशते** ('जन्माद्यस्य' इत्यादि वचनों द्वारा नाना लिङ्गों या लक्षणों से तुम में ज्ञान शक्त्यादि की समग्रता रहती है, ऐसा विदित होता है) **सन्धानशेषात् च त्वयि प्रेम्णः आत्यन्तिकः अपि मधुरिमा सिद्धः** (सन्धान के शेष में तुम में प्रेम की आत्यन्तिक या निरतिशय मधुरिमा सिद्ध है) **गोविन्द ! नाथ ! त्वां प्रपन्नाः नः धियः अच्युतचरणदृशः कुर्याः** (हे गोविन्द, हे नाथ ! तुम में प्रपन्न हमारी बुद्धि को अच्युत चरण या परम पद को देखने में समर्थ बनाओ)।

भाष्य—उपसंहार में एक प्रार्थना के द्वारा वक्तव्य पूरा किया जाता है। हे भगवन् ! वेदान्त विचार की जो प्रसिद्ध रीति है अध्यारोप और अपवाद, यह तुम्हारे शुद्ध, निर्गुण, निर्विशेष रूप का प्रतिपादन करती है, सो किया करे; फिर ब्रह्मसूत्र में **'जन्माद्यस्य यतः',$** **'शास्त्रयोनित्वात्',¶** **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'†**,

---

* श्रीमद्भगवद्गीता ३।४२—अनुवादिका।

$ ब्रह्मसूत्र	१. १. २	—	अनुवादिका।
¶ ,,	१. १. ३	—	,,
† ,,	१. १. ५	—	,,

रचनानुपपत्तेर्नानुमानम्'‡ इत्यादि नाना प्रकार के लिङ्ग वा हेतु द्वारा तुम्हारे सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वान्तर्यामित्व, ज्ञानशक्त्यादि के समग्रत्व और परिपूर्णत्व को दिखाकर यह प्रतिपादन किया गया है कि तुम अशेष कल्याणगुणाकर ईश्वर हो, अर्थात् तुम्हारा सगुण रूप दिखाया गया है। वह हुआ करे। फिर परम प्रियतम वा मधुमत्तम के सन्धान के अवसान के रूप में तुम में ही निरतिशय वा आत्यन्तिक मधुरिमा भी सिद्ध हुई है, क्योंकि श्रुति में 'मधु' के सन्धान में तुम्हें ही चरम मधु के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। एवं **'तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्'**§ इत्यादि कहकर प्रेष्ठता वा सर्वापेक्षा प्रियता तुममें ही दिखाई गई है। वह भी हुआ करे—अर्थात् ये सभी तुम्हारे —निर्गुण, सगुण वा आनन्द रूप प्रतिपादित हुआ करें, किन्तु तथापि हे गोविन्द ! हे नाथ ! तुम में ही एकान्त प्रपत्तियोग से समर्पित हमारी बुद्धि को तुम्हारे अच्युतचरण अर्थात् अक्षय, अव्यय जो परम पद है, उसी में अनाकुल दृष्टियुक्त बनाओ। तुमने स्वयं ही कहा है- **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'**||; इसलिए तुम्हारे निर्विशेष, रसतम, प्रभृति रूप श्रुति-युक्ति-प्रभृति द्वारा प्रतिपादित होने पर भी तुममें एकान्त प्रपत्तियोग के बिना, शरणागति के बिना अन्य किसी उपाय से **'तद् विष्णोः परमं पदं'**× तुम्हारा वह परम पद अनुभव में नहीं आता, साक्षात् अवगत नहीं होता। अतएव तुम ही करुणा करके हमें उस परम पद के अनुभवभागी बनाओ ॥३७॥

———

‡ ब्रह्मसूत्र २. २. १ — अनुवादिका।
§ बृहदारण्यकोपनिषत् १. ४. ८ — „
|| श्रीमद्भगवद्गीता ७. १४ — „
× कठोपनिषत् ३.९—अनुवादिका।

जपसूत्रम्

परिशिष्ट

प्रथम परिशिष्ट*

विशिष्ट टिप्पणियाँ

(क) विशिष्ट नाम (अकारादि क्रम से)

१. आचार्य रामेन्द्र सुन्दर पृ० १४, ३७ (१८६४-१९१९) बंगाल के उच्च कोटि के प्रतिभा-सम्पन्न विचारक, शिक्षाविद् और साहित्यिक। हमारे ग्रन्थकार पूज्य स्वामीजी के गुरुजन-स्थानीय सहयोगी। सन् १८९९ में रिपेन कालेज, कलकत्ता में पदार्थ व रसायन-विज्ञान के प्राध्यापक पद पर नियुक्त। गम्भीर अध्येता और सफल अध्यापक। साहित्य-प्रेम आपको पारिवारिक विरासत में मिला। पत्र-पत्रिकाओं में अनेकानेक विचारपूर्ण लेख प्रकाशित। प्रमुख साहित्यिक रचनाएँ – प्रकृति (१८९६), जिज्ञासा (१९०४), बंगलक्ष्मी प्रतिकथा (१९०६), मायापुरी (१९११) कर्मकथा (१९१३), चरितकथा (१९१३), शब्दकथा (१९१७), विचित्र प्रसंग (१९१८), विचित्र जगत् (१९२०), यज्ञकथा (१९२१), नाना कथा (१९२४), जगत्कथा, (१९२६)। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ महत्त्वपूर्ण प्रबन्धों के शीर्षक – 'आमरा कि खाई' ('हम लोग क्या खाते हैं'), 'गाछेर आहार' ('पेड़ का आहार'), 'ज्योतिघर कथा' 'भाषातत्त्व', 'अलङ्कारशास्त्र प्रबन्ध' 'जड़ जगत्-विकास', वैदेशिक सम्पदा', 'सृष्टितत्त्व'।

२. एडिंगटन पृ० ६७

Eddington, Sir Arthur Stanley (१८८२–१९४४)

ब्रिटिश गणित-ज्योतिषविद् और भूतविज्ञानविद्। नक्षत्रों के विकास का मौलिक अध्ययन किया। सापेक्षता (relativity) के सिद्धान्त के सर्वप्रथम आविष्कर्ताओं में अन्यतम। भूत-विज्ञान का दर्शन से भी सम्बन्ध स्थापित किया। प्रमुख ग्रन्थ –Theory of Relativity & Its Influence on Scientific Thought (1922). The Decline of Determinism (1933). The Expanding Universe (1933). New Pathways in Science (1935). The Philosophy of Physical Science (1939).

---

* अनुवादिका द्वारा प्रस्तुत।

३. जगदीशचन्द्र वसु पृ० ७० (१८५८—१९३७)

भौतिक विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान के विशेषज्ञ। 'बोस रिसर्च इन्स्टिट्यूट', कलकत्ता, के स्थापक। वनस्पतियों के भी हृदय और स्नायुमण्डल होता है, इस आश्चर्यजनक तथ्य के विश्वविख्यात उद्घाटक। जिन्हें प्रायः जड़ समझा जाता है, उन सब में जीवन-तत्त्व के आविष्कर्ता। वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए विश्वख्याति का अर्जन करने वाले सर्वप्रथम भारतीय। प्रकाशित रचनाएँ—'Plant Response,' 'Motor Mechanism of Plants' इत्यादि।

४. जिम्स (जीन्स) पृ० ६७

Jeans, Sir James Hopwood (१८७७-१९४६) अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के ब्रिटिश विद्वान् और लेखक। मुख्य विषय गणित, भौतिक विज्ञान और गणित ज्योतिष। इन्द्रिय-गोचर जगत्, जो हमारे सामान्य अनुभव का विषय बनता है, केवल समुद्र की ऊपरी सतह की भाँति है; वास्तविक जगत् को गहन अन्तर्धारा के रूप में समझ सकते हैं, जो कि ऊपर से दिखाई नहीं देती—मुख्यतः इस विचार का प्रतिपादन किया और आधुनिक भूत-विज्ञान के सिद्धान्तों का दर्शन-शास्त्र की भाषा में सुगम शैली में प्रतिपादन किया। मुख्य प्रकाशित ग्रन्थ—The Dynamical Theory of Gases (1904), Theoretical Mechanics, (1906), Mathematical Theory of Electricity And Magnetism (1908), Problems of Cosmogeny & Stellar Dynamics (1919), The Universe Around Us (1929), The Mysterious Universe (1930), The Stars In Their Courses, (1931) The New Background of Science (1933), Through Space & Time (1934). Science & Music.

५. प्लेटो पृ० ८४ (४२९–३४७ ई० पू०)

प्रख्यात यूनानी दार्शनिक। सुकरात के प्रिय शिष्य। वास्तविक नाम Aristocles। यूनान में Athens के अभिजात वंश में जन्म। राजनीति (Statesmanship) की ओर स्वाभाविक झुकाव, किन्तु सक्रिय राजनीति में विफलता और निराशा। फलस्वरूप Academy की स्थापना। यह

विश्वविद्यालय जैसी संस्था थी, जो भविष्य के राजनैतिक नेताओं को प्रशिक्षण देती थी। दार्शनिक ही सफल शासक हो सकते हैं, ऐसा प्लेटो का विश्वास था। दर्शन (Philosophy) का अर्थ उनके अनुसार था—सूक्ष्म विचार, तत्त्व, आकृति और परमसत्ता का अनुभव करने की शक्ति। सुप्रसिद्ध ग्रन्थ Republic प्रायः संसार भर की भाषाओं में अनूदित। कथोपकथन-शैली में ही सब लेखन। कुल २१ ग्रन्थ तीन वर्गों में विभाजित किए गए हैं। सभी में कथोपकथन अथवा पत्र-संग्रह हैं। पत्र-संग्रहों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध मानी जाती है।

६. फूरियार पृ० ५६

Fourier, Jean Batiste Joseph (१७६८–१८३०) फ्रांसीसी गणितज्ञ। नेपोलियन के साथ मिश्र गए थे। मिश्र में गवर्नर पद पर नियुक्त हुए। ताप (heat) और संख्या-समीकरण (numerical equations) में विशेष कार्य। गाणितिक भौतिकी (Mathematical Physics) में विशिष्ट स्थान।

७. बंकिमचन्द्र (चट्टोपाध्याय) पृ० २७ (१८३८-१८९४)

वंगला के सुप्रसिद्ध लेखक, उपन्यासकार, 'वन्देमातरम्' मन्त्र के द्रष्टा। साहित्यिक कृतियाँ हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित। दुर्गेश-नन्दिनी, आनन्दमठ, कपालकुण्डला, देवी चौधरानी, विषवृक्ष, कृष्णकान्तेर विल, कमलाकान्तेर दफ्तर इत्यादि कथा-साहित्य एवं अनेक फुटकर कृतियाँ। राष्ट्रीय चेतना के जागरण-घोष के अपूर्व उद्घोषक और वंगला गद्य के प्रतिष्ठापकों में अन्यतम।

८. मारकोनी पृ० ३७

Marconi, Guglielmo (१८७८-१९३७)

इटली के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक। बेतार के सन्देश-प्रेषण के अग्रदूत। १९०९ में भौतिक विज्ञान में नोवल पुरस्कार प्राप्त। माता-पिता की इच्छानुसार संगीत की भी उच्च शिक्षा ली थी और अच्छे पियानो-वादक वन गए थे। मुख्य रुचि भूत-विज्ञान, रसायनशास्त्र, विशेषतः विद्युत् में थी।

९. मैक्समूलर पृ० २६

Friedrich Maximilian Muller (१८२३-१९००)

जर्मन भाषाविज्ञानवित् और प्राच्यविद्याविशारद। कवि Wilhelm Muller के पुत्र। जर्मनी में अध्ययन के वाद ऑक्सफोर्ड गए और वहीं आजीवन रहे। भाषाविज्ञान और पुराणेतिहास (Mythology) के प्रति अध्येताओं का आकर्षण उत्पन्न करने में अद्वितीय कार्य Science of Lenguage शीर्षक व्याख्यानमाला (१८६१, १८६३) द्वारा संपन्न। भाषा-विज्ञान की अपेक्षा पुराणेतिहास (Mythology) और विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में विशेष रुचि थी। ऋग्वेद का सटीक प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत। टीका में वेद का 'हार्द' यद्यपि नहीं आ पाया, फिर भी वेद के अध्ययन के प्रति शिक्षित समाज में उन्मुखता लाने की दिशा में अग्रदूत का कार्य। १८७५ से लेकर देहावसान तक Sacred Books of the East (५१ जिल्द) ग्रन्थमाला में पूर्व के विभिन्न धर्मों के ग्रन्थों के संस्करण प्रस्तुत करने में लगे रहे।

१०. मैक्सवेल पृ० १४, ३७

Maxwell, Jamesclerk (१८३१-७९)

स्कॉटलैण्ड के भौतिक वैज्ञानिक। विद्युत् चुम्बक-तरंग के गाणितिक समीकरण के व्याकर्ता। प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक के नियमों को जिन समी-करणों में निबद्ध किया, उनका परिचित नाम 'Maxwell field equati-ons' है।

११. रमेशदत्त (रमेशचन्द्र दत्त) पृ० २६ (१८४८-१९०९)

सफल प्रशासक, महान् राष्ट्रसेवी, प्रतिभा-सम्पन्न बंगला साहित्यकार। भारतीय सिविल सर्विस परीक्षा सन् १८७१ में उत्तीर्ण की। विलायत में सात वर्ष तक स्वाधीनता-आन्दोलन का नेतृत्व किया। कांग्रेस में सम्मानित स्थान प्राप्त। लन्दन विश्वविद्यालय में अवैतनिक भारतीय इतिहास-प्रवक्ता के रूप में कार्य किया। इस प्रसंग में भारतीय संस्कृति व इतिहास के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करके उसके गौरवपूर्ण पक्षों की प्रतिष्ठा बढ़ाई।

सिविल सर्विस परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण कर लेने पर आपकी नियुक्ति पुलिस कमिश्नर पद पर कलकत्ता में हुई। इस पद पर प्रायः २० वर्ष तक

सफलतापूर्वक कार्य किया। उसके कुछ वर्ष बाद वड़ौदा राज्य के दीवान के रूप में अत्यन्त सफल प्रशासक सिद्ध हुए। साहित्यिक के रूप में आपकी ख्याति केवल बंगाल तक सीमित नहीं, अपितु पूरे भारत में व्याप्त है। प्रारम्भ में अँग्रेज़ी में ही लिखते थे, किन्तु श्रीबंकिमचन्द्र की प्रेरणा से बंगला में लिखना शुरू किया। पूरे ऋग्वेद का आपने बंगला अनुवाद किया था। बंगला और अँग्रेज़ी में प्रकाशित प्रमुख ग्रन्थ: —उपन्यास—'बंग विजेता': (सन् १८७४), जीवन प्रभात (सन् १८७९), जीवन सन्ध्या (सन १८७५), 'संसार' (१८८६), समाज (१८९८) आदि; अन्य ग्रन्थ हैं—'सामवेद संहिता', हिन्दू शास्त्र -भाग १-५ (सन् १८९३-९७)। अँग्रेज़ी—'Three Years in Europe', The Literature of Bengal, 'The Peasants of Bengal', 'A History of Civilization in Ancient India—(based on Sanskrit literature), 'The Economic History of India', (from 1757-1837), London 1902, 'India in Victorian Age',—'An Economic History of the People' (1831-1900), London, 1904, 'Indian Poetry' (Selections Rendered into English Verse) London, 1905. 'The Slave Girl of Agra' (An Indian Historical Romance), London, 1904.

१२. रादरफोर्ड पृ० ६३
Rutherford, Ernest (१८७१-१९३७)

ब्रिटिश भौतिक वैज्ञानिक। १९०८ में नोबल पुरस्कार प्राप्त। रेडियो सक्रियता पर पुस्तकों और लेखों का प्रकाशन। Triple Hydrogen के आविष्कर्ता। अणु की आभ्यन्तर रचना (internal structure) पर विशेष अनुसन्धान।

१३. लाप्लास पृ० ३९
Laplace (१७४९-१८२७)

गणित ज्योतिष में अग्रगण्य नाम। फ्रेंच अकादमी के अध्यक्ष। विख्यात ग्रन्थ Mecanique Celeste (Celestial Mechanics) में नक्षत्र और समुद्र-जल की गति का निरूपण। ध्वनि-वेग (velocity of sound) का ताप से सम्बन्ध आविष्कृत।

१४. लोर्ड केल्विन् पृ० ५५, ६३
William Thomson (१८२४-१९०७)

फूरियार के ताप-सिद्धान्त का विशेष अध्ययन। Quadrant Electrometer, Atmospheric Electricity में अनुसन्धान के लिए विविध यन्त्र आविष्कृत, जहाज़ों के कम्पास में सुधार। 'केवल टेलिग्राफ' के ग्राहक यन्त्रों में सुधार आदि के आविष्कर्ता। १८९२ में 'लार्ड केल्विन' की उपाधि का ग्रहण।

१५. वाइज़मैन पृ० ५५
Weismann August (१८३४-१९१४)

जर्मन जैव-विज्ञान-वेत्ता (Biologist)। वंशानुक्रम-धारा (Heredity) और विकास (Evolution) पर विशेष अनुसन्धान। Germ-plasm (जैव कीटाणु) को शरीर के अन्य सब तत्त्वों से स्वतन्त्र सिद्ध किया। १८९२ में प्रसिद्ध ग्रन्थ 'The Germ-plasm' का प्रकाशन।

१६. व्हाइटहेड पृ० ८४
Whitehead, Alfred North (१८६१-१९४७)

वैज्ञानिक के रूप में और गाणितिक तर्कशास्त्र (Mathematical Logic) के अन्यतम स्थापक के रूप में विख्यात होने के बाद दर्शन (Philosophy) पर ही ध्यान केन्द्रित किया। प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम—Universal Algebra (1898), Mathematical Concept of the Material World (1905), Principle Mathematica (1910-13; written in collaboration with Bertrand Russell), An Enquiry Concerning the Principles of Natural Knowledge (1919), The Concept of Nature (1920), The Principle of Relativity (1922), Science and The Modern World (1925), Process And Reality (1921), Adventures of Ideas (1933), Modes of Thought (1938).

१७. स्पिनोज़ा पृ० २१०
Spinoza, Baruch or Benedict (१६३२-७७)

हॉलेण्ड के सुविख्यात दार्शनिक। युक्ति से जो बात समझ में न आए उसे सत्य न मान लिया जाय, इस धारणा के कारण परम्परागत विचारकों का

घोर विरोध सहन करना पड़ा ।१६५६ में इसी कारण समाज से बहिष्कृत, इसीलिए जन्म-भूमि एम्स्टर्डम को त्याग कर १६५९ में हेग में जा बसे और अन्त तक वहीं रहे। विचार-स्वातन्त्र्य और वाणी-स्वातन्त्र्य के प्रबल समर्थक। चश्मों के काँच बनाकर आजीविका का उपार्जन करते थे। प्रथम ग्रन्थ Tractatus Theologyco-Politicus १६७० में बिना नाम के प्रकाशित हुआ। किन्तु विचारों के स्वातन्त्र्य के कारण कैथोलिक ईसाइयों द्वारा इसका वहिष्कार किया गया। आपकी सबसे प्रसिद्ध कृति है Ethics जहाँ आपने ज्यामिति की पद्धति से सूत्र और परिभाषाएँ बनाकर विचार-सरणि उपस्थित की है। मुख्य विचार—'जगत् में एक ही परम तत्त्व है, वह अनन्त और निरवच्छिन्न है। सभी सान्त तत्त्वों का उससे उद्भव है'। उनका प्रभाव योरप में गेटे (Goethe) शेली (Shelly) आदि पर पड़ा है। भारत में कुछ लोगों ने स्पिनोज़ा के दर्शन का वेदान्त-दर्शन की तुलना में अध्ययन किया है।

१८. हक्सले पृ० १४

Thomas Henry Huxley (१८२५-९५)

विख्यात प्राणिशास्त्रज्ञ (zoologist) लेखक और वक्ता। डार्विन के विकासवाद का पल्लवन और समर्थन किया। १८८१-८५ में 'रायल सोसाइटी के अध्यक्ष रहे। मुख्य ग्रन्थ—Evidence as to Man's Place in Nature (1863), Critique And Addresses(1873), A Manual of Anatomy of Invertebrated Animals (1877), Lay Summons.

१९. हर्बर्ट् स्पेंसर पृ० ४२, ६७

Herbert Spencer (१८२०-१९०३)

ब्रिटिश दार्शनिक। कुछ दिन स्कूल में पढ़ाया। १८३७-४६ में रेलवे में काम किया। १८४२ में Non-conformist पत्र में एक लेखमाला The Proper Sphere of Government पर लिखी। १८४८ से १८५३ तक The Economist पत्र के सम्पादक रहे। १८६० में Social Statics नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें Survival of the fittest का प्रतिपादन किया। १८५० से १८६० तक कई पुस्तकें निकालीं जिनमें

समाज-शास्त्रीय और राजनैतिक विषयों पर विचार थे। किन्तु १८६० के बाद जीवन, मन और समाज पर विचार केन्द्रित किए और निम्नलिखित १० खण्डों में System of Synthetic Philosophy प्रकाशित की—1. First principles, २. Principles of Biology (दो खण्ड) ३. Principles of Psychology (२ खण्ड) ५. Principles of Sociology (३ खण्ड). ५. Principles of Ethics (दो खण्ड)।

स्पेंसर के अनुसार 'फ़िलासोफ़ी' (दर्शन) अखंड ज्ञान है, जब कि विज्ञान में अखंडता सम्भव नहीं। विज्ञान का ज्ञेय से सम्बन्ध और धर्म का अज्ञेय से। स्पेंसर के अनुसार परमोच्च तत्त्व Persistence of force ही है। समाज को स्पेंसर ने एक Organism माना जिसमें विकास के विश्वव्यापी सिद्धान्तों के अनुसार ही परिवर्तन हुआ करते हैं।

२०. हॉर्ज पृ० ३७
Hertz, Heonrich (१८५७-९४)

विद्युत्-तरंग (बाद में जिन्हें radio-waves कहा गया) और विद्युत्-शक्ति-किरण के आविष्कर्ता। कुछ दिन तक बर्लिन में हेल्महॉल्स के सहायक। Principles of Machanics महत्त्वपूर्ण प्रकाशन।

२१. हीरेन्द्र बाबू (हीरेन्द्रनाथ दत्त) पृ० २२

बंगाल के प्रख्यात विद्वान् साहित्यकार, दार्शनिक विचारक, प्रभावशाली वक्ता और राष्ट्रसेवी। आचार्य रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी के आप सहयोगी थे। बंगीय साहित्य-परिषद् में महत्त्वपूर्ण योगदान। स्वदेशी आन्दोलन के सफल नेता। विशाल साहित्य के स्रष्टा के रूप में विख्यात। 'थियोसोफिकल सोसाइटी' के सदस्य और एनीबेसेन्ट के प्रमुख सहयोगी। वकालत के पेशे में अग्रगण्य।

२२. हेल्महॉल्स पृ० ५५
Hermann Ludwig Ferdinand (Helmholtz) (१८२१-९४)

जर्मन भौतिक वैज्ञानिक। Conservation of Energy के नियम को सिद्ध किया। ध्वनि-विज्ञान में विलक्षण अनुसन्धान। 'Sansations of Tone' नामक ग्रन्थ में संगीत, ध्वनि-विज्ञान और शरीर-विज्ञान का अपूर्व

समन्वय प्रस्तुत। चक्षु परीक्षा के लिए डॉक्टरों द्वारा व्यवहृत यन्त्र 'Opthalmoscope' का आविष्कार किया।

(ख) विशिष्ट स्थल व संज्ञाएँ (प्रस्तुत खण्ड की पृष्ठ-संख्या के अनुसार)

पृ० २४—श्यामला गाय, प्रसन्न ग्वालिन, कमलाकान्त का साक्ष्य।

वंगला के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्रीवंकिम का 'कमलाकान्त' शीर्षक से एक व्यङ्ग्यात्मक निवन्ध-संग्रह है। उसमें 'कमलाकान्तेर जुवानवंदी' शीर्षक से प्रसन्न ग्वालिनी की श्यामला गाय को चोरी के मुकद्दमे में कमलाकान्त की गवाही का वर्णन है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इस लोकोक्ति पर इस वर्णन में वड़ा करारा व्यङ्ग्य है।

पृ० २९ श्वेतकेतु के आश्रम में जाते समय कपिञ्जल को किसी सिद्ध-पुरुष का शाप।

'अधुना त्वं गत्वैनं वृत्तान्तं श्वेतकेतवे निवेदय। महाप्रभावोऽसौ कदाचिदत्र प्रतिक्रियां काञ्चिदपि करोति।' अहं तु विना वयस्येन शोकावेगान्धो गीर्वाणवर्त्मनि धावन्नन्यतममतिक्रोधनं वैमानिकमलङ्घयम्। स तु मां दहन्निव रोषहुतभुजा भृकुटीकरालेन चक्षुषा निरीक्ष्याब्रवीत्—'दुरात्मन्, मिथ्यातपोवलगर्वित, यदेवमतिविस्तीर्णे गगनमार्गे त्वयाऽहमुद्दामप्रचारिणा तुरङ्गमेणापलङ्घितस्तस्मात्तुरङ्गम एव भूत्वा मर्त्यलोकेऽवतर' इति।

कादम्बरी, उत्तरभाग पृ० ५४२
निर्णयसागर संस्करण

पृ० २९—शकुन्तला को दुर्वासा का शाप।

(नेपथ्ये–)
अयमहं भोः! .... (पुनर्नेपथ्ये–)
आः! कथमतिथिं मां परिभवसि!
विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स वोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४।१

पृ० ६४—हाइज़नबर्ग समीकरण ।

Werner Heisenberg (१९०१—) जर्मन भूत-विज्ञान-वेत्ता । Quantum Mechanics (१९२५) के सिद्धान्त के आविष्कार के लिए और Allotropic Forms of Hydrogen के रहस्योद्घाटन के लिए १९३२ में आपको नोवल पुरस्कार मिला । आपके नाम से बहुत से समीकरण प्रसिद्ध हैं, जिनमें से uncertainty (अनिश्चितता) के सिद्धान्त से सम्वद्ध समीकरण सर्वाधिक प्रसिद्ध है । इस सिद्धान्त के अनुसार इलेक्ट्रॉन की गति (momentum) और position (स्थिति ?) को युगपत् नापना असम्भव है । इस समीकरण का प्रतीकात्मक रूप ऐसा है—$\Delta p \Delta x >$, $h/4\pi$, यहाँ h को Planck's Constant समझें । इस सिद्धान्त का विज्ञान के दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा । जर्मनी के अनेक विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक रहे और भूत-विज्ञान-सम्वन्धी संस्थानों के संचालक भी । 'Physics and Philosophy' (१९५८) नामक ग्रन्थ आणविक विज्ञान में महत्त्वपूर्ण है ।

पृ० ७८—अरबी उपन्यास, सिद्धवाद वणिक्, बूढ़ा शैतान ।

Arabian Nights (अरवी भाषा में '१००१ रातें' शीर्षक कथा-ग्रन्थ) में सिन्दबाद मल्लाह की कहानी का विशिष्ट स्थान है । सिन्दबाद वग़दाद का एक धनी युवक था । अपना सब धन रंगरेलियों में नष्ट करके वह धनोपार्जन के लिए समुद्र-यात्रा पर निकला । उसकी अनेक यात्राओं का वर्णन है । एक यात्रा में उसे एक वृद्ध व्यक्ति (old man of the sea) मिला, जिसने चलने में असमर्थता प्रकट करते हुए सिन्दवाद से अनुरोध किया कि वह उसे कन्धों पर बैठाकर ले चले । सिन्दबाद ने जैसे ही उसे अपने कन्धे पर चढ़ाया, उसने अपने दोनों पैरों से उसका गला पकड़ लिया और उसे सदा इसी प्रकार ले चलने के लिए बाध्य किया । सिन्दबाद ने अनेक प्रयत्न किए, किन्तु उसे हिला भी न सका । अन्त में उसे खूब मदिरा पिलाकर बेहोश करके ही वह उसे अपने गले से छुड़ा सका और उसकी हत्या करके आगे बढ़ा ।

पृ० ८४—क्रोमोसोम नम्बर ।

प्रत्येक जैव जाति (Species) के somatic cells की नियत संख्या होती है, जिसे क्रोमोसोम नम्बर कहते हैं । उदाहरणार्थ, मनुष्य में यह संख्या ४८, घर की मक्खियों में १२, केचुओं में ३२ और घोड़ों में ६० मानी गई है ।

पृ० ८४—एटोमिक नम्बर।

अणु के अन्तर्गत प्रोटॉन और न्यूट्रॉन का विश्लेषण करते समय 'एटोमिक नम्बर' और mass numbers (मास नम्वर्स) की भाषा का उपयोग करते हैं। 'एटोमिक नम्बर' यह वताता है कि अणु में कितने प्रोटॉन (अथवा इलक्ट्रॉन) हैं। 'मास नम्बर' यह वताता है कि उनमें से कितने प्रोटॉन हैं और कितने न्यूट्रॉन हैं, क्योंकि न्यूट्रॉन की संख्या न्यूनाधिक भी हो सकती है।

पृ० ९८--श्रद्धा के ६ कल्प।

जपसूत्रम् के छठे भाग (पृ० ३१६–२०) में इनका वर्णन है। प्रथम कल्प का नाम है सौवस्तिक—'है या नहीं, नास्त्यस्तीति' यह विकल्प इसमें रहता है, तथापि साधना द्वारा फललाभ हो सकता है, इस विश्वास और घृति का आश्रय लेकर साधक परीक्षा में प्रवृत्त होता है। इस प्रथम कल्प को आनुमानिक भी कह सकते हैं क्योंकि इसमें ऐसा विचार रहता है कि और लोगों ने जब परीक्षा करके फल पाया है तब मैं भी परीक्षा के द्वारा अर्थात् गुरु, शास्त्र एवं महाजनों के पदचिह्नों का अनुसरण करके सफल हो सकता हूं। इस प्रथम कल्प को आतिदेशिक भी कह सकते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के विश्वास का एक-एक देश अथवा स्थान होता है। इस प्रथम कल्प में विश्वास को उस देश का अतिक्रमण कराके अन्यत्र (अर्थात् गुरु, शास्त्र एवं महाजन के वाक्य में) ले जाने का यत्न रहता है। इस प्रकार विश्वास के अपने व्यवहार्य देश से उसे छुड़ाकर अन्य देश में ले जाना यह आतिदेशिक संज्ञा का अर्थ है।

दूसरा कल्प है आभ्यासिक। यहाँ घृति के साथ अभ्यास-योग का आश्रय लेना पड़ता है। अभ्यास के फलस्वरूप साधन-संस्कार जितना दृढ़ होता चलता है, उतने ही परिमाण में साधन के मूल में जो श्रद्धा है, वह भी दृढ़ होती रहती है।

तृतीय कल्प है आनुशासनिक। अभ्यासयोग के द्वारा इस भूमि में उपनीत होने पर फिर जो अनुशासन अथवा शिष्ट विधि है उससे रंचमात्र भी भ्रंश या विच्युति नहीं हो सकती। इस भूमि में श्रद्धा नैष्ठिकी हो जाती है।

ये प्रथम तीन कल्प घृतिमार्ग के साधन हैं। शेष तीन कल्प मतिमार्ग के साधन हैं। इन तीनों में से पहला कल्प है, आनुश्रविक। इस भूमि पर आकर केवल शासन नहीं, अपितु अनुश्रवण की सहायता साधक को मिलती है। तब फिर केवल बाहर का आदेश नहीं, परन्तु अपने अन्तर की वाणी साधक सुन

पाता है। यहाँ पहुँचने पर साधक का जपादि साधन वास्तव में आभ्युदयिक एवं मांगलिक हो जाता है।

इसके बाद का कल्प है आधिकारिक। इस भूमि पर आकर साधक अपने स्वाधिकार में प्रतिष्ठित हुआ। उसे आप्त पदवी मिल गई।

अन्तिम भूमि है आनपायिक। इस चरम भूमि में उपनीत होने पर फिर अपाय का भय नहीं रहता।

पृ० १०२—माण्डूक्यकारिका (अस्पर्शयोग)

शंकराचार्य के परमगुरु गौडपादाचार्य-रचित। अस्पर्शयोग-संबन्धी कारिका इस प्रकार है :—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति यस्मादभये भयदर्शिनः ॥३।३९॥

पृ० १०९—श्रीवास अंगन में महाप्रभु के कीर्तन-रस में बाधा।

श्रीचैतन्य-भागवत में वर्णन है कि श्रीवास अंगन में जब महाप्रभु श्रीचैतन्य अपनी अन्तरंग भक्तमण्डली के साथ कीर्तन करते थे तब यदि कोई बहिरंग व्यक्ति छिप कर भी उस अंगन में आ जाता था तो कीर्तन-रस में बाधा के अनभव से ही श्रीमहाप्रभु उसकी उपस्थिति जान जाते थे।

उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं :—

एकदिन नाचे प्रभु श्रीवासेर बाड़ी।
घरे छिलो लुकाइया श्रीवास-शाशुड़ी ॥४॥
नाचिते नाचिते प्रभु बले घने घन।
"उल्लास आमार आजि नहे कि कारण" ॥७॥
पुनः पुनः नाचि' बले,—"सुख नाहि पाई।
केहो वा लुकाइया आछे कोनो ठाइं" ॥९॥
सर्व बाड़ी विचार करिला जने जने।
श्रीवास चाहिला घर-सकल आपने ॥१०॥
"भिन्न केहो नाहि" बलि' करये कीर्तन।
उल्लास न बाड़े प्रभु श्रीशचीनन्दन ॥११॥

आरबार हरि' बले,—"सुख नाहि पाइ।
आजि वा आमारे कृष्ण अनुग्रह नाइ" ॥१२॥
(श्रीचैतन्य-भागवत २. १६)

पृ० १९७ गीतोक्त द्वादश यज्ञ।

श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय ४) में विविध यज्ञों का वर्णन है, जिसमें से द्वादश यज्ञ को इस प्रकार समझा जा सकता है--१. देवपूजनयज्ञ २. ब्रह्माग्नि-यज्ञ ३. संयमाग्नियज्ञ ४. इन्द्रियाग्नियज्ञ ५. आत्मसंयमयोगाग्नियज्ञ ६. द्रव्ययज्ञ ७. तपोयज्ञ ८. योगयज्ञ ९. स्वाध्यायज्ञानयज्ञ १०. प्राणापानयज्ञ ११. अपान-प्राणयज्ञ १२. प्राणयज्ञ।

———

द्वितीय परिशिष्ट

(अनुवादिका द्वारा प्रस्तुत)

विशिष्ट शब्दानुक्रमणी

[अनुक्रमणी में अङ्क पृष्ठ-संख्या के सूचक हैं। ग्रन्थकार की भूमिका (पृ० १-१२८) और मूल ग्रन्थ की 'अवतरणिका' (पृ० १३१-२६३) में से यह अनुक्रमणी बनाई गई है। 'अवतरणिका' में मूल श्लोक और अन्वय को छोड़ कर केवल भाष्य में से ही शब्दों का चयन किया गया है, क्योंकि सभी शब्दों का भाष्य में समावेश है।]

अ

आ

इ

ई

उ

ऋ

ए

ऐ

ओ

क

ख

ग

छ

ज

द

ध

न

प

फ

ब

भ

य

र

व

श

———

तृतीय परिशिष्ट

(मूल प्रथम खण्ड से उद्धृत)

चित्रद्वय

(प्रस्तुत खण्ड के पृष्ठ २६, ५० के सन्दर्भ में)

चित्र सं० १
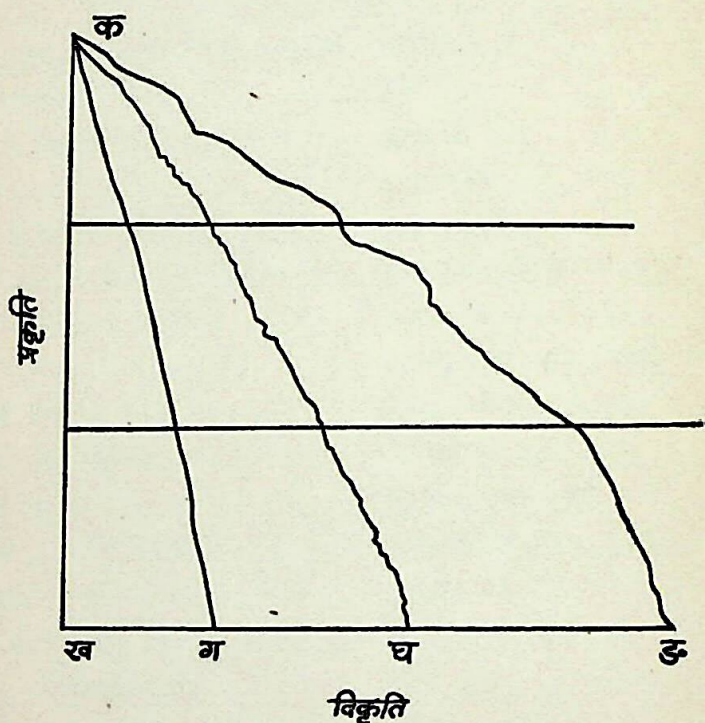
द्रष्टव्य :—'कख' = प्रकृति-निर्देशक सरल रेखा। 'कग' रेखा में विकृतिलेश के कारण अल्प वक्रता आ गई है। 'कघ', 'कङ' इत्यादि में विकृति का आधिक्य है, सुतरां वक्रता, कुटिलता का भी आधिक्य है।

चित्र सं० २
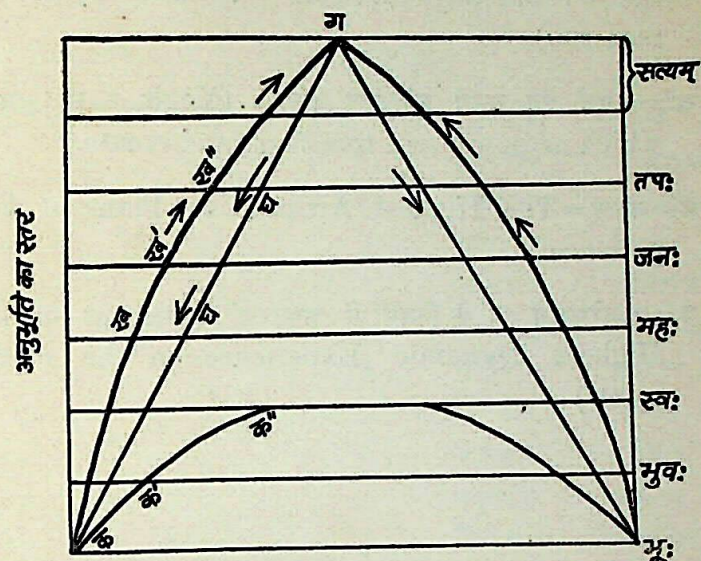
क=साधारण अनुभूति (normal experience)

द्रष्टव्य :—क="यह"—रूप में गोचर साधारण अनुभूति (normal experience).

क'="न-यह-न-वह"—रूप में जो गोचर साधारण अनुभूति को अपनी अभिव्यक्ति का अवकाश देता है (medium of sub-conscious mind).

क"="वह"—रूप में जो साधारण अनुभूति के मूल में रहता है, उसका मौलिक आकृति-रूप (basic pattern)—(root or ground consciousness).

ख=गोचर साधारण अनुभूति का जो "अतिग" होता है, अथच उसके साथ आनुरूप्य की रक्षा करता है। (yogic experience which transcends the habitual limitations of normalcy, yetgenerally *conforms* to its objects).

ख′="ख" का 'जनि'-रूप (Yogic experience which goes to the root of things and can, therefore, *inform* its material).

ख″=समृद्ध एवं समर्थ शक्तिरूप (तपः) (Yogic experience which as power can *transform* and create.

ग=सत्यम्=The Highest Altitude or Plane of Experience.

घ=ऋजुरेखा में 'ग' के नियमों में 'अवतरण' (Descent of the Highest Dynamic Experience on the planes below).

शुद्धि-पत्र

१. 'पूर्वपीठिका'

पृष्ठ	पङ्क्ति ऊपर से नीचे	नीचे से ऊपर	अशुद्ध	शुद्ध
१०		९	परिचायक	परिचारक
१५		११	अनाधिकार	अनधिकार
३२	७		विश्व	विश्वा
३२		२, ३	अभिन्न से	अभिन्न रूप से
३४	१४		अनुषङ्गिक	आनुषङ्गिक
३६		१२	सर्वोच्च···	सर्वोच्च···
"		"	उस्थित	उत्थित
३९		३	अर्धचक्र	अर्धचन्द्र
४०	८		चतुर्विधि	चतुर्विध
५२	२		सिद्ध-प्राप्त	सिद्धि-प्राप्त

२. 'भूमिका' और 'अवतरणिका'

पृष्ठ	पंक्ति ऊपर से नीचे	नीचे से ऊपर	अशुद्ध	शुद्ध
९		१३	परिमाण भले	परिमाण में भले
२९		३	dynanic	dynamic
३३		१	बीजयन्त्र	बीजमन्त्र
६९		२	शक्तियन्त्र	शक्तिमन्त्र
७२		५	विराट्	विराट
७५	२		सूक्ष्मतिसूक्ष्म	सूक्ष्मातिसूक्ष्म
७८		२	सूक्ष्म रह परे स्थूल रहने सकता है।	सूक्ष्म रहने पर स्थूल रह सकता है।
८१		१३	विश्व के प्राण, शृङ्खला	विश्व की प्राण-शृङ्खला
९८	९		प्रबल होंगे	प्रबल होगी
९९		१०, ११	मन्त्र	यन्त्र
१०८	१२		(मन्त्र)	(यन्त्र)

११०	१		युक्त	मुक्त
१११	११		(सामान्य के उच्च)	(सामान्य से उच्च)
१७४		१४	प्रास	प्राण
१३१		३	मनोमय एवं आनन्दमय	मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय
१७४		६,७	घनप्रज्ञा	घनप्रज्ञ
१७५		१२	श्लोक ६७ का अन्वय छूट गया है*	
१७६		३	(अभिमुखता का प्रश्न नहीं उठ पाता)	(अभिमुखता का) न प्रसज्येत (प्रश्न नहीं उठ पाता)
१८८	४		रूप ने	रूप में
२०४		२	अघ्यवधान	अव्यवधान
२३९	१५		यथि	मयि
२५३		६	ज्ञेत्र ज्ञेत्रज्ञ	क्षेत्र क्षंत्रज्ञ

---

*यतः आत्मानम् अधिकृत्य च भावः अतः च स्वभावता (आत्मा पर अधिकार करके जो भाव रहता है, वह स्वभाव है) हि ब्रह्ममुखीनता आविः सर्गाभिमुखता क्षपा (अपरोक्ष भाव से पदार्थों का प्रतिभात होना 'आविः' है, नामरूपात्मा सृष्टि के रूप में उनका प्रकाशित होना 'क्षपा' है)।

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती जी का जपसूत्र बंगला मूल में मैंने पढ़ा है। स्वामीजी ने अत्यन्त गूढ़ रहस्यों को आज-कल की विज्ञान-प्रभावित पीढ़ी की समझ में आने योग्य भाषा में लिखा है। पुस्तक पढ़ने से जहाँ पाठक को विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त होता है वहीं पूर्वजों की सूक्ष्म-दर्शिनी दृष्टि पर आस्था भी उत्पन्न होती है। मेरे मन में कई बार यह बात आई थी कि इस ग्रन्थ का हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए। इस बार काशी आने पर जब मुझे मालूम हुआ कि बहन (डॉ०) प्रेमलता शर्मा ने न केवल इसका हिन्दी अनुवाद समाप्त कर लिया है बल्कि पुस्तक प्रेस में भी चली गई है तो मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। प्रेमलताजी संस्कृत साहित्य और संगीत-विद्या की निपुण विदुषी हैं। शास्त्रों पर उनकी अगाध श्रद्धा है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अनुवाद के लिए उपयुक्त अधिकारिणी हैं। मैंने अनुवाद के कुछ छपे पृष्ठ देखे हैं। इसकी भाषा सुन्दर, परिमार्जित और बोधगम्य है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी में स्वागत होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

वाराणसी   हजारी प्रसाद द्विवेदी

१४–६–६६

हमारे आगामी प्रकाशन

महामहोपाध्याय डॉ० श्री गोपीनाथ कविराज की दो अमूल्य कृतियां

१. साधुदर्शन और सत्प्रसङ्ग

(दो खण्ड)

स्वनामधन्य श्री कविराज जी का अनेक साधु-सन्त, साधक-सिद्ध महापुरुषों से सुदीर्घ सम्पर्क रहा है। आपने अपनी दैनन्दिनी में उक्त सम्पर्क के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को वार्तालाप, घटना-क्रम आदि के संस्मरणों के रूप में लिपिबद्ध किया है। इन्हीं संस्मरणों में से कुछ चुने हुए अंश 'साधुदर्शन ओ सत्प्रसङ्ग' शीर्षक से बंगला में दो जिल्दों में प्रकाशित हो चुके हैं। इनका हिन्दी अनुवाद पहली बार प्रकाशित होने वाला है। विभिन्न साधना-मार्गों के पथिकों से प्रत्यक्ष सम्पर्क का यह विवरण अत्यन्त रोचक और ज्ञानप्रद है। महामहोपाध्यायजी जैसे अधिकारी मनीषी की लेखनी से प्रस्तुत होने के कारण इसका मूल्य अद्वितीय है।

२. श्रीकृष्णप्रसङ्ग

इसका परिचयात्मक विवरण ऊपर लिखे प्रकाशन में दिया जाएगा।